MASO-04

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

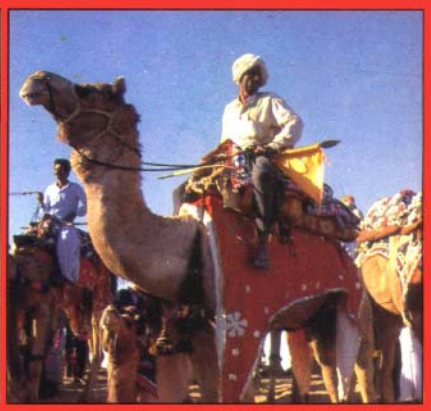

ग्रामीण समाज शास्त्र

MASO-04

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

ग्रामीण समाज शास्त्र

पाठ्यक्रम निर्माण समिति

अध्यक्ष

प्रो. (डॉ.) नरेश दाधीच
कुलपति
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा (राजस्थान)

संयोजक समन्वयक एवं सदस्य

संयोजक

डॉ. जे. के.शर्मा
सहायक आचार्य. अर्थशास्त्र
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

सदस्य

1. **प्रो. के.एल.शर्मा**
   सेवानिवृत आचार्य, समाजशास्त्र विभाग
   जवाहरलाल नहेरु विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
2. **डा. आई. पी. मोदी**
   सेवानिवृत सह-आचार्य, समाजशास्त्र विभाग
   राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
3. **डा. (श्रीमती) रीता दाधिच**
   सहायक आचार्य, समाजशास्त्र
   वैदिक कन्या पी.जी. महावी
4. **डा. अलका शर्मा**
   सहायक आचार्य,, समाजशास्त्र
   राजकीय पीजी महाविद्यालय, दौसा
5. **प्रो. यू. आर. नाहर**
   आचार्य समाजशास्त्र
   जे. एन. वि. विश्वविद्यालय, जोधपुर
6. **डा. एस. एल. दोषी**
   सेवानिवृत सह-आचार्य, समाजशास्त्र विभाग
   मो. ला. सु. विश्वविद्यालय, उदयपुर
7. **प्रो.बी. के. नागला**
   सेवानिवृत आचार्य, समाजशास्त्र विभाग
   म. द. विश्वविद्यालय, रोहतक

संपादन तथा पाठ लेखन

संपादन

डा. एस.एल. दोषी
सेवानिवृत सह-आचार्य, समाजशास्त्र विभाग
मो. ला. सु. विश्वविद्यालय, उदयपुर

लेखन

डा. एस. सी. राजौरा (1)
सहायक-आचार्य, समाजशास्त्र
महाराणा प्रताप राजकीय महाविद्यालय, छितौड़गढ़

डा. पी. सी. जैन (3,10,11)
सह-आचार्य, समाजशास्त्र विभाग
मा. ला.व. श्रमजीवी महाविद्यालय, उदयपुर

डा. वर्षा शर्मा (5,8,21)
सहायक आचार्य, समाजशास्त्र
कनोड़िया महाविद्यालय, जयपुर

प्रो. सी. एल. शर्मा (9)
सेवानिवृत सह-आचार्य, समाजशास्त्र विभाग
मो. ला. सु. विश्वविद्यालय, उदयपुर

डा. एस. के. मिश्रा (16,17,18,19,20)
सहायक आचार्य, समाजशास्त्र विभाग
मा. ला.व. श्रमजीवी महाविद्यालय उदयपुर

डा. एच. एस. वर्डिया (2)
सहायक आचार्य, समाजशास्त्र
मीरा कन्या महाविद्यालय, उदयपुर

डा. एस. एल.शर्मा (4,6,12)
सह-आचार्य, समाजशास्त्र विभाग
मा.ला.व.श्रमजीवी महाविद्यालय उदयपुर

डा. एन.के. भार्गव (7,13,15)
सेवानिवृत सह-आचार्य, समाजशास्त्र विभाग
मो. ला. सु. विश्वविद्यालय, उदयपुर

डा. बलवीर सिंह (14)
सह-आचार्य, समाजशास्त्र विभाग
मो. ला. सु. विश्वविद्यालय, उदयपुर

अकादमिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था

प्रो.(डॉ.) नरेश दाधीच	**प्रो. (डॉ.) बी..के. शर्मा**	**योगेन्द्र गोयल**
कुलपति	निदेशक	प्रभारी अधिकारी
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय,कोटा	**अकादमिक**	**पाठ्य सामग्री उत्पादन एवं वितरण विभाग**

पाठ्यक्रम उत्पादन

योगेन्द्र गोयल

सहायक उत्पादन अधिकारी,

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

पुनः उत्पादन : अक्टूबर, 2012 ISBN : 13/978-81-8496-357-1

इस सामग्री के किसी भी अंश को व. म. खु. वि., कोटा की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप मे 'मिमियोग्राफी' (चक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यत्र पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है। **व. म. खु. वि., कोटा के लिये कुलसचिव व. म. खु. वि., कोटा (राज.) द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।**

MASO-04

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

अनुक्रमणिका

इकाई व इकाई का नाम		पृष्ठ संख्या
खण्ड I	**मूलभूत अवधारणाएँ**	
इकाई 1	ग्रामीण समाजशास्त्र : अर्थ, अध्यन क्षेत्र एवं विषय वस्तु	7–20
इकाई 2	ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था : परिवार, नातेदारी एवं जाति	21–34
इकाई 3	कृषक समाज एवं लघु समुदाय	35–49
इकाई 4	सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाएं	50–62
इकाई 5	संस्कृतिकरण	63–74
खण्ड II	**कृषक वर्ग संरचना**	
इकाई 6	ग्रामीण समाज - परम्परा एवं आधुनिकता	75–83
इकाई 7	ग्रामीण शक्ति संरचना	84–95
इकाई 8	ग्रामीण भारत में धर्म	96–103
इकाई 9	जजमानी व्यवस्था	104–111
इकाई 10	भारत में कृषक आन्दोलन	112–133
इकाई 11	कृषक वर्ग संरचना : उत्पादन की पद्धति और कृषक संबंध	134–147
इकाई 12	ग्रामीण भारत में भूमि सुधार	148–156
खण्ड III	**ग्रामीण समस्याएँ, आन्दोलन एवं विकास**	
इकाई 13	भूमिहीन श्रमिक, प्रवासी श्रमिक तथा विकिसानीकरण	157–168
इकाई 14	ग्रामीण भारत में सामाजिक समस्याएँ : गरीबी एवं बेरोजगारी	169–176
इकाई 15	वैश्वीकरण तथा ग्रामीण समाज	177–185
इकाई 16	सामूदायिक विकास कार्यक्रम	186–191
इकाई 17	सहकारिता आन्दोलन	192–197
इकाई 18	पंचायती राज व्यवस्था	198–203
इकाई 19	ग्रामीण विकास में गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका	204–208
इकाई 20	ग्रामीण विकास में वित्तीय संस्थाओं की भूमिका	209–215
इकाई 21	हरित क्रान्ति व सामाजिक परिवर्तन	216–228

इकाई 1

ग्रामीण समाजशास्त्र : अर्थ, अध्ययन क्षेत्र एवं विषयवस्तु

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 ग्रामीण समाजशास्त्र की उत्पत्ति एवम् विकास

1.2.1 अमेरिका में ग्रामीण समाजशास्त्र

1.2.2 भारत में ग्रामीण समाजशास्त्र

1.3 ग्रामीण समाजशास्त्र का अर्थ और परिभाषा

1.4 ग्रामीण समाजशास्त्र की आधारभूत विशेषताएं

1.5 ग्रामीण समाजशास्त्र का अध्ययन क्षेत्र

1.5.1 जनसंख्या

1.5.2 ग्रामीण सामाजिक जीवन

1.5.3 सामाजिक संगठन एवम् संरचना

1.5.4 सामाजिक प्रक्रियाएँ

1.5.5 ग्रामीण समस्याएँ

1.5.6 ग्रामीण संस्थाएँ

1.5.7 ग्रामीण समुदाय

1.5.8 ग्रामीण नगरीय अन्तर्विरोध

1.5.9 ग्रामीण नियोजन एवम् पुनर्निर्माण

1.5.10 नेल्सन के विचार

1.5.11 ए. आर. देसाई का दृष्टिकोण

1.5.12 बदलता ग्रामीण समाज

1.6 ग्रामीण समाजशास्त्र की विषयवस्तु

1.6.1 ग्रामीण समाजशास्त्र की विषयवस्तु के मुख्य बिन्दु

1.7 सारांश

1.8 शब्दावली

1.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1.10 सन्दर्भ ग्रंथ

1.0 उद्देश्य

इस के इकाई के अध्ययन पश्चात आप -

- ग्रामीण समाजशास्त्र को विकसित करने की आवश्यकता क्यों हुई यह समझ सकेंगे

- समाज वैज्ञानिकों ने ग्रामीण समाजशास्त्र को किस प्रकार से परिभाषित किया है या जान सकेंगे।
- ग्रामीण समाजशास्त्र के अन्तर्गत किन-किन पहलुओं का अध्ययन किया जाता है यह समझ सकेंगे।
- बदलते परिवेश में ग्रामीण समाजशास्त्र के अध्ययन के क्षेत्र में और किन पक्षों को सम्मिलित किया जा रहा है इसकी विवेचना कर सकेंगे।
- ग्रामीण समाजशास्त्र की विषयवस्तु के वारे में जान सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

यदि हम मोटे रूप में समुदाय का वर्गीकरण करें तो तीन श्रेणियां देखी जा सकती हैं प्रथम आदिम एवम् जनजातीय समुदाय, द्वितीय ग्रामीण समुदाय और तृतीय नगरीय समुदाय। तीनों ही समुदायों की अलग से पहचान की जा सकती है। इनकी विशेषताओं को बता सकते है, इनके संरचनात्मक पक्षों की विवेचना की जा सकती है। अब हम बात करें तीनों समुदायों का मोटे रूप से अध्ययन करने वाले समाज विज्ञानों की तो हम कह सकते हैं कि सामाजिक मानव शास्त्र विशेष रूप से आदिम एवम् जनजातीय समुदाय का अध्ययन करता है। इसी प्रकार ग्रामीण समाजशास्त्र भी मुख्य रूप से ग्रामीण समुदाय का अध्ययन करता है और नगरीय समुदाय एवं मोटे रूप में ही वृहद समाज का अध्ययन समाजशास्त्र द्वारा किया जाता है। जब हम समाजशास्त्र की चर्चा करते हैं तो इसके अन्तर्गत समस्त समाज के विभिन्न पक्ष सम्मिलित हैं। अर्थात ग्रामीण समाजशास्त्र तो केवल एक शाखा है। इसे समाजशास्त्र का ही भाग कहेंगे। प्रश्न यह उठता है कि जब समाजशास्त्र सम्पूर्ण समाज का अध्ययन करने के लिए पर्याप्त था तो फिर ग्रामीण समाजशास्त्र की आवश्यकता क्यों हुई? तर्क यह है कि ग्रामीण समस्याओं के समाधान हेतु संतोषप्रद रणनीति किसी अन्य समाजविज्ञान द्वारा नहीं बन पाई थी। फलस्वरूप ग्रामीण समाजशास्त्र नाम से एक अलग समाज विज्ञान का जन्म हुआ जो कि ग्रामीण समाज का गंभीरता से अध्ययन कर सके। वैज्ञानिक विचारधारा में यह एक आम बात है कि किसी भी नये विज्ञान का उद्भव उन परिस्थितियों के परिणाम स्वरूप होता है। जब प्रचलित विज्ञान द्वारा किसी प्रघटना के बारे में संतोषप्रद समझ विकसित नहीं हो सके। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ग्रामीण समाजशास्त्र का जन्म ग्रामीण सामाजिक संरचना को पूर्ण रूप से समझकर संबंधित समस्याओं का समाधान करने के लिए हुआ था। ग्रामीण समाजशास्त्र को परिभाषित करने पर हम इसके वारे में पूर्ण जानकारी प्राप्त कर लेंगे साथ ही हमें यह भी ज्ञात हो जायेगा कि ग्रामीण समाज के प्रत्येक तत्व का गहन अध्ययन करने वाली विधा ग्रामीण समाजशास्त्र है।

1.2 ग्रामीण समाजशास्त्र की उत्पत्ति एवम् विकास

एक व्यवस्थित विज्ञान के रूप में ग्रामीण समाजशास्त्र नई विधा है। इसका अर्थ यह नहीं है कि ग्रामीण समाजशास्त्र की उत्पत्ति से पूर्व ग्रामीण समुदाय के बारे में जानकारी देने वाला कोई विषय नहीं था। हम जानते हैं कि मानव समाज की उत्पत्ति के साथ ही मनुष्य ने अपने स्वयं के बारे में एवम् अपने आस-पास के वातावरण, परिवेश के बारे में रूचि लेना प्रारम्भ

कर दिया था। समय के साथ जटिलताओं और विशेषीकरण बढ़ते रहे। ग्रामीण समाजशास्त्र भी समाज की बढ़ती जटिलताओं और विशेषीकरण के प्रभाव से उत्पन्न हुआ।

1.2.1 **अमेरिका में ग्रामीण समाजशास्त्र** -

एक व्यवस्थित विज्ञान के रूप में ग्रामीण समाजशास्त्र का विकास व 19 वी शताब्दी के मध्य में प्रारम्भ हुआ। इसका जन्म अमेरिका में हुआ इसके जन्म के पीछे कुछ महत्वपूर्ण परिस्थितियां उत्तरदायी थी। अमेरिका में 1890 से 1020 की अवधि में ग्रामीण समाज पतन की दशा में था। भयंकर समस्याएं उत्पन्न हो गई थी। भूस्वामी की जमीन पर खेती करने वाले काश्तकारों के पास कोई अधिकार नहीं थे। काश्तकारों का जीवन कष्टमय हो गया। सिम्स ने लिखा है कि रह अवधि ग्रामीण सामाजिक पतन की थी। अनेक ग्रामीण नगरों की और चले गये। अनाज का उत्पादन कम होने लगा। सरकार का ध्यान ऐसी ग्रामीण समस्याओं की और गया। ग्रामीण सामाजिक जीवन के बारे में अनेक रिपोर्ट प्रकाशित होने लगी। अमेरिका में ग्रामीण सामाजिक जीवन की दशाओं और समस्याओं का व्यवस्थित अध्ययन करने के लिए ग्रामीण समाजशास्त्र का जन्म हुआ जिस प्रकार सामान्य सामाजिक समस्याओं के कारण सामान्य समाजशास्त्र का जन्म हुआ था उसी प्रकार ग्रामीण जीवन की समस्याओं के कारण ग्रामीण समाजशास्त्र की उत्पत्ति हुई

अमेरिका में ग्रामीण समाजशास्त्र के विकास को व्यवस्थित रूप से समझने के लिए विभिन्न चरणों का उल्लेख मिलता है। सबसे पहला चरण अनिश्चितता वाला कहा जा सकता है। इसमें ग्रामीण समाजशास्त्र से संबंधित कोई व्यक्ति साहित्य का निर्माण नही हो पाया जिसके द्वारा इसे विज्ञान बनाया जा सके। लेकिन हम इसे ग्रामीण समाजशास्त्र का प्रारंभिक काल कहेंगे। इस अवधि में ग्रामीण समस्याओं के विश्लेषण से संबंधित साहित्य प्रकाश में आने लगा। सन् 1907 में अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेट ने डीन वेली की अध्यक्षता में एक ग्रामीण जीवन आयोग की स्थापना करवायी जिन विद्वानों ने ग्रामीण समस्याओं पर लिखना प्रारम्भ किया उनमें चार्ल्स हेन्डरसन, बटरफिल्ड, जानमोरिस गिलिन, एच. गिडिन्ग्स तथा एच. सी. टायलर के नाम उल्लेखनीय है। इसी प्रकार ग्राम्य जीवन आयोग ने भी एक सर्वेक्षण करवाया। इसकी रिपोर्ट 1911 में प्रकाशित हुई। यही रिपोर्ट ग्रामीण समाजशास्त्र की विस्तृत रूपरेखा प्रदान करती है। अनेक समाजशास्त्रियों के प्रयत्नों के फलस्वरूप अमेरिकन सोश्योलॉजिकल इन्स्टीटयूट में 1917 में ग्रामीण समाजशास्त्र नाम से एक दिमाग खोला गया। इसके साथ ग्रामीण क्षेत्रों में सर्वेक्षण एवम् अनुसंधान कार्य भी तेजी से होने लगे। ग्रामीण समाजशास्त्र से संबंधित पहला महत्वपूर्ण कार्य 1915 में सी. जे. गेल्विन का द सोश्यल एनाटामी आफ एग्रीकल्चर कम्युनिटी था। जान मोरिस गिलेट ने 1913 में पहली पाठ्य पुस्तक कन्सट्रकक्टिव रूरल सोश्योलॉजी नाम से प्रकाशित करवाई। इसके बाद 1918 से 1925 के बीच तो अनेक महत्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित हो गई।

ग्रामीण जीवन से संबंधित शोध पत्रों का प्रकाशन 1936 में अमेरिका में रूरल सोश्योलॉजी नाम से प्रकाशित होने वाली पत्रिका द्वारा प्रारम्भ हुआ। अगले वर्ष अर्थात् 1937 में रूरल सोश्योलॉजीकल सोसाइटी नाम के संगठन की स्थापना भी हो गई। सोरोकिन जिमरमेन

और गेल्विन द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'ए सिस्टेमेटिक सॉर्स बुक इन रूरल सोश्योलॉजी ग्रामीण समाजशास्त्र के साहित्य में मील का पत्थर बन गई।

अमेरिकन सरकार ने अमेरिका के अतिरिक्त अन्य देशों में भी ग्रामीण समाजशास्त्र के दिमाग खोले। इन दिमागों में ग्रामीण समाजशास्त्र के विद्वानों ने ग्रामीण समस्याओं और दशाओं का अध्ययन करना प्रारम्भ किया। विश्यविद्यालयों में ग्रामीण समाजशास्त्र का अध्यापन भी 1940 के आस -पास वृहद स्तर पर होने लगा। धीरे-धीरे 1950 के दशक तक ग्रामीण समाजशास्त्र की पहचान समाजशास्त्र की एक उभरती शाखा के रूप में वन गई।

1.2.2 **भारत में ग्रामीण समाजशास्त्र** - वास्तविक भारत गाँवों में निवास करता है। पश्चिम के विद्वानों का ध्यान भी अग्रेजों के शासनकाल में वास्तविक भारत की और आकृष्ट हुआ उन्होंने ग्रामीण भारत की परम्पराओं, सादगी निर्धनता बिमारी अशिक्षा, पिछड़ापन एवम् अन्य समस्याओं के बारे में अध्ययन करना प्रारम्भ किया। उस समय अंग्रेजी शासन का मुख्य उद्देश्य राजनैतिक था। ग्रामीण परिहार एवम् आर्थिक जीवन से संबंधित पुस्तक इण्डियन रिक्रिएशन 1803 में विलियम टेनेण्ट द्वारा प्रकाशित हुई। सर हेनरीमेन की कृति एन्सिएण्ट लॉ' 1861 में प्रकाशित हुई। इसमें भारतीय गांवों की सामाजिक आर्थिक समस्याओं तथा भूमि व्यवस्था के वारे में लिखा गया। इसी प्रकार भारतीय ग्रामीण अध्ययनों के वारे में गिलवर्ट स्लेटर जार्ज ग्रियसन और हेराल्ड एच. मेन के नाम उल्लेखनीय हैं। स्वतंत्रता से पूर्व बैडेन पावेल की इण्डियन विलेज कम्यूनिटी 1872 द आरिजन एण्ड ग्रोथ ऑफ विलेज कम्यूनिटीज इन इण्डिया 1898 तथा स्टेवेन्सन मूर की रिपोर्ट आन द मेटोरियल कान्डिशन्स आफ स्मॉल एग्रिकल्चरिस्ट्स एण्ड लेबर इन गया 1898 भी महत्वपूर्ण अध्ययन हैं।

स्वतंत्रता के बाद भारत में ग्रामीण समाजशास्त्र की स्थिति ऐसी हो गई कि समाजशास्त्र और मानवशास्त्र के लिए भी ग्रामीण समुदायों का अध्ययन अपरिहार्य हो गया। जब देश स्वतंत्र हो गया तब से भारत सरकार ने गांव के विकास और उन्नति के लिए विशेष जोर दिया। ग्रामीण समुदायों के अध्ययनों के लिए सरकार द्वारा भी सहयोग किया गया। अमेरिका के फोर्ड फाउण्डेशन ने भी भारत के ग्रामीण अध्ययनों को प्रोत्साहित किया। जैसे डी. एन. मजूमदार द्वारा लखनऊ जिले के मोहाना गांव के अध्ययन हेतु फोर्ड फाउण्डेशन से आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ। योजना आयोग ने भी सहायता प्रदान की। मजूमदार का यह अध्ययन 1958 में कास्ट एण्ड कम्यूनिकेशन इन एन इण्डियन विलेज नाम से प्रकाशित हुआ। आस्कर लेविस ने दिल्ली के पास रामपुरा गाँव का अध्ययन योजना आयोग के सहयोग किया तथा 1958 में इलिनियास विश्वविद्यालय ने इस अध्ययन के परिणामों को 'विलेज लाइफ इन नार्दन इण्डिया' नाम से प्रकाशित किया। ए. आर. देसाई की पुस्तक इन्ट्रोडक्शन टु रूरल सोश्योलॉजी इन इण्डिया 1935 में प्रकाशित हुई। इसके बाद 1955 में रूरल सोश्योलॉजी इन इण्डिया का प्रकाशन हुआ। इसमें भारत के ग्रामीण समुदाय पर किये गए अध्ययनों को संकलित किया।

भारत में ग्रामीण समुदाय के अध्ययन करने वाले विद्वानों में एस. सी. दुबे का नाम भी उल्लेखनीय है। हैदराबाद के शमीरपेट गांव का अध्ययन दुबे ने किया तथा 1955 में इण्डियन विलेज नाम से प्रकाशित हुआ। दुबे की दूसरी पुस्तक 1958 में इंडियाज चेंजिंग

विलेजेज नाम से प्रकाशित हुई। भारत में एम. एन. श्रीनिवास ने भी ग्रामीण समाजशास्त्र के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने 1961 में इण्डियज विलेजेज नाम से पुस्तक प्रकाशित करवाई जिसमें भारत के विभिन्न राज्यों के विभिन्न गांवों के अध्ययन संकलित किये। इसके बाद श्रीनिवास ने 1962 में एक महत्वपूर्ण ग्रामीण समुदाय का अध्ययन 'रिलीजन एण्ड सोसायटी एमन्ग द कूर्गज आफ साउथ इण्डिया प्रकाशित करवाया। इन कार्यो के अतिरिक्त मेकिम मेरियट की सम्पादित विलेज इण्डिया श्रीनिवास की सोश्यल सिस्टम आफ ए मैसूर विलेज रिमेम्बरड विलेज' राधाकमल मुकर्जी की द डायनेमिक्स ऑफ रूरल सोसायटी एवम् सिक्स विलेजेज ऑफ बंगाल एफ. जी. बेली की कास्ट एण्ड द इकानामिक फ्रान्टियर आदि महत्वपूर्ण पुस्तकें भारत के ग्रामीण समाजशास्त्र के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान है। इन अध्ययनों से भारत में ग्रामीण समाजशास्त्र के विकास को समझने में आसानी रहती है। भारत में ग्रामीण समाज शास्त्र के क्षेत्र में अनेक अध्ययन हुए हैं। सभी पहलुओं पर किये गये महत्वपूर्ण अध्ययनों की एक विस्तृत सूची भी तैयार की जा सकती है।

1.3 ग्रामीण समाजशास्त्र का अर्थ और परिभाषा

अब तक हमने वह समझने का प्रयास किया है कि ग्रामीण समाजशास्त्र की आवश्यकता क्यों हुई तथा वे कौन सी दशाएं थी जिनके फलस्वरूप ग्रामीण समुदाय के अध्ययन हेतु एक स्वतंत्रविधा का निर्माण हुआ। हमने यह भी समझ लिया कि वर्तमान परिप्रेक्ष्य में ग्रामीण समाजशास्त्र का जो स्वरूप निर्मित हुआ है इसकी शुरूआत अमेरिका में हुई तथा भारत में भी स्वतंत्रता के बाद इसका विकास तीव्र गति से हुआ।

हमें यह जानना भी प्रासंगिक है कि आखिर ग्रामीण समाजशास्त्र का अर्थ क्या है। इसे किस प्रकार से परिभाषित किया गया है। अर्थ और परिभाषा के सन्दर्भ में चर्चा करने के लिए विद्वानों के द्वारा दिये गये विचारों का उल्लेख करेंगे।

ग्रामीण समाजशास्त्र के नाम से स्पष्ट है कि जो समाजशास्त्र ग्रामीण समाज से संबंधित है उसे हम ग्रामीण समाजशास्त्र कहेंगे। यह समाजशास्त्र की ही एक शाखा है जो ग्रामीण समाज का अध्ययन करती है। हम यह मी जानते है कि ग्रामीण समाज कृषक समाज है अत ग्रामीण समाजशास्त्र कृषक समाज का अध्ययन है हम यह मी जानते है कि ग्रामीण सामुदायिक जीवन नगरीय जीवन से तब ग्रामीण समाजशास्त्र का अर्थ होगा ग्रामीण सामुदायिक जीवन का अध्ययन करने वाला विषय ग्रामीण सामुदायिक जीवन में ग्रामीण समाज की संरचना, सामाजिक प्रक्रियाएं, सामाजिक नियन्त्रण आदि आते हैं। इन सभी का अध्ययन ग्रामीण समाजशास्त्र है। ग्रामीण समाजशास्त्र का केन्द्रीय बिन्दु गांव है। अर्थात् ग्रामीण समाजशास्त्र गांवों का अध्ययन करने बाली विधा है। ग्रामीण जीवन के समस्त पहलुओं का व्यवस्थित अध्ययन ही ग्रामीण समाजशास्त्र है।

परिभाषा - ग्रामीण समाजशास्त्र के अर्थ को हमने समझने का प्रयास किया। इसी को और अधिक व्यवस्थित एवम् स्पष्ट करने के लिए पश्चिम के एवं भारतीय ग्रामीण समाजशास्त्रियों द्वारा दी गई परिभाषाओं का उल्लेख करेंगे।

टी. एल. स्मिथ - ऐसे समाजशास्त्री तथ्य एवम् सिवन्त जो कि ग्रामीण सामाजिक संबंधों के अध्ययन से निर्धारित होते हैं, ग्रामीण समाजशास्त्र कहा जा सकता है।

एफ. स्टुअर्ट चेपिन - ग्रामीण जीवन का समाजशास्त्र ग्रामीण जनसंख्या. ग्रामीण सामाजिक संगठन एवम् ग्रामीण सामाजिक प्रक्रियाओं का अध्ययन है।

डी. सेण्डरसन - ग्रामीण समाजशास्त्र ग्रामीण पर्यावरण में जीवन का समाजशास्त्र है। इसे और स्पष्ट करते हुए आगे लिखा है कि ग्रामीण समाजशास्त्र का विज्ञान के रूप में अध्ययन का औचित्य ग्रामीण सामाजिक संगठन के कार्यक्रमों अथवा ग्रामीण जीवन को बेहतर बनाने के लिए इसके उपयोग से है।

ए.आर. देसाई - ग्रामीण समाजशास्त्र की परिभाषा में स्पष्ट करते हैं कि ग्रामीण समाजशास्त्र का मुख्य कार्य ग्रामीण समाज के विकास के नियमों की खोज करना है। देसाई ने आगे कहा है कि ग्रामीण समाजशास्त्र का मुख्य उद्देश्य ग्रामीण सामाजिक संगठन, इसकी संरचना, प्रकार्य का वैज्ञानिक व्यवस्थित और विस्तृत अध्ययन करना होना चाहिए तथा विकास की उद्देश्यपूर्ण प्रकृतियों का अध्ययन एवम् ऐसे अध्ययन के आधार पर विकास के नियमों की खोज की जाये।

उपर्युक्त परिभाषाओं का विश्लेषण करें तो कह सकते है कि ए. आर. देसाई ने विस्तृत समझ वाली परिभाषा दी है। इस परिभाषा में ग्रामीण समाजशास्त्र के व्यवहारिक पहलुओं के साथ सैद्धान्तिक पहलुओं को भी सम्मिलित किया गया है। अतः ग्रामीण समाजशास्त्र के उद्देश्य को स्पष्ट किया गया है। अत: ग्रामीण समाजशास्त्र ग्रामीण सामाजिक जीवन का दर्पण है। इससे हम ग्रामीण सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं, समस्याओं, धर्म, संस्कृति तथा ग्रामीण जीवन के आर्थिक एवम् राजनीति के पक्षों के वारे में भी जानकारी प्राप्त कर सकते हैं!

1.4 ग्रामीण समाजशास्त्र की आधारभूत विशेषताएं

ग्रामीण समाजशास्त्र के अर्थ और परिभाषा को समझने से हमें यह ज्ञात हो गया कि ग्रामीण समाजशास्त्र क्या है अब तक हमने जो समझा है उसी को ग्रामीण समाजशास्त्र की विशेषताओं के रूप में कुछ बिन्दुओं को रख सकते हैं -

1 ग्रामीण समाजशास्त्र बहुआयामी है। इसका झुकाव समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र की ओर है।

2 ग्रामीण समाजशास्त्र अपने प्रारूप और प्रकार्य से अन्तर्नुशासनिक है।

3 समाजशास्त्र अन्तर्क्रियाओं और अन्तर्क्रियाओं व्यवस्था का अध्ययन करता है। जब इस सन्दर्भ को ग्रामीण समाज के विश्लेषण हेतु लागू किया जाता है तो यह ग्रामीण समाजशास्त्र बन जाता है।

4 ग्रामीण समाजशास्त्र छोटे स्थानों का अध्ययन है जैसे गांव, जनजातीय आवास आदि। छोटे स्थानों से निर्मित आनुभाविक अमूर्तीकरण सैद्धान्तिक निर्माण में सहायक बन जाते है।

बोध प्रश्न -1

1	अमेरिका में ग्रामीण समाजशास्त्र की उत्पत्ति एवम् विकास का संक्षिप्त ब्योरा दीजिये।
2	भारत में ग्रामीण समाजशास्त्र के विकास की दशाओं की विवेचना दीजिये।
3	निम्नलिखित कथन में से कौन सा सही **(✓)** और कौन सा गलत **(×)** है। निशान लगायें (i) ग्रामीण समाजशास्त्र का जन्म ग्रामीण सामाजिक संरचना को पूर्ण रूप से समझकर संबन्धित समस्याओं का समाधान करने के लिए हुआ। (ii) अमेरिका में ग्रामीण सामाजिक उत्थान की अवधि में ग्रामीण समाजशास्त्र का विकास हुआ। (iii) 'एन्सिएण्ट लॉ' ' (हेनरीमेन 1861) भारतीय गांवों की सामाजिक आर्थिक समस्याओं तथा भूमि व्यवस्था से संबंधित है। (iv) 'रुरल सोश्योलॉजी इन इण्डिया (1955) ए. आर. देसाई की कृति है। (v) टी. एल. स्मिथ के अनुसार ग्रामीण समाजशास्त्र का मुख्य कार्य ग्रामीण समाज के विकास के नियमों की खोज करना है।
4	ग्रामीण समाजशास्त्र की आधारभूत विशेषताएं बताइए।

1.5 ग्रामीण समाजशास्त्र का अध्ययन क्षेत्र

तुलनात्मक दृष्टि से ग्रामीण समाजशास्त्र को समाजशास्त्र की एक नई शाखा माना जाता है। यह एक स्वतंत्र विधा है। जिसकी अपनी विशेषताएं और अध्ययन विधियां है। इसी आधार पर अन्य समाजविज्ञानों से अलग पहचान बनाने के लिए ग्रामीण समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र की विवेचना की जा रही है। ग्रामीण पर्यावरण के समस्त सामाजिक संबंधों को ग्रामीण समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र में सम्मिलित किया जाता है। इसके साथ जो ग्रामीण अध्ययन क्षेत्र के रूप में संभावित है उसका भी विश्लेषण आवश्यक है।

1.5.1 **जनसंख्या** - टी. एल. स्मिथ के अनुसार ग्रामीण जनसंख्या ग्रामीण समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र का महत्वपूर्ण पहलू है। ग्रामीण जनसंख्या से तात्पर्य ग्रामीण समाज और ग्रामीण जीवन को समझना। ग्रामीण जनसंख्या का वितरण, घनत्व, वृद्धि, शारीरिक एवं मानसिक विशेषताएं जनसंख्या के आव्रजन और प्रव्रजन की स्थिति का अध्ययन ग्रामीण समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र में आता है।

1.5.2 **ग्रामीण सामाजिक जीवन** - स्मिथ ने ग्रामीण सामाजिक जीवन के समाजशास्त्र को ही ग्रामीण समाजशास्त्र कहा। इसका उद्देश्य ग्रामीण सामाजिक जीवन का अध्ययन करना है। ग्रामीण सामाजिक जीवन में ग्रामीण लोग, ग्रामीण पर्यावरण, ग्रामीण जीवनस्तर, ग्रामीणों के अवकाश का समय तथा ग्रामीण आर्थिक दशाएं ग्रामीण वातावरण में विभिन्न सामाजिक स्वरूपों के अवलोकन अध्ययन में सम्मिलित किया जाता है।

1.5.3 **सामाजिक संगठन एवम् संरचना** - ग्रामीण समाजशास्त्र का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य ग्रामीण पारिवारिक संगठन से संबंधित ज्ञान उपलब्ध करवाना। ग्रामीण सामाजिक संगठन

एवम् संरचना में जिन संस्थाओं तथा संगठनों को सम्मिलित किया जाता है। उनमें ग्रामीण परिवार, ग्रामीण विवाह, ग्रामीण सामाजिक संस्तरण, ग्रामीण शिक्षा ग्रामीण प्रशासन व्यवस्था, ग्रामीण धार्मिक एवम् सांस्कृतिक संस्थाएं तथा ग्रामीण श्रम विभाजन आदि प्रमुख हैं। ग्रामीण समाजशास्त्र दोनों प्रकार के ग्रामीण सामाजिक संगठनों का अध्ययन करता है। - पहला वैधानिक एवम् दूसरा विकसित किये गये ग्रामीण सामाजिक संगठन।

1.5.4 सामाजिक प्रक्रियाएं - स्मिथ ने ग्रामीण समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र में सहयोगात्मक एवम् असहयोगात्मक दोनों ही प्रकार की सामाजिक प्रक्रियाओं को सम्मिलित किया है। सहयोग, एकीकरण व्यवस्थापन, संस्कृतिकरण, सामाजिक गतिशीलता, प्रतिस्पर्धा एवम् संघर्ष को ग्रामीण समाजशास्त्र का अध्ययन क्षेत्र बताया है।

1.5.5 ग्रामीण समस्याएं - ग्रामीण जीवन की समस्याओं को ग्रामीण समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र में सम्मिलित किया है, जैसे ग्रामीण जीवन की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवम् सांस्कृतिक समस्याएं। इन समस्याओं का स्वतंत्र अध्ययन भी किया जाता है एवम् एक दूसरे के संबंध के आधार पर भी अध्ययन किया जाता है। किसी एक समस्या का स्वतंत्र अध्ययन किया जाता है तब किसी निष्कर्ष पर पहुंच कर उसके समाधान का प्रयास होता हैं। जब कई समस्याओं का अध्ययन आपस के संबंधों के आधार पर किया जाता है। तब उन सभी समस्याओं को किसी एक समस्या के भिन्न-भिन्न पहलुओं के रूप में देखा जाता है। अत: कुछ समस्याओं का अध्ययन स्वतंत्र रूप से ही किया जाता है तभी उनका समाधान संभव होता है जैसे, निर्धनता, अशिक्षा, बीमारी. निम्न जीवनस्तर, अपर्याप्त आवास, परंपरावाद धार्मिक अंधविश्वास आदि।

1.5.6 **ग्रामीण संस्थाएं** - ग्रामीण समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र में ग्रामीण संस्थाओं का अध्ययन भी सम्मिलित है। संस्थाओं से तात्पर्य गतिविधियों की प्रक्रिया से है जो कि निश्चित उद्देश्य को प्राप्त करने हेतु विकसित की जाती है। इन संस्थाओं में आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक संस्थाएं होती है। इन सभी संस्थाओं का अध्ययन ग्रामीण समाजशास्त्र द्वारा ग्रामीण समाज के संदर्भ में किया जाता है।

1.5.7 **ग्रामीण समुदाय** - डी. एन. सेण्डरसन ने ग्रामीण समुदाय को ग्रामीण समाजशास्त्र का अध्ययन क्षेत्र बताते हुए स्पष्ट किया है कि एक ग्रामीण समुदाय स्थानीय क्षेत्र में बसने वाले गांव के लोगों के बीच होने बाली सामाजिक अन्तक्रियाओं और उनकी संस्थाओं का केन्द्र है। जहां वे अपनी सामान्य गतिविधियाँ सम्पन्न करते है। इस प्रकार ग्रामीण समुदाय में ग्रामीण लोगों की सामान्य गतिविधियों को सम्मिलित किया जाता है। ग्रामीण समाजशास्त्र ग्रामीण समुदाय की विशेषताओं स्वरूपों और गतिविधियों का अध्ययन करता है।

1.5.8 **ग्रामीण नगरीय अन्तरर्विरोध** - गांव और नगर दो विरोधी सामुदायिक जीवन के तरीके प्रस्तुत करते हैं। ग्रामीण समाज इस ग्रामीण नगरीय विरोध का अध्ययन करता है। दूसरे शब्दों में ग्रामीण नगरीय सांस्कृतिक के आधारभूत अन्तर एवं संबंध का अध्ययन करता है। इसे हम तुलनात्मक अध्ययन भी कह सकते हैं। ग्रामीण समाज और सामाजिक संस्थाओं को नगरीय समाज और सामाजिक संस्थाओं के विरोधी के रूप में अधिक आसानी से समझ सकते हैं।

1.5.9 **ग्रामीण नियोजन एवम् पुनर्निर्माण** - ग्रामीण नियोजन एवम् पुनर्निर्माण विशेष रूप से भारतीय समाज के लिए अधिक महत्वपूर्ण है जो कि गांवों का समाज है। नगरीय नियोजन एवम् पुननिर्माण के विपरीत ग्रामीण नियोजन एवम् पुनर्निर्माण के अपने सिद्धान्त ओर क्रियान्विति है। यह ग्रामीण समाजशास्त्र की महत्वपूर्ण विषय सामग्री है। इस संबंध में ए. आर. देसाई लिखते हैं कि ग्रामीण समाजशास्त्र ग्रामीण काम करने वाले को अपनी बीमारी की सही जांच करने में सहायता प्रदान करता है तथा आगे इस बीमारी से निपटने के लिए सही उपचार अथवा कार्यक्रम भी प्रस्तुत करता है। यदि बीमारी की जांच त्रुटिपूर्ण है अथवा अपूर्ण ' तो उपचार भी अवैज्ञानिक होगा और व्यर्थ होगा।

1.5.10 **लॉरीनेल्सन के विचार** - नेल्सन ने ग्रामीण समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र को तीन वर्गो में विभाजित किया हे -

1 ग्रामीण मानव सम्बन्धों का अध्ययन - इसमें ग्रामीण जीवन, पारम्परिक सम्बन्ध, विभिन्न प्रकार के समूह उनकी रचना एवम् कार्यो का अध्ययन सम्मिलित है। यह विश्व के सभी ग्रामीण समाजों में देखा जाता है। अत: नेल्सन के दृष्टिकोण से ग्रामीण समाजशास्त्र का अध्ययन क्षेत्र-ग्रामीण क्षेत्रों का सामूहिक जीवन, सामुदायिक जीवन एवम् मानव जाति का सामाजिक जीवन है।

2 समय परिप्रेक्ष्य अध्ययन - नेल्सन ने स्पष्ट किया कि ग्रामीण समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र में वर्तमान ग्रामीण समाज के अध्ययन के साथ इन समाजों की उत्पत्ति एवं विकास का ऐतिहासिक अध्ययन भी सम्मिलित है।

3 गहन अध्ययन - ग्रामीण लोगों एवम् ग्रामीण समुदायों के व्यवहारों को प्रभावित करने वाले सभी विषयों का गहन अध्ययन भी नेल्सन के अनुसार ग्रामीण समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र में सम्मिलित है।

1.5.10 **ए.आर देसाई का दृष्टिकोण** - देसाई ने ग्रामीण समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र के बारे में कई विद्वानों के विचारों का अध्ययन करने के बाद अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि सभी एक मत से सहमति देते हैं कि ग्रामीण समाजशास्त्र का मुख्य लक्ष्य ग्रामीण सामाजिक संगठन, उसकी संरचना प्रकार्य और विकास की वस्तुपरक, प्रवृत्ति का वैज्ञानिक, व्यवस्थित और व्यापक अध्ययन करके इसके विकास के नियमों की खोज करना है।

1.5.11 **बदलता ग्रामीण समाज** - विश्व के ग्रामीण समाजों के साथ भारतीय ग्रामीण समाजों में भी बदलाव हो रहे हैं। ग्रामीण समाज में आ रहे संस्थात्मक एवम् संगठनात्मक परिवर्तन भी ग्रामीण समाज शास्त्र के अध्ययन क्षेत्र का उल्लेखनीय बिन्दु हैं। इस सन्दर्भ में ग्रामीण आर्थिक स्थिति में बदलाव लाने हेतु बाजार की भूमिका महत्वपूर्ण है। बाजार का विकास एवं बढ़ता उपभोक्ता वाद ग्रामीण समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र का नया आयाम है। इसी प्रकार नवीन प्रोघोगिकी ने भी ग्रामीण समाज को प्रभावित किया है। विकसित उपकरण, सिंचाई के साधनों का विकास, पशुधन का विकास आदि ने ग्रामीण अर्थव्यवस्था में नये आयाम विकसित किये हैं। इन सभी के प्रभाव हमें ग्रामीण क्षेत्रों में ऊभरने वाली समितियों एवम् संस्थाओं में दिखाई देते हैं। साथ ही सांस्कृतिक परिवर्तनों की विशेषताओं को हम उभरते ग्रामीण समाज में देख सकते हैं। इन नवीन आयामों को ग्रामीण समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र में सम्मिलित किया गया है।

बोध प्रश्न -2

1 जनसंख्या ग्रामीण समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र का महत्वपूर्ण पहलू है। दो पंक्तियों मे समझाइए।

2 ग्रामीण समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र से संबन्धित महत्वपूर्ण बिन्दुओं को लिखिये।

3 निम्नलिखित मई से कोण सा कथन सही **(✓)** है और कौन सा कथन गलत **(×)** है। निशान लगायें।

1 टी. एल. स्मिथ ने वैधानिक ग्रामीण सामाजिक जीवन के समाजशास्त्र को ही ग्रामीण समाजशास्त्र कहा है।

2 ग्रामीण समाजशास्त्र केवल वैधानिक ग्रामीण सामाजिक संगठनों का ही अध्ययन करता है।

3 स्मिथ ने ग्रामीण समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र मे केवल सहयोगात्मक सामाजिक प्रक्रियाओं को ही अध्ययन करता है।

4 ग्रामीण समाज मे निर्धनता , अशिक्षा जैसी समस्याओं का अध्ययन स्वतंत्र रूप से करने पर ही इनका समाधान संभव है।

5 डी. सेण्डरसन के अनुसार स्थानीय क्षेत्र मे बसने वाले गांवों मे बसने वाले गाँव के लोगों के बीच होने वाली सामाजिक अंतरक्रियाओं और उनकी संस्थाओं का केंद्र ग्रामीण है।

6 ग्रामीण नगरीय संस्कृति के आधारभूत अंतर एवम् सम्बंध का अध्ययन ग्रामीण समाजशास्त्र द्वारा नहीं किया जा सकता है।

7 ए.आर. देसाई के अनुसार ग्रामीण समाजशास्त्र का मुख्य लक्षण ग्रामीण सामाजिक संगठन, उसकी संरचना प्रकार्य और विकाश की वस्तुपरक प्रवृति का वैज्ञानिक और व्यापक अध्ययन करके इसके विकाश के नियमों की खोज करना है।

1.6 ग्रामीण समाजशास्त्र की विषय वस्तु

ग्रामीण समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र के विवेचन में हमने देखा है कि यह एक ऐसा विज्ञान है जो कि कृषक संबंधों पर आधारित लोगों के अध्ययन पर केन्द्रित रहा है। लॉरी नेल्सन के अनुसार ग्रामीण समाजशास्त्र की विषयवस्तु ग्रामीण पर्यावरण में पाये जाने वाले विभिन्न समूहों का वर्णन और उनकी प्रगति का विश्लेषण है। हम यह भी कह सकते हैं कि ग्रामीण समाजशास्त्र ग्रामीण पर्यावरण में मानवीय सम्बन्धों का अध्ययन है अर्थात ग्रामीण समाजशास्त्र में मुख्य रूप से अध्ययन की जाने बाली सामग्री में ग्रामीण पर्यावरण के मानवीय संबंध हैं।

अब हम ग्रामीण समाजशास्त्र की प्रारम्भिक व्यवस्था की चर्चा भी करेंगे, क्योंकि हमें इसकी विषयवस्तु को ठीक प्रकार से समझना है। प्रारम्भिक तर्क यह हैं कि ग्रामीण समाजशास्त्र की विषयवस्तु कभी स्थाई नहीं रही है। जब इस विधा का 18 वी और 19 वी शताब्दी में

प्रादुर्भाव हुआ था उस समय आदिम समाज के लोगों का अध्ययन इसके द्वारा किया जाने लगा। जो देश ब्रिटिश शासन के अधीन थे उनमें आदिम समाज का अध्ययन ही ग्रामीण समाजशास्त्र की विषयवस्तु थी। दक्षिण एवम् मध्य अफ्रीका के देशों के साथ भारत में भी ग्रामीण समाजशास्त्र की विषयवस्तु आदिम समाज तक सीमित रही। इसके बाद सामाजिक मानव शास्त्रियों ने ब्रिटिश प्रशासकों के उद्देश्य पूर्ति हेतु ग्रामीण संस्थाओं जाति एवं संस्कृति का अध्ययन भी प्रारम्भ किया। समाजशास्त्र की विषयवस्तु भी ग्रामीण जीवन और जंगल में निवास करने वाले लोगों के जीवन से सम्बन्धित थी। इस प्रकार प्रारम्भिक अवस्था में ग्रामीण समाजशास्त्र की विषयवस्तु छोटे गांवों के अध्ययन पर केन्द्रित रही। जैसे भारत में ब्रिटिश प्रशासक हेनरी मेन ने सबसे पहले गाव का अध्ययन किया था।

उपनिवेश काल में ग्रामीण समाजशास्त्र की विषयवस्तु भारतीय समाज के संदर्भ में जंगलों और पहाड़ों में निवास करने वाले जनजातीय लोगों तक सीमित रही, लेकिन इसके साथ गांव के अध्ययन में परिवार और जाति जैसी परम्परागत संस्थाओं के अध्ययन भी ग्रामीण समाज के अन्दर किये जाने लगे।

धीरे-धीरे विकास कार्यक्रमों, तकनीकी शक्तियों, औद्योगीकरण, नगरीकरण, बाजार, प्रवृत्तियों जैसे कारकों ने ग्रामीण समुदाय में उल्लेखनीय प्रभाव डाले। फलस्वरूप ग्रामीण समाजशास्त्र की विषयवस्तु में नये आयाम जुडने लगे। गहन अध्ययन के लिए भूमि सुधार और कृषक सम्बन्धों जैसे नये मुद्दे उभर कर सामने आये। लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत पंचायती राज व्यवस्था ने लोगों में नई जागृति उत्पन्न कर दी। गांव में हरित क्रान्ति के परिणामस्वरूप कृषिक पूंजीवाद और स्तरीकरण की नई व्यवस्था का जन्म हुआ। कृषि संबंधों में विभेदीकरण एवं वर्गो की उत्पत्ति हुई। जैसे, बडे किसान, छोटे किसान, सीमान्त कृषक एवम् भूमिहीन श्रमिक। कृषक असन्तोष एवम् कृषक संघर्ष की स्थिति भी प्रकट होने लगी। ग्रामीण संघर्ष और ग्रामीण नेतृत्व के मुद्दे ग्रामीण समाजशास्त्र की विषयवस्तु में सम्मिलित हुए। ग्रामीण राजनीति अब ग्रामीण समाजशास्त्र के लिए रोचक एवम् महत्वपूर्ण पहलू के रूप में है।

1.6.1 **ग्रामीण समाजशास्त्र की विषयवस्तु के मुख्य बिन्दु** -

1. ग्रामीण समाजशास्त्र में जनजातीय लोगों जंगल तथा गांव में रहने वाले लोगों के सामाजिक जीवन का अध्ययन किया जाता है।
2. कृषि एवम् भूमि संबंधी संरचना एवम् समस्याएं ग्रामीण समाजशास्त्र की विषयवस्तु में सम्मिलित है।
3. ग्रामीण विकास कार्यक्रम ग्रामीण समाजशास्त्र की नई विषयवस्तु है। इन कार्यक्रमों का एक उद्देश्य तो ग्रामीण लोगों के जीवन स्तर में सुधार करना है तथा दूसरा उद्देश्य उन लोगों को राष्ट्र निर्माण में भागीदार बनाना है।
4. विकास कार्यक्रमों के प्रभाव से उभरने वाले स्तरीकरण प्रतिमान का अध्ययन भी ग्रामीण समाजशास्त्र की विषयवस्तु है।
5. ग्रामीण जीवन पर तकनीकी के प्रभाव का विश्लेषण भी इसकी विषयवस्तु है।

6 ग्रामीण समाजशास्त्र की विषयवस्तु में पर्यावरण क्षय तथा पारिस्थितिकी क्षरण को भी सम्मिलित किया है।

1.7 सारांश

एक व्यवस्थित विज्ञान के रूप में ग्रामीण समाजशास्त्र का विकास अमेरिका में 19 वीं शताब्दी के मध्य में प्रारम्भ हुआ। भारत में ग्रामीण सामाजिक जीवन का अध्ययन ब्रिटिश शासनकाल में राजनैतिक उद्देश्य से किया गया। भारत में व 1950 से 1960 के बीच गांवों के अध्ययनों की बाद सी आ गई थी।ग्रामीण समाजशास्त्र समाजशास्त्र का ही एक शाखा है जो ग्रामीण सामाजिक जीवन ग्रामीण समाजशास्त्र ग्रामीण सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करती है। का दर्पण है। इससे हम ग्रामीण सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं, समस्याओं, धर्म, संस्कृति तथा ग्रामीण जीवन के आर्थिक एवम् राजनीतिक पक्षों के बारे में भी जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

ग्रामीण पर्यावरण के समस्त सामाजिक संबंधों को ग्रामीण समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र में सम्मिलित किया जाता है। ग्रामीण समाजशास्त्र की विषयवस्तु ग्रामीण पर्यावरण में पाये जाने वाले विभिन्न समूहों का वर्णन और उनकी प्रगति का विश्लेषण है।

1.8 शब्दावली

गांव -	घरों का समूह जिसकी निश्चित सीमा, जमीन, कृषि कार्य तथा जिसकी एक नाम से पहचान होती है।
ग्रामीण सामुदायिक जीवन-	ग्रामीण समाज की संरचना, सामाजिक प्रक्रियाएं, सामाजिक गतिशीलता, सामाजिक नियन्त्रण आदि का एकीकरण स्वरूप।
ग्रामीण नगरीय अन्तरविरोध-	गांव और नगर की विशेषताओं में विरूपता अथवा विपरीत लक्षणों का पाया जाना।
ग्रामीण सामाजिक स्तरीकरण -	गांव की सामाजिक संरचना के अनुसार उच्चता और निम्नता का क्रम जैसे जाति के आधार पर संस्तरण आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं भौगोलिक दशा।
कृषक समाज-	भूमि एवम् कृषि कार्यो पर निर्भर सामाजिक संबंधों की व्यवस्था।
भूस्वामी -	कृषि योग्य भूमि का स्वामी
काश्तकार -	कृषि कार्य से आजीविका का प्रबन्ध करने बाला।
कृषक असंतोष -	कृषक संबंधों को लेकर असंतोष उत्पन्न होना।
लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण -	प्राधिकारों का वितरण सत्ता के अधिकार को बांटना।
पंचायती राज व्यवस्था -	ग्रामीण क्षेत्र में सत्ता के अधिकार की त्रिस्तरीय व्यवस्था- गांव, खण्ड और जिला स्तर।

भूमि सुधार -	भूस्वामी एवम् काश्तकार के संबंधों तथा भूमि के अधिकाधिक उपयोग की योजना।
पर्यावरण क्षय -	पर्यावरण को हानि पहुंचाकर दूषित करना।
पारिस्थितिकी क्षरण -	जीव जगत और प्रकृति के बीच असन्तुलन की स्थिति।

बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 अमेरिका में ग्रामीण समाजशास्त्र की उत्पत्ति देखें 1.2.1

2 भारत में ग्रामीण समाजशास्त्र के विकास के लिए देखें 1.2.2

3 (i) ✓ (ii) × (iii) × (iv) ✓ (v) ✓ (vi) × (vii) ✓

4 आधारभूत विशेषताएं देखें 1.4

बोध प्रश्न 2

जनसंख्या देखें 1.5.1

केवल बिन्दु लिखें 1.5.1 से 1.5.12 तक

1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

A.R. Dasai -Rural Sociology in India

Rajendra k. Sharma- Rural Sociology

S.L.Doshi P.C. Jain- Rural Sociology

T.H. Smith the Sociology of Rule Life

Chapin F.Stuart Social Structure in Rular Socity

D.Sanderson- Rural Sociology and social organisaion

N.L.Sins, Elements of Rural Sociology

Lowry Nelson- Rural Sociology

1.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

1 लॉरी नेल्सन के अनुसार ग्रामीण समाजशास्त्र की विषयवस्तु का उल्लेख कीजिये।

2 निम्नलिखित कथन में से कौन सा सही (✓) कथन और कौन सा गलत (×) कथन है। निशान लगायें।

(i) ग्रामीण समाजशास्त्र में मुख्य रूप से अध्ययन की जाने वाली सामग्री में ग्रामीण पर्यावरण के मानवीय संबंध है। ( )

(ii) ग्रामीण समाजशास्त्र की विषयवस्तु स्थाई रही है। ( )

(iii) जो देश ब्रिटिश शासन के अधीन थे उनमें आदिम समाज का अध्ययन ही ग्रामीण समाजशास्त्र की विषय वस्तु थी। ( )

(iv) ग्रामीण संघर्ष और ग्रामीण नेतृत्व के मुद्दे ग्रामीण समाजशास्त्र की विषय वस्तु में सम्मिलित नहीं है। ( )

(v) ग्रामीण जीवन पर तकनीकी के प्रभाव का विश्लेषण भी ग्रामीण समाजशास्त्र की विषय वस्तु है। ( )

3 ग्रामीण समाजशास्त्र की विषयवस्तु के मुख्य बिन्दु लिखिये। ( )

इकाई 2

ग्रामीण समाजिक व्यवस्था : परिवार, नातेदारी एवं जाति

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 सामाजिक व्यवस्था का अर्थ

2.3 समाज में सामाजिक अवस्था की इकाइयां

2.4 परिवार

- 2.4.1 परिभाषा, प्रकार एवं प्रकार्य
- 2.4.2 ग्रामीण परिवार

2.5 नातेदारी

- 2.5.1 अर्थ, परिभाषा
- 2.5.2 नातेदारी का महत्व, परम्परागत समाज में नातेदारी,
- 2.5.3 नियंत्रण का आधार, भूमिका एवं प्रस्थिति निर्धारण प्रतिमानों को व्यवहार में मूर्त रूप देना
- 2.5.4 नातेदारी के प्रकार : रक्त एवं वैवाहिक संबन्धी

2.6 जाति

- 2.6.1 परिभाषा, विशेषताएं, प्रकार्य
- 2.6.2 जजमानी व्यवस्था, गाव में जाति में परिवर्तन

2.7 संदर्भ ग्रंथ

2.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

2.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप-

- सामाजिक व्यवस्था का अर्थ समझ सकेंगे
- परिवार की परिभाषा, प्रकार्य एवं प्रकार जान सकेंगे
- ग्रामीण परिवार के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे
- नातेदारी प्रथा का अर्थ, महत्व एवं प्रकार के बारे में समझ सकेंगे
- जाति की परिभाषा, विशेषताएं एवं प्रकार्य समझ सकेंगे
- जजमानी व्यवस्था की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे

2.1 प्रस्तावना

मानव के उद्भव के साथ-साथ जब उसने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति अन्य मानव के साथ सहयोग करके पूरी करना आसान व आवश्यक माना तभी से मानव एक सामाजिक व्यवस्था की इकाई बन कर रहने लगा। यहां पर उसने व्यवहार के प्रतिमान निर्धारित किये जो

समय व परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित होते रहे हैं। अपनी जैविकीय, आर्थिक, सामाजिक आवश्यकतानुसार उसने नई संस्थाओं का निर्माण किया। संस्था से संबन्धित सदस्यों के प्रकार्य, प्रस्थिति एवं प्रतिमान विकसित हुए एवं व्यक्ति अपनी आवश्यकतानुसार अन्य इकाइयों के संदर्भ में वांछित भूमिका का निर्वहन करने लगा। इस प्रकार एक भौगोलिक क्षेत्र के वासी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु एक व्यवस्था में रहने में ही अपनी व अपने अस्तित्व को महत्वपूर्ण मानने लगा। इस प्रकार मानव सामाजिक व्यवस्था का नियामक एवं नियंत्रण में रहने को बाध्य है। वह कर्ता व भोक्ता है, वह स्वामी व उसका दास है। इस प्रकार सामाजिक अवस्था हमारे जीवन की सबसे बडी अवस्था है।

2.2 सामाजिक व्यवस्था का अर्थ

सामाजिक व्यवस्था समाज की समस्त इकाइयों जिनमें मनुष्य स्वयं भी एक इकाई है, के मध्य सकारात्मक सहयोग और अंतरनिर्भरता का पूज है।

सामाजिक व्यवस्था शब्द का प्रयोग समाज शास्त्र में अत्यन्त ही लोकप्रिय शब्द है। सामान्यत: सभी समाज विज्ञानों में सामाजिक अवस्था शब्द का प्रयोग किया गया है परन्तु समाज शास्त्र एवं मानव शास्त्र में इसका उपयोग सर्वाधिक हुआ है। परन्तु अलग अलग समाज विज्ञानों में इसका प्रयोग भिन्न अर्थो में किया जाता है। समाज शास्त्र एवं मानव विज्ञान में सामाजिक व्यवस्था को सामाजिक संगठन के पर्याय रूप में भी उपयोग किया गया है। सामान्य शब्दों में, एक सामाजिक अवस्था मूलत: एक सीमित परिस्थिति में दो या दो से अधिक व्यक्तियों अथवा समूहों के मध्य प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से होने वाली अन्तर्क्रिया का परिणाम है। सामाजिक व्यवस्था का निर्माण प्रस्थितियों एवं भूमिकाओं के अंतर्सम्बंधो द्वारा होता है तथा इस संरचना का कार्य संचालन क्रियाओं तथा अन्तर्क्रियाओं के प्रतिफलों के रूप में होता है।

सामाजिक व्यवस्था को समझने के लिये हमें शरीर तंत्र को समझना होगा। शरीर में विभिन्न कार्यों हेतु अलग-अलग व्यवस्थाएं हैं जैसे पाचन तंत्र, स्नायु तंत्र, रक्त संचार तंत्र आदि, इनमें से किसी एक तंत्र के बिगड़ जाने पर सम्पूर्ण शरीर विकार युक्त होकर विघटित होना प्रारंभ हो जाता है। हम यह भी जानते हैं कि ये सभी तंत्र (Systems) एक दूसरे तंत्र के साथ सम्बन्धित है। ठीक वही स्थिति सामाजिक संरचना की है जिसमें हर एक प्रकार्यात्मक इकाई का सम्बन्ध परस्पर जुड़ा हुआ है।

सामाजिक व्यवस्था की अवधारणा का उपयोग ऑगस्ट कॉम्ट, हरबर्ट स्पेन्सर, कार्ल मार्क्स एवं इमाइल दुर्खाइम जैसे समाज वैज्ञानिकों ने अपने समाजशास्त्रीय साहित्य की रचना में एकाधिक बार उपयोग किया है। टालकट पार्सन्स ने इस अवधारणा का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया है। उन्होंने सामाजिक व्यवस्था की निम्नांकित विशेषताएं बतलाई हैं :

(i) यह क्रियाओं की एक ऐसी अवस्था है जिसमें दो या दो से अधिक व्यक्तियों के मध्य निरन्तर अन्तर्क्रिया होती है।

(ii) कर्ताओं का व्यवहार दूसरे कर्ताओं के द्वारा प्रभावित व निर्देशित होता है।

(iii) सामूहिक लक्ष्यों अथवा मूल्यों को प्राप्त करने के लिये कर्ताओं द्वारा पारस्परिकता पर आधारित सामूहिक प्रयास किये जाते हैं।

इस संदर्भ में अब हम भारतीय ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था को समझने का प्रयास करेंगे।

2.3 ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था की इकाइयां

गाँव के लोगों का जीवन सामान्यतया परिवार जाति व सम्बन्धियों के मध्य संचालित होता है। व्यक्ति का जन्म परिवार में होता है, वही पर वह प्रारम्भिक काल में सामाजिक व्यवहार सीखता है, उसका समाजीकरण होता है। वह समान आयु के बच्चों के साथ परिवार, पड़ोस में खेलता है जहां उसे सहयोग, प्रतिस्पर्धा का प्रारम्भिक ज्ञान होता है, यही पर वह बड़ो से अपेक्षाएँ करना सीखता है और यह भी जान जाता है कि उसी के परिवार के सदस्य उससे क्या अपेक्षा रखते हैं। वह संकेतात्मक भाषा भी सीख लेता है एक ओर वह रो कर दबाव डालने की आदत सीख लेता है तो दूसरी ओर मुस्कराकर अपनी आकांक्षाओं व अपेक्षाओं की पूर्ति कर धन्यवाद देना भी नहीं भूलता है। जैसे-जैसे वह बड़ा होता है, उसके सम्पर्क का दायरा विस्तृत हो जाता है बह अपने पैतृक परिवार के साथ गाव के बाहर अपनी माता के परिवार यथा नाना मामा आदि के भी सम्पर्क में आता है। वह सम्बन्धों की चेतना एवं उनमें निहित सामाजिक मूल्यों को समझने लगता है। यही पर वह सामाजिक प्रतिमानों को जीवन में ग्रहण करता है एवं भूमिका प्रस्थिति की अनुभूति होती है। बालक बडा होते होते यह समझ लेता है कि जाति व्यवस्था के आधार पर खान-पान व सामाजिक दूरियाँ(छुआ-छूत) होती है एवं विवाह गांव के बाहर परन्तु स्वयं की जाति में ही करना होता है। उसके मन में लोकोक्तियों द्वारा यह विश्वास जगा दिया जाता है कि जाति में जन्म पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार हुआ है। उसे जाति से संबन्धित संस्कार पूरे करने होते हैं एवं सामाजिक व धार्मिक स्तर के अनुसार संस्तरणात्मक स्थिति को स्वीकार करना होता है, इसी अनुरूप भोजन संबंधी निषेध भी लागू होते है। ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था में परिवार, कुल व जाति की सदस्यता जन्म पर आधारित होती है। परिवार कुल का एवं कुल जाति का अंग होता है। इन्हीं में ग्रामवासियों के स्थायी संबंध होते हैं। इन सब के परे गाव भी अपने आप में एक स्वतंत्र परन्तु महत्वपूर्ण इकाई है जिसमें कई जातियां स्थायी रूप से निवास करती है।

गांव में जातियों के परस्पर अंतर संबंधों की व्यवस्था पाई जाती है जिसमें हर जाति परम्परागत रूप से अन्य जातियों के साथ सम्बन्ध रखती है। जिसे हम जजमानी व्यवस्था के नाम से पुकारते हैं। जातियों के समूह के रूप में गांव विशेष सामुदायिक अस्तित्व रखता है। वह परम्पराओं प्रथाओं ब लोक संस्कृति की रक्षा करता है। व्यक्ति का व्यवहार परिवार वंश जाति व गांव में समान परिस्थितियों में समान होता है। इस प्रकार व्यक्तियों के स्थायी व्यवहार संस्थागत हो जाते हैं। इन व्यवहारों को चलाने वाली इकाइयां भी काफी गहरी जडें जमा लेती है। सामाजिक संरचना से तात्पर्य ऐसी ही स्थायी इकाइयों के पारस्परिक सम्बन्धों से है जो अपने सदस्यों को नियमित व्यवहार से बांध देती है। इसमें विचलन होने पर दण्ड, आलोचना आदि का प्रावधान होता है। इस जीती जागती प्रक्रिया पर भी जब ध्यान दिया जाता है, तब दूसरा पक्ष भी स्पष्ट होता है। इन दोनों को मिलाकर देखने से सामाजिक व्यवस्था का आभास होता है। सामाजिक संरचना का प्रयोग दुर्खाइम एवं स्पेन्सर की कृतियों से लेकर आधुनिक समाजशास्त्री

प्रचुर मात्रा में कर रहे हैं। सामाजिक संरचना समाज के विभिन्न भागों अथवा इससे निर्मित तत्वों के आपसी सबन्धों में संगठन व व्यवस्था को संरचना कहा जाता है। एक समाजशास्त्री सामाजिक संरचना को संस्थाओं, समूहों तथा व्यक्तियों की सामाजिक क्रियाओं भूमिकाओं, प्रस्थितियों तथा आदर्शात्मक व्यवस्था के स्थायी सम्बन्धों में खोजता है।

जहां सामाजिक अन्त: क्रियाएं हो, जहां अपेक्षाएं एवं उपलब्धियां हो, जहां हर एक व्यक्ति एक स्वतंत्र इकाई परन्तु अन्तर्सम्बन्धित एवं अन्तर्निभरता प्रदान हो जहां हर एक व्यक्ति की अनेक प्रस्थितियां हो एवं उसकी भूमिका भी तदनुरूप अलग अलग हो जैसे एक चिकित्सक की उसके मरीज के संदर्भ में भूमिका से उसकी भूमिका उसके पुत्र, पिता माता पत्नी के संदर्भ में अलग होगी। यह सामाजिक व्यवस्था परिहार, स्कूल, कार्यालय ब औद्योगिक संस्थानों में भी देखी जा सकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि हर एक प्रकार्यात्मक इकाई में सामाजिक व्यवस्था पाई जाती है। एक विद्यालय का उदाहरण ले तो हम पायेंगे कि वहां पर शैक्षणिक, सहशैक्षणिक एवं अन्य गतिविधियां समयानुसार संचालित होती है। यह अन्तःक्रिया छात्र-छात्रा छात्र-अध्यापक छात्र-कार्यालय कर्मचारी के बीच निरन्तर चलती रहती है। ये इकाइया परस्पर प्रभावित भी होती है। यही स्थिति परिवार के संदर्भ में भी देखी जा सकती है। इस प्रकार जैसे हमारे शरीर में अनेक व्यवस्थाएं हैं एवं हर एक व्यवस्था परस्पर निर्भर एवं प्रभावित है ठीक उसी प्रकार एक व्यवस्था में कई व्यवस्थाएं भी देखी जा सकती है।

सामाजिक व्यवस्था का मूल अर्थ एवं भाव समझने के पश्चात् अब हम ग्रामीण सामाजिक अवस्था को समझने का प्रयास करेंगे, परन्तु पहले हमें यह समझना होगा कि ग्रामीण सामजिक अवस्था, नगरीय सामाजिक अवस्था से अलग अपनी पहचान रखती है। नगरों में जहां नाभिक परिवार, वर्ग व्यवस्था प्रमुख रूप से दिखाई देती है, वही पर गाव में संयुक्त परिवार व्यवस्था, जाति व्यवस्था एवं नातेदारी व्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान है। गाव में आज भी बहिर्विवाही व्यवस्था है। गुजरात में गांव के सभी लोग भाई-बहिन के नाम से सम्बोधित होते है। नगरों में खुलापन है, संस्थाएं शिथिल पड़ रही है एवं व्यक्ति पर ये व्यवस्थाएं प्रभावशाली नहीं है, वहां पर अन्य व्यवस्थाएं स्थापित हो रही है। अत: हमें ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था को अलग से समझने की आवश्यकता है। फिर भी यहां यह उल्लेख अप्रासंगिक नहीं होगा कि गांव में भी सामाजिक व्यवस्था की विभिन्न इकाइयों में परिवर्तन आ रहे हैं जिनको हम यथा स्थान समझने का प्रयास करेंगे।

2.4 परिवार

परिवार ग्रामीण समाज अवस्था की सर्वाधिक महत्वपूर्ण इकाई है। परिवार सम्पूर्ण ग्रामीण संरचना पर अपनी छाप अंकित करता है। ग्रामीण परिहार, इसकी संरचना प्रकार्य तथा ग्रामीण समाज की अन्य संस्थाओं, ग्रामीण परिवार को समझने के पूर्व परिवार व संयुक्त परिवार को परिभाषित करना उपर्युक्त होगा।

2.4.1 **परिभाषा**

मेकाइवर एण्ड पेज (Mciver & Page) के अनुसार ' परिवार एक ऐसा समूह है जो सुनिश्चित और स्थायी यौन सम्बन्धों द्वारा परिभाषित किया जाता है जो बच्चों के प्रजनन और पालन पोषण के लिये अवसर प्रदान करता है। इसका निर्माण पति पत्नी के एक साथ रहने और बच्चों के साथ मिलकर एक विशिष्ट इकाई बनने से होता है।

इलियट और मैरिल (Elliot & Merril) के अनुसार परिवार को एक प्राणिशास्त्रीय इकाई के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो कि पति पत्नी तथा उनके बच्चों द्वारा संरचित हो। इसे एक सामाजिक संस्था और समाज द्वारा मान्यता प्राप्त संगठन भी माना जा सकता है जिसके द्वारा कुछ निश्चित मानवीय आवश्यकताएं पूरी होती है।

उपरोक्त परिभाषाएं पाश्चात्य परिवारों की कही जा सकती है। भारत में परिवार दो-तीन परिवारों की संयुक्त इकाई है। संयुक्त परिवार को परिभाषित करते हुए इरावती कर्वे लिखती है कि एक संयुक्त परिवार उन व्यक्तियों का समूह है जो सामान्यत: एक भवन में रहते हैं, - जो एक रसोई में बना भोजन करते हैं, जो सामान्य सम्पत्ति के स्वामी होते हैं और जो सामान्य पूजा में भाग लेते हैं और जो किसी न किसी प्रकार एक दूसरे के रक्त सम्बंधी है। इसमें दो या दो से अधिक पीढ़ियों के लोग एक साथ निवास करते हैं।

आई. पी. देसाई के अनुसार उस घर को हम परिवार कह सकते हैं जिसमें पीढ़ियों के (तीन से अधिक) सदस्य एक साथ निवास करते है और सम्पति आय तथा पारस्परिक अधिकारों व कर्तव्यों के द्वारा एक दूसरे से संबन्धित होते हैं। इसे निम्नलिखित चित्र से स्पष्ट किया गया है।

```
                    = 0
=0          कर्ता   = 0          = 0
0 0                 0            0 0
```

उपरोक्त चित्र से स्पष्ट है कि संयुक्त परिवार में तीन या तीन से अधिक पीढ़ी के लोग साथ रहते हैं। इसमें कर्ता के भाई, भाभी, कर्ता के पुत्र व पुत्रियां (अविवाहित) भतीजा-भतीजियां (अविवाहित) एवं कर्ता के माता-पिता सभी संयुक्त परिवार के सदस्य होते हैं। संयुक्त परिवार की सत्ता भी कर्ता के पिता के हाथ में समाहित होती है एवं वही महत्वपूर्ण निर्णय लेता है।

संयुक्त परिवार में माता. पत्नी, अविवाहित बहिन, भाई आदि निवास करते हैं इसमें पत्नी विवाह संबन्धित है जबकि अविवाहित बहिन, भाई आदि रक्त संबंधी हैं। इस प्रकार संयुक्त परिवार में दो प्रकार के सदस्य रक्त सम्बन्धी एवं विवाह सम्बन्धी पाये जाते हैं।

उपरोक्त परिभाषाओ से स्पष्ट है कि परिहार की निम्नलिखित विशेषताएँ है।

(1) इसमें यौन सम्बन्ध होते हैं जैसे पति पत्नी के।

(2) सन्तानोत्पति तथा वंश की वृद्धि।

(3) बच्चों का भरण पोषण एवं सामाजीकरण।

(4) संस्कृति की रक्षा एवं नवजात पीढ़ी को संस्कार प्रदान करना।

(5) आर्थिक कार्य

(6) भावनात्मक संबद्धता

ये उपरोक्त कार्य तो सभी परिवारों के लिये सामान्य कार्य हैं परन्तु संयुक्त परिवार व्यवस्था इन कार्यो को सम्पन्न करते हुए सामूहिक भावना व त्याग की भावना के साथ कम से कम तीन पीढ़ियों तक साथ रहती है। संयुक्त परिवार व्यवस्था की प्रमुख विशेषताएं:

(1) एक व्यक्ति के हाथ में सत्ता. संयुक्त परिवार में महत्वपूर्ण निर्णय परिवार के मुखिया द्वारा लिये जाते हैं। परिवार दो प्रकार के होते हैं जिन्हें हम पितृसत्तात्मक एवं मातृसत्तात्मक कहते हैं। भारत के हिन्दू समाज में पितृसत्तात्मक परिवार व्यवस्था है अत: यहां पर सजा परिवार के मुखिया के हाथ में केन्द्रित रहती है।

(2) सामान्य पूजा गृह संयुक्त परिवार के सभी व्यक्ति एक ही धर्म, विश्वास व पूजा पद्धति से बंधे होते हैं। जीवन के अनिवार्य संस्कार परिवार के सभी व्यक्ति मिलकर सहयोगात्मक विधि से मनाते हैं।

(3) संयुक्त सम्पत्ति परिवार की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विषेशताएँ है कि परिवार में सम्पत्ति पर सबका अधिकार होता है यद्यपि उसके उपयोग का अधिकार मुखिया के पास होता है। संयुक्त सम्पत्ति की अवधारणा के कारण कृषि भूमि का खण्डात्मक विभाजन नहीं हुआ। संयुक्त सम्पत्ति के कारण यह परिवार में विधवा अपंग व्यक्ति अथवा अन्य ऐसे व्यक्तियों द्वारा जो आर्थिक योगदान नहीं कर सकते हो उन्हें भी आर्थिक सामाजिक सुरक्षा मिल जाती है।

2.4.2 ग्रामीण परिवार

ग्रामीण परिवार में न केवल परिवार के सदस्य ही होते है अपितु अनेक बार इसमें दूर के संबन्धी भी सम्मिलित होते हैं परन्तु विधवा बहिन, साला, साली या अन्य संबन्धीगण। ग्रामी परिवार का दूसरा विशिष्ट लक्षण है - इसके सदस्यों का कृषि कार्य पर निर्भर रहना। कृषि कार्य सदस्य की आ ब लैंगिक विभेद पर निर्भर करते हैं।

ग्रामीण परिवार के सदस्य एक आर्थिक इकाई का निर्माण करते हैं और कृषि कार्य में -अन्तर्सहयोगात्मक भाव दर्शाते हैं एवं सारी सम्पत्ति विशेष रूप से अचल सम्पत्ति को सम्मिलित रूप से रखते हैं जिसका स्वामित्व परिवार का मुखिया होता है अत: परिवार में मनोवैज्ञानिक स्तर पर सदस्य एक दूसरे से बंधे रहते हैं।

ग्रामीण परिवार के सदस्यों में अनुशासन पाया जाता है क्योंकि कर्ता का निर्णायक महत्व होता है, वही संयुक्त सम्पत्ति का संरक्षक, स्वामी होता है, वही विवाह, शिक्षा व्यापार से सम्बन्धित निर्णय करता है, इसके अतिरिक्त ग्रामीण संरचना में जनमत प्रभावशाली नियंत्रक की भूमिका निभाता है। परिवार में लैंगिक आधार पर कार्य विभाजन होता है। हर एक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं के लिये दूसरे व्यक्तियों पर निर्भर करते हैं अत: ग्रामीण परिवार में एकता अधिक दृष्टिगत होती है। यह उसके सदस्यों को सजातीय ठोस इकाई के रूप में ढाल देती है। उनमें संगठन व सहयोग के प्रति भावनाएं सुदृढ़ बना देना है। उनमें परिवार के प्रति भावनात्मक बन्धन सुदृढ़ होते है। परिवार के सदस्यों को प्रारम्भिक काल से सीखाया जाता है

कि सदस्यों के कार्यो का प्रभाव परिवार की प्रतिष्ठा को प्रभावित करेगा अत: सबसे यह अपेक्षा की जाती है कि बे परिवार को प्रतिष्ठित करने वाले कार्य करें।

जैसा कि उपर कहा गया है कि ग्रामीण परिवार के मुखिया (कर्ता) के पास एकाधिकार प्राप्त सत्ता होती है जो परिवार के सदस्यों के लिये सभी महत्वपूर्ण निर्णय लेता है एवं यही उन्हें परिवार कृषि व व्यवसाय संबंधी कार्यो का उत्तरदायित्व सौंपता है। वही अपने पुत्र, पुत्रियों भाई, भतीजों के विवाह का निर्णय लेता है। परिवार के छोटे सदस्यों की अनौपचारिक शिक्षा द्वारा उनके समाजीकरण की व्यवस्था करता है। ए.आर.देसाई (A.R.Desai) के अनुसार ' परिवार के मुखिया को परिवार के शासक, पुरोहित, गुरू, शिक्षक तथा व्यवस्थापक होने की सत्ता और अधिकार रहे हैं। ' परिहार के सदस्य अपना अधिकाधिक समय परिवार के अन्य सदस्यों के साथ ही बिताते हैं जबकि नगरीय परिवार के सदस्य कई दिनों तक तो एक दूसरे से मिल भी नहीं पाते हैं।

औद्योगिक क्रान्ति, यातायात के साधन, संचार क्रान्ति, नगरीय जीवन के आकर्षण आदि ऐसे अनेकानेक शरण हैं जिनकी वजह से परम्परागत ग्रामीण परिकर अपनी पहचान खोते जा रहे हैं। ग्रामीण परिवारों का आधार प्रस्थिति (Status) से हटकर अनुबन्धात्मक (Contractual) हो रहा है। परम्परा एवं रीति रिवाज कमजोर पड़ रहे हैं एवं उसके स्थान पर कानून का प्रभाव व्यापक होता जा रहा है। परिवार उत्पादन इकाई के स्थान पर उपभोक्ता इकाई बनता जा रहा है। विश्व बाजार व्यवस्था का प्रभाव गांव में दिखाई देने लगा है एवं ग्रामोद्योग व गृहोद्योगों की स्थिति विघटन के कगार पर है। कृषक मात्र वर्ष भर में 150- 180 दिन कृषि कार्य करता है, शेष दिन बह बेरोजगार रहता है। पहले गृहोद्योग व ग्रामोद्योगों से उसकी अतिरिक्त आय होती थी, जो अब नहीं है। अत: कृषक भी पलायन करने को बाध्य हो रहा है। पहले परिवार रक्त सम्बन्धी कारणों से सुदृढ़ रहते थे परन्तु अब उसके स्थान पर विवाह सम्बन्ध में परिवर्तन हो रहे हैं। कर्ता की सत्ता को ललकारा जा रहा है। कहने का अभिप्राय यह है कि बदलती परिस्थितियों के कारण परिवार के आर्थिक, शैक्षणिक, धार्मिक, राजनैतिक व अन्य सामाजिक सांस्कृतिक कार्य अन्य संस्थाओं द्वारा अधिग्रहीत किये जा रहे हैं। परिवार की सदस्य संख्या भी घट रही है। यह सब होते हुए भी परिवार के सदस्य संकट कालीन बीमा है। विवाह मृत्यु व कुल देवता के संस्कारों के समय परिवार के सभी सदस्य मूल परिवार स्थल पर एकत्र होते हैं चाहे वे गाद से दूर अन्यत्र जाकर रहने लग गये हो। अत: कहा जा सकता है कि संयुक्त परिवार भावत्मकतक रूप से अब भी विद्यमान है, चाहे भोजन, व्यवसाय व निवास की दृष्टि से उसके सदस्य अलग अलग निवास करते हो।

ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था में परिवार सामाजीकरण की प्रथम पाठशाला है। लड़के बडे होने पर उन्हें कृषि कार्य संबंधी उत्तरदायित्व दिये जाते हैं। लडकियों को घर का काम सीखने व करने का अवसर दिया जाता है। इस आयु में लड़के ब लड़कियों से वैवाहिक जीवन की भूमिका को कुशलतापूर्वक निर्वहन की निपुणता प्राप्त करने की अपेक्षा की जाती है। यहां पर वह वैवाहिक संबंधो के संदर्भ में प्रस्थिति व भूमिका संघर्ष आदि के बारे में प्रायोगिक ज्ञान प्राप्त करता है जो उसकी गृहस्थी के संचालन में महत्वपूर्ण है।

परन्तु जैसा कहा गया है कि परिवार में रक्त जनित एवं विवाह जनित सदस्य साथ साथ रहते हैं। अत: इनमें कभी कभी संघर्ष भी देखा जा सकता है परन्तु मूलत: परिवार सहयोगात्मक इकाई है। ग्रामीण परिवार मूलत: संयुक्त परिवार है। संयुक्त परिवार से अभिप्राय उस परिवार से है जिसमें कई पीढ़ियों के सदस्य एक दूसरे के प्रति कर्तव्य भावना से बंधे रहते हैं तथा सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक व राजनीतिक सभी क्रियाओं में सहयोग करते हैं।

2.5 नातेदारी

वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग के अनुसार संबंधों की वह प्रणाली जिसमें व्यक्ति एक दूसरे के साथ विवाह तथा बन्धुत्व के अनेक जटिल अन्तर्ग्रथित बन्धनों द्वारा आबद्ध होते हैं। सामान्य रूप में कहा जा सकता है कि बंधुता जैविक सम्बन्धों की सामाजिक मान्यता है। यह समरक्तिय और वैवाहिक सम्बन्धों की सामाजिक मान्यता एवं अभिव्यक्ति है। इसमें वास्तविक व काल्पनिक दोनों ही प्रकार के वंशअलियों रिश्तों पर आधारित तथा समाज द्वारा स्वीकृत सम्बन्ध सम्मिलित होते हैं। भारत में अधिकतर गांवों में व्यक्ति अपने परिवार का नाम सम्पत्ति तथा निवास स्थान अपने पिता से प्राप्त करते हैं। व्यक्ति का गौत्र उसके पिता के गौत्र से जाना जाता है परन्तु लड़की विवाह के पश्चात अपने पिता के घर से विदा होकर पति के घर चली जाती है। लडकी का विवाह अपने पैतृक गांव से बाहर किया जाता है। वह विवाह के पश्चात् किसी और गांव में जाती है, वही वह अपने जीवनका अधिकांश भाग बिताती है। अत: यह स्पष्ट है कि गांव की वयस्क महिलाएं उस गांव में नहीं जन्मी है। वे अलग अलग गांवों से विवाह सम्बन्धों द्वारा यहां रहती है अत: उनकी पैतृक पारिवारिक संस्कृति अलग अलग होती है फिर भी उनसे अपेक्षा की जाती है कि वे अपने वैवाहिक गाव की संस्कृति व परम्पराओं को निभाने की भूमिका का नीर्बाह करेगी। गांव की संस्कृति व परम्पराओं को जीवीत रखने में इन स्त्रियों की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है।

पुरूष का परिवार जो उसके पिता से अधिग्रहण किया है अथवा जिसमें वह पिता के साथ विवाह के उपरान्त भी रहता है, उसके साथ साथ उसी गाव में उसके पिता की चार पांच पीढ़ियों के समन्धी भी में निवास करते हैं। सामान्यतया उनके घर भी एक दूसरे से सटे होते हैं अथवा एक ही मोहल्ले में होते हँ। यह संयुक्त परिवार का विस्तार कहा जा सकता है। गांव के महत्वपूर्ण निर्णय लेने के लिये गाँव पंचायतयत में प्रतीनिधि के रूप में उनका एक सदस्य ही जाया करता था। इसी प्रकार किसी अतिथि का सत्कार करने के लिये ये सभी परिवार सहयोगी भूमिका निभाते हैं। इससे विस्तृत संयुक्त परिवार के सकारात्मक सहयोगात्मक अर्न्तसंभान्धो का आभास होता है, चाहे उनमें कटुता हो परन्तु अतिथि के सामने उसे प्रकट नहीं किया जाता है कभी कमी इन परिवारों की स्त्रियां भी आपस में मिलती है और उन्हें यथा सम्मान दिया जाता है। इस प्रकार गाव में वंश की प्रधानता दिखाई देती है। इस प्रकार परिवारों के ये समूह सामाजिक संगठन की इकाई के रूप में अपना बिशेष महत्व रखते हैं। संकट के समय सभी परिवार ही आपस में एक दूसरे को सहयोग प्रदान करते हँ इनका सबसे अधिक मात्र संबन्धित परिवारों के लिये एक ऐसा संगठन प्रदान करना है जिससे उनकी आन्तरिक शक्ति का आभास गांव की अन्य इकाइयों को हो सके। गांव पंचायत या जाति पंचायत में शक्तिशाली इकाई के

रूप में इन्हें महत्व प्रदान किया जाता है। इन परिवारों में समान रक्त संबन्धित ही प्रमुख होते हैं क्योंकि इनमें पारस्परिक विवाह वर्जित है।

सम्मिलित परिवार एवं बंधु बान्धवों से बने हुए इस संबन्ध को महिला वर्ग में भी देखा जा सकता है। विवाह द्वारा एक महिला एवं एक पुरूष का समाज बनता है परन्तु उनके पारिवारिक सम्बन्धी भी इनके सबन्धों का स्थायी हिस्सा बन जाते हैं। इनमें भी आपस में सहयोग, आदान-प्रदान. प्रसन्नता को मिलकर मनाना एवं दुख के समय में साथ रहकर सन्त्व्ना देना, इनका प्रमुख कार्य होता है। सास, ननद, भोजाई, साला - भाभी के बीच के सचको के बारे में हर गाव में कहावतें, लोकोक्तियां प्रचलित होती है जो इन छू सचको की यथार्थता चिन्हित करते हैं। नातेदारी प्रथा में मामा, बुआ का बिशेष महत्व है। परिवार के किसी भी मांगलिक कार्य में इनकी भूमि महत्वपूर्ण होती है।

बोध प्रश्न-।

1. ग्रामीण परिवार की परिभाषा दीजिये एवं कार्यो का वर्णन कीजिये।
2. नातेदारी व्यवस्था क्या है? भारतीय सामाजिक व्यवस्था में इसका क्या महत्व है?
3. ग्राम अपने आप में एक स्वावलम्बी इकाई है। इस कथन की विभिन्न जातियों के बीच अंतरसंबोधन व सहयोग की पृष्ठ भूमि में स्पष्ट कीजिये।

2.6 जाति प्रथा

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में जाति का अपना बिशेष महत्व है। इस व्यवस्था ने समूर्ण आर्थिक, सामाजिक ब राजनैतिक ढांचे को प्रभावित किया है। डॉ ए॰आर. देसाई (A.R.Desai) के अनुसार जाति बिभिन्नताएं घरेलू एवं सामाजिक जीवन के तरीकों में बिमिन्नताओं को प्रदर्शित करती है। ग्रामीण भारत में तो यह गृह निवास व सांस्कृतिक प्रतिमानों को भी निश्चित करती है। संविधान के प्रावधानों में उन निर्याग्यताओं को समाप्त कर दिया गया है जो जातिगत परम्परा में निहित थे। इसके अतिरिक्त भी यातायात, नगरीकरण एवं औद्योगीकरण के कारणों से जातीय परम्परागत स्थिति में वदलाव आया है परन्तु जातिवाद आधुनिक राजनैतिक चुनाव प्रक्रिया का एक परिणाम है जो गांवों में सामुदायिक भावना को शिथिल बना रहा है अथवा जिसके कारण गांव कई टुकड़ों में विभक्त हो रहा है। परन्तु जातिबाद की चर्चा के पूर्ब हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि जाति क्या है एक् इसकी क्या विशेषताएं हैं।

जाति की विशेषताएं ब कार्यो में आज बहुत अधिक परिबर्तन हो गया है। गांवों में भी जाति में उसकी विशेषताएं व कार्या में परिबर्तन आ रहे हैं। संविधान ने सभी को समान माना है अत: जातिगत संस्तरण समाप्त हो रहे हैं अथवा हो गये हैं। अस्पृश्यता की मानसिकता आज बिलुज हो गई है। यातायात के आधुनिक साधन, शिक्षा संविधान आदि कारक अस्पृश्यता की मानसिकता को बिलुज़ करने में महत्वपूर्ण है। थाबसायिक चुनाव में भक्ति मंत्र है। आज हर जाति का सदस्य हर एक व्यबसाय में दिखाई दे सकता है। बिवाह के संदर्भ में जाति आज भी प्रासंगिक है। परन्तु समाजशास्त्रीय तथ्य यह है कि जाति के परम्परागत प्रकार्य और उसकी

विशेषताओं में परिवर्तन आये हैं लेकिन जाति में भावनात्मक दृष्टि से ओर अधिक सुदृढ़ता दिखाई देती है। आज जातिबाद के रूप में जाति उमर रही है जो चुनाव एबं अन्य महत्वपूर्ण घटनाक्रमों में स्पष्ट दिखाई देती है। हर एक जाति अपनी शक्ति बढ़ाने व प्रदर्शित करने का प्रयास करती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जाति आधुनिक समय में अपना स्वरूप परिवर्तित कर रही है। राजस्थान में गुर्जर आन्दोलन इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

2.7.1 **परिभाषा**

सर हरबर्ट रिजले (Herbert Risley) के अनुसार ' जाति परिवारों या परिवारों के समूह का एक संकलन है जिनका कि एक सामान्य नाम है, जो एक काल्पनिक पुरूष अथवा देवता से उत्पति तथा सामान्य वंश परम्परा का दावा करते हैं। एक ही परम्परागत व्यवसाय को करने का दावा करते हँ एवं एक भारतीय समुदाय के रूप में उनके द्वारा मान्य होते हैं जो अपनी ऐसी राय व्यक्त करने योग्य है।

केतकर (Ketkar) के अनुसार ' जाति एक सामाजिक समूह है जिसकी दो बिशेषताएं है - (1) सदस्यता केवल उन बस्तियों तक ही सीमित है जो कि सदस्यों से जन्म लेते हैं और उसमें हर तरह उल्पन्न सभी व्यक्ति सम्मिलित होते हैं। (2) सदस्य एक कठोर सामाजिक नियम द्वारा समूह के बाहर विवाहह करने से रोक दिये जाते हँ।

सदस्यता वंशानुगत होती है. जो सामाजिक सहवास के क्षेत्र में अपने सद्स्योन पर कुछ प्रतिबन्ध लगाता है, जिसके सदस्य एक सामान्य परम्परागत व्यवसाय करते हैं अथवा किसी सामान्य आधार पर अपनी उत्पत्ति का दावा करते हैं और इस प्रकार एक समरूप समुदाय के रूप में मान्य समझे जाते हँ।

जाति शब्द का पर्यायवाची पुर्तगीज शब्द एकाप्त है जिसका सामान्य अर्थ है नस्त या प्रजाति। कास्टा शब्द लैटिन भाषा के कास्टस शब्द के अधिक निकट है। कास्ट का अर्थ है विशुद्धता इस प्रकार जाति का अभिप्राय भी नस्त सचन्धी शुद्धता से है। यही शुद्धता बबसाय एवं वैबाहिक जीवनमें भी रखनी होती है। उपर्युक्त परिभाषाओं के विश्लेषण से हम इस निष्टर्ष पर पहुंचते हैं कि जाति द्यक्तियों का समूह है जिसकी सदस्यता जन्मजात होती है तथा इसके सदस्यों को अपने समूह के सदस्यों के साथ ही विवाह करना होता है गोंत्र के बाहर) तथा परम्परागत थबसाय निश्चित होता है तथा अन्य जातियों के मध्य अन्तर्सम्बन्धों में जातीय नियमों का पालन करना होता है।

प्रो. जी.एस धुरिये ने जाति को सामान्य विषेशताओं के आधार पर निम्न प्रकार से स्पष्ट किया है :

1. हिन्दू समाज का विमिन्न खण्डों में विभाजन
2. सामाजिक संस्तरण
3. भोजन व सामाजिक व्यवहार पर नियंत्रण
4. नागरिक निर्योग्यताएं एवं विशेषाधिकार
5. व्यवसाय के स्वतन्त्र चुनाव का अभाव
6. विवाह पर नियंत्रण अर्थात जाति में ही विवाह करने की अनिवार्यता

जाति की विशेषताएं

1. जन्मजात सदस्यता

व्यक्ति की जाति जन्म से ही निश्चित होती है। इस प्रकार यह प्रदत्त प्रस्थिति है। वह यदि लंबी जाति में जन्म लेता है तो उसे कुछ विषेश अधिकार मत: मिल जाते हैं परन्तु यदि उसने निम्न जाति में जन्म लिया है तो उसे अनेक निर्योग्यताओं की स्थिति को सहना पडेगा।

2. संस्तरणात्मक स्थिति :

जातीय व्यवस्था संस्तणात्मक है जिसमें निम्न या पूर्णत: अस्पृश्य एवं सबसे ऊंची अर्थात समस्त विशेषाधिकार सम्पन्न जातियाँ सामाजिक अवस्था के अन्तर्गत रखी गई है। सारे हिन्दू समाज में ऊंच-नीच की भाबना जाति व्यवस्था में स्पष्ट है परन्तु अब यह सुस्पष्ट है कि वर्तमान समय में संविधान के द्वारा संस्तरणालक स्थिति को नकार दिया गया है फिर भी सामाजिक अवस्था के अन्तर्गत व्यवहार में ऊंच-नीच की भावना लक्षित होती है। मेबाड़ में ओसबाल - बडा साजन, छोटा साजन में विभाजित है। मेबाडु में ही सिसोदिया राजपूत, चौहान राजपूत से उंचे माने जाते हैं एवं यह सामाजिक व्यवस्था में आज भी स्पष्ट लक्षित है।

3. अन्तर्विवाही व्यवस्था :

एक जाति का थक्ति अपनी ही जाति में विवाह कर सकता है। इस प्रकार इसे हम अन्त्विवाही व्यवस्था कहते है। जाति मे अनेक गोत्र होते है। व्यक्ति अपनी गौत्र में विवाह नहीं कर सकता है। उसे अपनी माता के गौत्र में भी विवाह करने की मनाही है। इस प्रकार जाति में अर्न्तविवाही एवं बहिर्विवार्ही व्यवस्था कहा जा सकता है।

4. व्यवसाय का निर्धारण :

जाति का व्यवसाय निश्चित रहता है। उसे परम्परागत व्यवसाय को ही अपनाना होता है। जुलाहा, लोहार, सोनी, चमार शब्द व्यवसाय सूचक जातियाँ है उसी प्रकार ओसबाल - पोरबाल माहेश्वरी भी बव्यापार करने वाली जातियों के रूप में अपनी पहचान रखती है। इसी प्रकार ब्राह्मण जातियां यथा शर्मा, गौड, दशोरा, चतुर्बदी, द्विवेदी, दुबे, पूजा पाठ ज्योतिष अथवा अध्यापन कार्य करते थे। आज व्यवसाय में परिवर्तनशीलता व गतिशीलता दृष्टिगत होती है एवं अब कोई भी व्याक्ति किसी भी व्यवसाय को करने को मतंत्र है परन्तु परम्परागत समाज में जाति ही व्यक्ति का व्यवसाय निश्चित करती थी।

5. भोजन सम्बन्धी प्रतिबन्ध :

जात का व्यक्ति अन्य जाति के व्यक्ति के यहां भोजन कर सस्ता है अथवा नहीं इस संबंधन में अनेक प्रतिबन्ध है। कनोजिया ब्राह्मण तो एक दूसरे का छुआ हुआ भोजन भी नहीं खाते हैं। कनोजिया ब्राह्मणों में तो कहाबत ही है कि आठ कनोजिया और नो दुल्हे। पाश्चात्यीकरण, नगरीकरण गतिशीलता एवं अन्य कारणों से यह प्रतिबन्ध अब समाप्त सा हो गया है फिर भी द्विज जातियाँ कुछ अपवादोंद को छोड़कर निम्न जातियों के यहां भोजन ग्रहण नहीं करती है।

6. जाति पंचायत :

हर एक जाति के सदस्य के लिये अपने आप में जातिगत प्रतिमानों, प्रतिबन्धों को मानने एक् उसके अनुरूप व्यवहार आचरण करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य होता था विशेषकर

विवाह सम्बन्धी नियोग्यताओं का तो पालन करना ही होता था। यदि कोई व्यक्ति जातिगत नियमों को तोड़ता, तो जाति पंचायत उसे जाति से निष्कासित कर सकती थी। इसे हुक्का पानी बन्द करना कहा जाता है। एक जाति-पंचायत पांच सात - दस निकटवर्ती गांवों के उस जाति विषेश के सदस्यों की पंचायत होती थी। यह अपने सदस्यों पर जुर्माना भी लगा सकती थी। यह परम्परागत समाज में संवैधानिक न्याय व्यवस्था हुआ करती थी।

ब्राह्मणों की उच्चतम स्थिति :

जैसा उपर स्पष्ट किया गया है कि सम्पूर्ण जाति व्यवस्था संन्स्णात्मक है जिसमें ब्राह्मणों की जातियां सबसे ऊंचे स्थान पर है। धुरिये ने इसे हिन्दू समाज की खण्डनालक स्थिति कहा है। इसे और स्पष्ट करें तो सामाजिक सहवास व व्यवसाय की स्थिति से भारत पर की कुल 3000 से अधिक जाति समूहों को इनकी समान स्थिति को दृष्टिगत करते हुए खण्डों में (Blocks Segment) में रखा जा सकता है। जिसमें शीर्वस्थ खण्ड में ब्राह्मण वर्ग की जातियां रखी जा सकती है।

जाति के कार्य :

प्रत्येक सामाजिक संस्था के कुछ कार्य होते हैं जो बस्ति समूह व सम्प्रदाय के लिये महत्वपूर्ण होते हैं। जाति व्यवस्था व्यक्ति व समाज की अनेक आवश्यकताओं को पूर्ण करने में समर्थ रही है। जाति व्यवस्था ही भारतीय सामाजिक संरचना व हिन्दू संस्कृति को जीवित रखने में सफल रही है। जाति अवस्था के प्रमुख कार्य निम्नलिखित है :

(1) रक्त शुद्धता: जाति में ही विवाह करने की बाध्यता के कारण रक्त शुद्धता समद हो सकी है। इस प्रकार जाति अपने गुणों को वंशानुगत रूप से पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित करती रही है।

(2) मानसिक चिन्ता से मुक्ति : जाति वक्ति के वैवाहिक, सामाजिक व भोजन संबंधी निर्णय लेने में सहायता करती है। वह क्या क्यों, कब, कहां ब कैसे का उदर प्रदान करती है।

(3) सामाजिक सुरक्षा का दायित्व : जाति प्रथा के संगठन अपने सदस्य पर मंकट आने पर उसको आर्थिक - सामाजिक सहयोग प्रदान करते हैं।

(4) धार्मिक कार्य : प्रत्येक जाति का एक इष्ट देवता होता है। दे इस देवता की पूजा प्रतिष्ठा व अन्य धार्मिक अनुष्ठान करते हँ।

(5) व्यवसाय - प्रत्येक जाति का एक व्यवसाय निश्चित होता है। समान व्यवसाय करने वाले व्यक्तियों में व्यवसायिक हितों की रक्षार्थ एकता पाई जाती है।

(6) प्रोद्योगिकी कार्य की गोपनीयता रखना कुछ विशिष्ट जातियां कुछ विशेष कार्य में दक्ष होती है। इनके कार्य करने की विधि को गोपनीय रखने हेतु जाति के बाहर के किसी भी व्यवक्ति को उस कार्य की जानकारी नहीं देते हैं। जो दर्जी, सुनार. जुलाहा ऐसी ही जातियां है जो अपने व्यवसायसंबंधी ज्ञान की जानकारी अन्य जातियों के सदस्यों को नहीं देते हैं।

(7) सामाजिक नियंत्रण : जाति व्यवस्था सामाजिक नियंत्रण का प्रभावशाली सशक्त साधन है। जाति पंचायत को यह अधिकार है कि वह अपने किसी भी सदस्य को, जो जातीय नियमों प्रतिमानों का उल्लंघन करे, दण्डित करे। यह दण्ड जुर्माना जातीय भोज अथवा जाति से निकासित करना भी हो सकता है। भारतीय संस्कृति पर अनेक आक्रमण हुए परन्तु जाति पंचायत की कठोरता के कारण संस्कृति सुरक्षित रह सकी।

2.7.2 जजमानी व्यवस्था :

भारतीय ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था में जजमानी व्यवस्था की महत्वपूर्ण भूमिका है। हम जब यह कहते कि भारतीय गाव स्वावलम्बी इकाई है, तो इसका अभिप्राय यह है कि गांव की समस्त आवश्यकताएं गांव के लोग ही परस्पर परम्परागत सहयोग के द्वारा पूरी करते हैं। संसकारण की दृष्टि से जातियों के पक्ष में सोपान हो इनमें सामाजिक दूरी भी हो गांव में ही हर जाति के लिये रहने के मोहल्ले भी जातीय खण्डों की समानता के आधार पर हो इनमें कुछ जातियों को अस्पृश्य का दर्जा भी दिया गया हो परन्तु फिर भी ये सभी जातियां एक दूसरे का सहयोग करती है. सहयोग का यह आदान-प्रदान जजमानी व्यवस्था के रूप में जाना जा सकता है।

जजमानी व्यवस्था के सम्बन्ध में आस्कर लेविस (Oskar Lewis) लिखते हैं कि इस व्यवस्था के अन्दर गांव के प्रत्येक जातीय समूह से यह आशा की जाती है कि यह अन्य जातियों को कुछ निश्चित सेवाएं प्रदान करें। उदाहरणार्थ एक खाती बढ़इ औजारों की मरम्मत करता है और एक नाई बाल काटता है लेकिन ये सेवाएं सभी को नहीं दी जाती। प्रत्येक व्यक्ति केवल कुछ खास परिवारों के समूह के लिये काम करता है. जिसके साथ उनके पैतृक संबंध होते हैं। सेवा प्राप्त करने वाला व्यक्ति या परिवार भी सेवा के लिये उन्हें वस्तुएं अनाज आदि देता है। इस प्रकार यह विनिमय व्यवस्था का प्राचीन व आदर्श रूप है, जो सेवाओं के आदान प्रदान द्वारा गांव को स्वावलम्ब इकाई बनाता है। प्रो. ब्रजराज चौहान के अनुसार कृषक तथा कृषि का सामान बनाने वाली और सेवाएं अर्पित करने वाली जातियां पारस्परिक रूप से आर्थिक व धार्मिक समबन्धों से जुडी है। कुम्हार, चमार, नाई ब बढ़ई जैसी जातियों के किसान परिवारों से जजमानी के निश्चित सबंन्ध है जिनके अनुसार काम बर्ष मर तथा उसका प्रतिफल फसल पर प्राप्त होता है। जीवनके महत्वपूर्ण अवसरों पर इन सम्बन्धों की पुष्टि होती रहती है और सेवा करने वाली जाति तथा सेवा प्राप्त करने वाली जाति दोनों ही के संबन्धित परिवार उन अवसरों पर विशिष्ट सेवाएं देते रहते है। इसी प्रकार गाँव के विशिष्ट त्यौहारों पर भी सम्मिलित रीति से पूजन व पाठ मनाकर तथा अपना विशिष्ट कार्य कर हर जाति को अपने महत्व का आभास होता है। इस प्रकार यह भावना ग्राम भावना को सफल बनाती है। इस प्रकार जाति व्यवसायिक ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था में महत्वपूर्ण योगदान देती है।

2.8 संदर्भ ग्रंथ

Baily, F.G. Caset and the Economic Frontier Manchester University press, Manchester., 1957

Desai, A.R.	Rural Sociology, in India Prakash Pvt. Ltd. Bombay , 1998.
देसाई, ए.आर.	भारतीय ग्रामीण-समाजशास्त्र, राबत पलिकेशन्स, जयपुर, 1997 अनुबादक - हरिकृष्ण रावत
Doshi, S.L. & Jain	P.L. Rural Sociology, Rawat Publication, Jaipur, 2001.
Ghure G.S.	Castet and Class in India Prakashan, Bombay, 1950
Karve, Iraviti	Kinniship Organisation in India Deccan College Poona,1958
दीक्षित, प्रकाश चन्द्र	भारतीय समाज तथा सामाजिक संस्थाएं, रतन प्रकाशन मन्दिर आगरा,1963

2.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. जाती व्यवस्था से आप क्या समझते हैं? जाति व्यवस्था की विभिन्न विषेशताओं का उल्लेख कीजिये
2. भारतीय ग्रामीण समाज में जाति व्यवस्था के विभिन्न कार्यो की विवेचना कीजिये।
3. जजमानी व्यवस्था आप क्या समझते हैं? वर्तमान सन्दर्भ में इस व्यवस्था की प्रासंगिकता का उल्लेख कीजिये।

इकाई 3

कृषक समाज एवं लघु समुदाय

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 कृषक समाज की अवधारणा
3.3 कृषक कौन हैं
3.4 कृषक समाज की पारिभाषिक व्याख्या
3.5 कृषक समाज की विशेषताएँ
3.6 भारत में कृषक समाज
3.7 लघु समुदाय की अवधारणा : परिभाषा एवं विशेषताएँ
3.8 भारत में लघु समुदाय
3.9 लघु समुदाय के अध्ययन का महत्व
3.10 कृषक समाज एबं लघु समुदाय का तुलनात्मक अध्ययन
3.11 सारांश
3.12 सन्दर्भ ग्रन्थ
3.13 अभ्यासार्थ प्रश्न

3.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप -

- कषक वर्ग के बारे में जान सकेंगे
- कृषक बर्ग की अवधारणा का विश्लेषण' कर सकेंगे
- भारत में कृषक समाज की स्थिति की व्याख्या कर सकेंगे
- भारत में लघु समुदाय के अध्ययन की आवश्यकता एवं उपयोगिता की विवेचना कर सकेंगे

3.1 प्रस्तावना

ग्रामीण समाजशास्त्र एक विशिष्ट शाखा के रूप में समाजशास्त्र में लोकप्रिय रहा है ग्रामीण समाजशास्त्र को अनेक समाजशास्त्रियों ने अपने अध्ययनों के माध्यम से समृद्ध बनाया है। इन्हीं विस्तृत अध्ययनों के आधार पर कुछ बुनियादी अवधारणाएँ समाजशास्त्र में उभर कर सामने आयी है. जिनके माध्यम से ग्रामीण समाज को भली प्रकार समझा जा सकता है। इन अवधारणाओं में सम्मिलित है : ग्रामीण समाज, ग्रामीण समुदाय, कृषक समाज, लघु समुदाय, लोक संस्कृति, जाति संरचना जजमानी व्यवस्था ग्रामीण नेतृत्व इत्यादि।

हम इस इकाई में मुख्य रूप से दो अवधारणाओं को समझने का प्रयास करेंगे। वे हैं :

(1) कृषक समाज, और

(2) लघु समुदाय।

3.2 कृषक समाज की अवधारणा

जैसा हमने उपर लिखा है कि ग्रामीण समाज का मुख्य रूप से समबन्ध कृषि और कृषि से जुड़े हुए कार्यो से माना जाता है। इसी कारण कृषक समाज (Peasant Society) एक मुख्य अवधारणा के रूप में उभर कर सामने आया है। भारत के साथ-साथ ईथोपिया, ब्राजील, युगोस्ताविया इत्यादि राष्ट्रों को कृषक समाज के साथ जोडा गया था। बस्तुत: वे समाज जिन्हें कृषक समाजों में सम्मिलित किया गया है, अनेक जटिलताओं एवं स्तरीकरण के जटिल स्वरूपों से युक्त होते हैं। इन समाजों में अनेक प्रकार के वर्ग व श्रेणियाँ पायी जाती है। बहुत से वर्ग कृषि कार्यो के साथ नहीं जुडे होते हैं अथवा अकृषिक कार्यो के साथ उनका संबन्ध होता है। इस कारण हम किसी भी समूर्ण राष्ट्र को कृषक समाज की श्रेणी में नहीं रख सकते हैं। हम भारतीय समाज को कृषक समाज नहीं कह सकते।

ग्रामीण समाज कृषक समाज का भौतिक स्थान है। आद्रे बताई कहते हैं कि यद्यपि कुछ समाजों को कृषक समाज के रूप में चित्रित करना लाभदायक हो सकता है, परन्तु यह संदेहजनक हो सकता है कि कोई परम्परागत भारत के लिए इस बात को माने, जहाँ एक ओर वृहद् जातीय संस्तरण पाया जाता है तो दूसरी ओर जटिल कृषि संस्तरण। इनका यह भी कहना है कि सामान्यतया भारतीय समाज को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जाता है (1) नगरीय समाज, (2) कृषक समाज व (3) जनजातीय समाज। इस प्रकार कृषक समाज जनजातीय समाज से भिन्न है। अत: ऐसे गैर जनजातीय गाँवों से मिलकर कृषक समाज का निर्माण होता है। पर इस पर समाजशास्त्रियों में विवाद है। अधिकांश विद्वानों की मान्यता है कि गैर-जनजातीय समाज को हम ग्रामीण समाज कह सकते हैं। कृषक समाज की अवधारणा को समझने के लिये यह आवश्यक है कि संमूर्ण ग्रामीण समाज में पाये जाने वाले विभिन्न प्रकार के समबन्धों की प्रकृति को समझा जाये। ग्रामीण जीवनमें पारस्परिक संबन्ध आज भी बहुत बडी मात्रा में भूमि के सामिल, काश्तकारी व्यवस्था, जाति संरचना आदि से समुचित है। इन्हीं विशेषताओं के आधार पर कृषक समाज की अवधारणा को स्पष्ट किया जा सकता है।

कृषक समाज की अवधारणा को व्यापक रूप से समझने के लिये यह आवश्यक है कि पहले हम कृषक किसे कहते हैं? या कृषक वर्ग को समझें।

3.3 कृषक कौन है

कृषक एवं कृषक वर्ग की अवधारणा पर चेम्बर्स तवन्तिएथ सेन्तुरी डिक्सनेरी में लिखा है कि :

एक कृषक वह है, जो एक ग्रामीण है, एक देहाती है, जिसका व्यवसाय ग्रामीण कार्य है और कृषक वर्ग वह है, जिसमें कृषक या भूमि को जोतने वाले देहाती श्रमिकों का समूह आता है।

प्रसिद्ध समाजशास्त्री आन्द्रे बैतई ने अपनी पुस्तक सिक्स ऐसेज इन कम्पेरेटिब सोशियालॉजी में कृषक की तीन बिशेषताओं को प्रस्तुत किया है, वे हैं :

(1) कृषक वह है जो भूमि से जुडा होता है। वह न केवल भूमि पर रहता है, बल्कि उसे अपने परिश्रम से उपयोगी व फलदायक बनाता है। कानूनी दृष्टि से वह भूमि का स्वामी उसे किराये पर जोतने बाला या बिना भू-मामी अधिकार के एक श्रमिक हो सकता है, लेकिन इन सभी स्थितियों में वह अपनी आजीविका श्रम द्वारा कमाता है। कुछ लोग कृषक शब्द भू-स्वामी किसानों के लिए प्रयोग में लाते हँ तो कुछ अन्य इसमें किराये पर भूमि जोतने वालों या भूमिहीन श्रमिकों को भी सम्मिलित करते हैं।

(2) सामान्यत: ऐसी मान्यता है कि अधिकांश समाजों में कृषकों की स्थिति भिन्न होती है। अधिकांश लोगों की यह मान्यता है कि कृषक परिश्रमी, सरल तथा मितव्ययी होते हैं, लेकिन वे यह भी स्वीकार करते हैं कि उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा उच्च नहीं होती है। कृषक वर्ग के लिए सामान्यतया यह मान लिया जाता है कि यह वर्ग कुलीन वर्ग के विपरीत होता है। यहाँ पर हम कुलीन वर्ग को उस श्रेणी में रखते हैं जो भूमि द्वारा अपनी आजीविका कमाता है। लेकिन वह यह आजीविका स्वयं को श्रम संबंधी कार्य में लगाये बिना ही कमाता है। जा हम स्तरीकरण के संदर्भ में सोचते हैं, तो कृषक वर्ग की स्थिति पर न केवल आर्थिक वर्ग की दृष्टि से बल्कि सांस्कृतिक दृष्टि से भी विचार करते हैं। इस वर्ग के लोग भूमि के स्वामी होने के कारण उनकी आय भी कम होती है कि दे अपने परिवार का भरण-पोषण आसानी से नहीं कर पाते हैं। इसी प्रकार कृषक को अशिक्षित व असभ्य मी कह दिया जाता है। उनके लिये यह धारणा बना ली जाती है कि वे गंवार, मंदबुद्धि, असभ्य, निरक्षर और सभ्य जीवन शैली से दूर हैं।

(3) तीसरी धारणा यह है कि कृषकों को मजदूरों के समकक्ष या उनका पूरक माना जाता है। ऐसा मानने से यह स्पष्ट होता है कि कृषकों का विभिन्न वर्गों द्वारा शोषण होता है।

आन्द्रे बैतई ने इन तीन आधारों पर कृषकों का विश्लेषण किया. इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि संपूर्ण भारत राष्ट्र के लिए कृषक समाज शब्दावली का प्रयोग अनुपयुक्त हो जाता है। स्वयं आन्द्रे बैतई इस मत के हैं कि भारतीय समाज के सम्पूर्ण ग्रामीण खण्ड के लिए भी कृषक समाज' जैसी शब्दावली अनुपयुक्त है। हो सकता है कि अन्य समाजों के ग्रामीण क्षेत्र कृषक समाज की शब्दावली को शामिल करते हों।

3.4 कृषक समाज की पारिभाषिक व्याख्या

ऊपर हमने यह समझने का प्रयास किया है कि कृषक किसे कहते हैं। इससे यह स्पष्ट हो गया कि कृषक मुख्य रूप से गाँवों में पाये जाते हैं और इनका मुख्य व्यवसाय कृषि होता है। यहाँ हम कृषक समाज की परिभाषा और उसके अर्थ को देखने का प्रयास करेंगे। कृषक समाज की अवधारणा वस्तुत: जितनी सरल दिखायी देती है, इतनी सरल नहीं है। कृषक समाज से जुडे हुए कई ऐसे शब्द हैं जो हमारे दिमाग में भ्रांति पैदा करते हैं जैसे कृषक वर्ग अथवा कृषक समुदाय। इन अवधारणाओं का स्पष्टीकरण मानवशास्त्रियों व समाजशास्त्रियों ने भिन्न-भिन्न तरह से किया है। सामाजिक मानवशास्त्री कभी-कभी कृषक समाज को एक 'अवशिष्ट

श्रेणी के रूप में स्पष्ट करते है, इससे अभिप्राय यह है कि कृषक समाज के अन्तर्गत उन सभी समाजों को सम्मिलित किया जाता है जो स्पष्ट रूप से न तो जनजातीय है और न ही औद्योगिक। वास्तविक रूप से प्रत्येक राष्ट्र में कृषक समाज की अपनी-अपनी बिशेषताएँ हैं, अत: प्रत्येक का संदर्भ अलग-अलग है, जो एक-दूसरे के बीच अन्तर स्पष्ट करती है ।

ए.एल. क्रोबर ने कृषक समाज को परिभाषित करते हुए कहा है कि :

कृषक समाज मध्यवर्ती स्थिति में है, इसके एक तरफ जनजातीय समाज है तो दूसरी तरफ नगरीय समाज।

इसी प्रकार ई. नारबेक ने कृषक समाज को समझाते हुए लिखा है कि ' कृषक समाज एक बडे स्तरीकृत समाज का वह उपसमाज है, जो या तो पूर्ब औद्योगिक अथवा आंशिक औद्योगिक है।

उपर्युक्त परिभाषाओं को देखें तो ज्ञात होगा कि ये दोनों किसी भी प्रकार से कृषक समाज को स्पष्ट रूप से परिभाषित नहीं करती है। ये अनेक दृष्टि से असंगत प्रतीत होती है। इस प्रकार कृषक समाज को परिभाषित करना एक जटिल कार्य है। इसलिए यह आवश्यक है कि हम यहाँ पर उन अध्ययनों का उल्लेख करें जिन्होंने कृषक समाज की अवधारणा पर प्रकाश डाला है।

रोबर्ट रेडफील्ड को इस समाज की अवधारणा को विकसित करने का श्रेय जाता है। इन्होंने अपनी पुस्तक पीजेन्ट सोसाइटी एण्ड कलर की रचना की। इसमें इन्होंने कृषक समाज को परिभाषित करते हुए लिखा है कि :

वे ग्रामीण लोग जो जीवन निर्वाह के लिए अपनी भूमि पर नियंत्रण बनाये रखते हैं और उसे जोतते हैं तथा कृषि उनके जीवन के परम्परागत तरीके का एक भाग है, और जो कुलीन वर्ग तथा नगरीय लोगों की ओर देखते हैं एवं उनसे प्रभावित होते हुए भी उनसे कुछ अधिक सभ्य होते है।

रेडफील्ड की इस परिभाषा का विश्लेषण करें तो कृषक समाज से सम्बन्धित दो मुख्य तत्व स्पष्ट होते हैं. (1) ग्रामीणों के जीवन जीने का तरीका और (2) अन्य स्तर के लोगों के साथ उनके सम्बन्धों की प्रकृति। इस प्रकार कृषक समाज के अन्तर्गत भूमि को जोतने वाले उन समस्त ग्रामीणों को शामिल किया जाता है, जिनके जीवन निर्वाह का एक सामान्य तरीका होता है। कुलीन व नगरीय स्तर के लोगों के साथ उनका सम्बन्ध एक भिन्नता लिए होता है। रेडफील्ड ने कृषक' शब्द की भी व्याख्या की है, उन्होंने कहा कि कृषक वे छोटे उत्पादनकर्ता हैं जो केवल अपने उपभोग के लिए ही उत्पादन करते हैं।" आगे चलकर इन्होंने कृषक समाज के सम्बन्ध में लिखा कि -

कृषक समाज के अन्तर्गत केबल उन्हीं छोटे उलंघनकर्ताओं को सम्मिलित किया जा सकता है, जो अपनी आजीविका एवं जीवनयापन के ढंग को भूमि को जोतकर ही नियंत्रित करते हैं।

रेडफील्ड ने कृषक उन्हें कहा है जो छोटे खेतिहर लोग हैं तथा केवल अपने उपभोग के लिए उत्पादन करते हैं। इनके अनुसार किसान (Farmer) वे हैं जो बाजार के लिए उत्पादन करते हैं।

रेडफील्ड की परिभाषा से निकलकर आया दूसरा तत्व कृषकों का किसी कसे या नगर के अभिजात वर्ग के साथ स्थापित होने वाले सम्बन्धों की प्रवृत्ति है। कृषक समाज के सदस्य कुलीन वर्ग अथवा अभिजात वर्ग की जीवनशैली से प्रभावित होते हैं और अपने आपको उनसे निम्न मानने की मानसिकता के शिकार होते हैं। कुलीन वर्ग केवल नगरों तक ही सीमित नहीं है, यह तो छोटे-छोटे गाँवों एवं कस्बों में भी पाया जाता है। आन्द्रे बैतई का कहना है कि :

निम्न स्तर वाले कृषकों एवं उच्च स्तर वाले अ-कृषकों के मध्य विभाजन गाँव या कस्बे या नगर के बीच अन्तर को अबिव्यक्त नहीं करता, बल्कि गाँव के बीच भेदन को स्पष्ट करता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कृषकों के गैर-कृषकों के साथ संबन्ध पाये जाते हैं, किन्तु ये गैर-कृषक गाँव व कस्बे के ही होते हैं। ऐसी वास्तविकता भारतीय गाँवों में तो देखी जा सकती है।

3.5 कृषक समाज की विशेषताएँ

बहुत से समाजशास्त्रियों ने कृषक समाज की विशेषताओं का उल्लेख किया है ताकि इनके आधार पर कृषक समाज को समझा जा सके। मुख्य रूप से रोबर्ट रेडफील्ड, तियोडोर शनीन, नारबेक आन्द्रे बैतई इत्यादि ऐसे समाजशास्त्री हैं, जिन्होंने ग्रामीण समाजशास्त्र में अधिकृत रूप से कार्य एवं अनुसंधान किया है। यहाँ हम कुछ समाजशास्त्रियों द्वारा दी गई कृषक समाज की विशेषताओं का उल्लेख करेंगे :

रोबर्ट रेडफील्ड ने अपनी कृति पीजेन्ट सोसाइटी एण्ड कल्चर के अन्तर्गत कृषक समाज की विशेषताओं को प्रस्तुत किया है। उन्हें हम यहाँ प्रस्तुत करेंगे :

1. कृषक समाज अन्य समाजों की तुलना में एक समरूप समाज है। इस समाज के सदस्यों की जीवनशैली एक जैसी होती है, आर्थिक दशा में भी थोड़ा-बहुत अन्तर होता है। कुल मिलाकर ऐसा समाज है जिसमें समरूपता पायी जाती है।
2. कृषक समाज के सदस्यों की आजीविका का मुख्य स्त्रोत भूमि होता है। भूमि पर नियंत्रण होना इनकी एक मुख्य बिशेषताओं है। उसी भूमि पर कृषि कार्य करना, उसी से अपनी अजीविका चलाते हैं।
3. कृषक समाज ऐसा समाज है, जिसमें स्तरीकरण सरल होता है। बहुत आंशिक विविधता इनमें दिखायी देती है। ऊपर से यह समाज अबिभेदीकृत व अस्तरीकृत दिखायी देता है।
4. कृषक समाज नगरीय व औद्योगिक समाजों से भिन्न होता है। नगर में रहने वाले अभिजात वर्ग से ये प्रभावित हो सकते हैं।
5. आर्थिक आधार पर कृषक समाज को अन्य समाजों से पृथक किया जा सकता है।

   कृषक समाज की अवधारणा को तियोडोर ने भी स्पष्ट किया है। इन्होंने एक पुस्तक ग्रामीण समाज के संदर्भ में सम्पादित की है। यह पुस्तक 1971 में प्रकाशित हुई, जिसका नाम

पीजेन्ट एण्ड पीजेण्ट सोसाइटीज है। इन्होंने इस पुस्तक में कृषक समाज की कुछ विशेषताओं को प्रस्तुत किया है, वे हैं :

1. कृषक परिहार की भूमि या खेत बहुआयामी सामाजिक संगठन की एक मौलिक इकाई होती है। यानी एक कृषक परिबार उपभोग एबं उत्पादन की इकाई के रूप में कार्य करता है। परिबार ही सामाजिक संगठन की ऐसी इकाई होती है, जहाँ कृषक के कार्य और अवकाश के क्षण अतीत होते हैं। कृषक परिवार भी श्रम का प्रबन्धन करता है और खेत उपयोग की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।
2. भूमि ही आजीविका का प्रमुख साधन है जो एक कृषक के उपयोग की आवश्यकताओं के सबसे बडे हिस्से को पूर्ण करती है। कहने का तात्पर्य है कि बिना भूमि के कृषक समाज की कल्पना नहीं की जा सकती है।
3. कृषक समाज की अपनी एक विशिष्ट संस्कृति होती है। यह संस्कृति लघु समुदायों के जीवन के तरीके से विशेष रूप से जुडी होती है।
4. कृषक समाज की आर्थिक स्थिति निम्न होती है तथा इस समाज पर बाह्य समूहों का स्पष्ट प्रभाव दिखायी देता है।

इस प्रकार रोबर्ट रेडफील्ड तथा शनीन ने कृषक समाज की विशेषताओं का उल्लेख किया। दोनों ही समाजशास्त्रियों ने कृषक व गैर-कृषक समाज के बीच सम्बन्धों की व्याख्या की है। इन वर्गों के बीच बाह्य ब आन्तरिक व्यक्तियों के बीच जो समबन्ध होते हैं, दे पाये जाते हैं। दोनों समाजशास्त्रियों ने यूरोपीय गाँव के संदर्भ में कृषक समाज को समझाया है। लेकिन कृषक समाज की कुछ सर्वमान्य विशेषताओं व परिभाषा को प्रस्तुत करने का भी प्रयास किया है। इन्होंने कहा कि कृषक समाज सरल और अविभेदीकृत होते हैं।

ई. नोरबेक ने सामाजिक विज्ञानों के शब्दकोष में कृषक समाज को समझाते हुए कहा है कि कृषक समुदाय लघु उत्पादकों का वह समुदाय है जो केवल अपने उपभोग के लिए ही उत्पादन करता है। इस समुदाय में बचत की प्रवृत्ति बहुत ही कम पायी जाती है, मुद्रा का प्रयोग भी बहुत सीमित होता है, व्यावसायिक बिशेषीकरण नहीं होता है। इस प्रकार नारबेक ने कुछ बिशेषताओं को प्रस्तुत किया है। लेकिन इनकी बिशेषताओं का प्रमुख आधार आर्थिक ही रहा है। इस कारण इन्हें अधिक उपयोगी नहीं माना जा सकता है।

जब हम भारतीय गाँवों की बात करते हैं तो पाया जाता है कि यहाँ पर समाज में बहुत अधिक स्तरीकरण एवं विभेदीकरण है। जबकि यूरोपीय समाज में कृषक समाज को अविभेदीकृत व अस्तरीकृत माना जाता है। भारत में गाँव कृषक समाज से युक्त है। लेकिन ग्रामीण समाज की प्रकृति काफी जटिल है। आन्द्रे रैतई ने भारतीय गाँवों की प्रकृति के संदर्भ में स्पष्टीकरण देते हुए लिखा है कि :

भारतीय गाँवों को रेडफील्ड, शनीन एबं नोरबेक के संदर्भ में नहीं देखा जा सकता है, क्योंकि उन्होंने यूरोपीय गाँवों का अध्ययन किया है, जबकि भारतीय गाँवों की प्रकृति एकदम भिन्न है। इसलिए यदि भारतीय गाँवों को समझना है तो आर्थिक आधार के साथ-साथ सामाजिक-सांकृतिक आधारों को मी ध्यान में रखकर अध्ययन किया जाना चाहिए।

आन्द्रे बैतई ने तीन विशेषताओं को प्रस्तुत किया है, जिनके आधार पर भारत में कृषक समाज की स्थिति स्पष्ट हो सकती है :

1. कृषक का सम्बन्ध भूमि से होता है। एक कृषक भूमि को ही अपने श्रम का आधार मानता है, लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि वह भूमि का स्वामी हो। एक व्यक्ति जो भूमिहीन है, श्रमिक हो, भूमि का स्वामी हो अथवा किराये पर भूमि को जोतता हो, कृषक कहलाता है।
2. सामान्यतया समाज में कृषक की स्थिति भिन्न होती है, उसे ऐसा व्यक्ति कहा जाता है जो परिश्रमी हो जिसका जीवन सादा हो जो मितव्ययी हो और अन्य समूहों की तुलना में उसकी प्रस्थिति निम्न होती है।
3. कृषक को सामान्यतया एक श्रमिक के रूप में समझा जाता है। वास्तद में कृषक व श्रमिक दोनों आर्थिक शोषण के शिकार होते हैं। इसीलिए इन दोनों को एक ही श्रेणी में रखा जाता है।

इस प्रकार आन्द्रे बैतई ने कृषक समाज को समझाने का प्रयास किया है।

3.6 भारत में कृषक समाज

पिछले पृष्ठों में हमने विमिन्न विद्वानों द्वारा दी गई कृषक समाज की परिभाषाओं और बिशेषताओं को समझने का प्रयास किया। कृषक समाज की कुछ बुनियादी विशेषताएँ तो समान होती है, लेकिन सांस्कृतिक भिन्नता के कारण व क्षेत्रीय संदर्श पृथक् होने के कारण कुछ विशेषताएँ नई जुड जाती हैं। यूरोप का कृषक समाज और भारत के कृषक समाज में कुछ भिन्नता है। यहाँ हम भारत में कृषक समाज की अवधारणा को समझने का प्रयास करेंगे।

भारतीय समाजशास्त्री आन्द्रे बैतई का योगदान ग्रामीण समाजशास्त्र अर्थात् कृषक व्यवस्था पर अधिकृत रूप से रहा है। इन्होंने तमिलनाडु के तंजारे जिले के अग्रहरम गाँव का अध्ययन किया। इस गोंद को आन्द्रे बैतई ने श्रीपुरम के नाम से पुकारा है। श्रीपुरम गाँब में उस समय 349 परिवार रहते थे। इस गाँव की सामाजिक संरचना को प्रस्तुत किया है। इन्होंने कहा कि यहाँ कि सामाजिक संरचना काफी विभेदीकृत और स्तरीकृत है। इन परिवारों में 92 परिवार ऐसे थे जो ब्राह्मण थे जो एक पृथक् मोहल्ले में रहते थे। इन्हें हम किसी भी दृष्टि से कृषक समाज में नहीं रख सकते, क्योंकि गाँव के कृषकों से ये लोग भोजन, रहन-सहन, वस्त्र व बोलचाल की दृष्टि से भिन्नता लिए हुए हैं। ब्राह्मण जाति का परम्परागत व्यवसाय कृषि नहीं है, अथवा ये भूमि जोतने का कार्य नहीं करते हैं, जबकि दूसरी तरफ कृषकों की अनिवार्य शर्त यह है कि वे भूमि जोते। ब्राह्मण भू-स्वामी होते हैं जो भूमिहीनों व कृषकों को साझे में दे देते हैं। इनका मुख्य व्यवसाय तो अध्ययन-अध्यापन और धार्मिक अनुष्ठानों को सम्पन्न करना है। ये लोग तमिल भाषा के बजाय संस्कृत भाषा को अधिक महत्व देते हैं। श्रीपुरम गाँव की तरह संपूर्ण भारत में ब्राह्मण गाँव भी पाये जाते हैं। इन गाँवों में ब्राहमण के खेती करने पर परम्परागत प्रतिबन्ध पाये जाते हुँ। अत: ब्राह्मणों को किसी भी तरह से कृषक वर्ग की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है। आन्द्रे बैतई ने यह भी कहा कि ब्राहमणों के अतिरिक्त राजपूत, राजा-महाराजा ठाकुर, जागीरदार. सामन्त आदि भी पाये जाते हैं। इन जातियों ब वर्गो का भी कृषि के

साथ प्रत्यक्ष संबन्ध नहीं होता है। इनके पास जमीन तो होती है पर स्वयं खेती न करके किराये पर खेती जुतवाते हैं। गाँवों में मुसलमान भी पाये जाते हैं, लेकिन वे भी स्वयं खेती नहीं करते।

श्रीपुरम के अध्ययन में वैतई ने पाया कि ब्राहमणों के अतिरिक्त दस्तकार एवं अन्य लोग खेती करने बाले रहते हैं। यहाँ खेती करने वाले तीन समूह पाये जाते हैं (1) बेलालास (2) कालास तथा (3) याड़यायिस। ये तीनों वर्ग मिलकर कृषक वर्ग का निर्माण करते हैं। आन्द्रे बैतई ने अपने क्षेत्रीय अध्ययन के आधार पर बताया कि यह सही है कि गाँव में कुछ जातियाँ हैं, जिन्हें गैर कृषक एवं कुछ ऐसी जातियाँ जिन्हें कृषक कहा जा सकता है। परन्तु ग्रामीण सामाजिक संरचना को सही प्रकार से समझने के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक जाति में पाये जाने. बाले आन्तरिक विभेदीकरण तथा स्तरीकरण को ध्यान में रखा जाये।

आन्द्रे बैतई के अनुसार सही रूप में यही परिवार कृषक परिवार की श्रेणी में रखा जा सकता है, जिसके सभी सक्रिय सदस्य पुरुष एवं स्त्रियाँ दोनों ही खेत पर काम करते हैं। बहुत से गाँव ऐसे हैं, जहाँ स्त्रियों को बाहर कार्य करने की आज्ञा नहीं होती है। ग्रामीण भारत में समाज के विभिन्न स्तर के स्त्रियो द्वारा घर के बाहर किये जाने वाले कार्यो के सम्बन्ध में निश्चित रूप में कुछ कहना कठिन है। ग्रामीण भारत में परिवार की स्थिति के निर्धारण में इस बात का विशेष महत्व है कि परिहार की महिलाओं को घर से बाहर कार्य करने की स्वीकृति है अथवा नहीं। भारतीय गाँवों में यह भी पाया गया कि जब स्वयं भू-स्वामी परिवार के पुरुष खेत पर काम करना आरंभ कर देते हैं तो सामाजिक दृष्टि से उस परिवार की स्थिति एकदम निम्न हो जाती है।

इस सम्पूर्ण विवेचना से यह स्पष्ट है कि गाँव में रहने वाले सभी सदस्यों को हम कृषक नहीं कह सकते। भारतीय गाँवों की जनसंख्या काफी विभेदीकृत एवं स्तरीकृत है और यहाँ कई ऐसे स्तरों के लोग पाये जाते हैं, जिन्हें किसी भी दृष्टि से कृषक नहीं कहा जा सकता है। भारत में विभिन्न प्रकार के गाँव पाये जाते हैं, कुछ गाँव स्पष्टत: कृषक गाँव है तो कुछ ऐसे गाँव भी हैं, जहाँ अकृषक लोग भी पाये जाते हैं। ऐसे अकृषक समूहों का आर्थिक सामाजिक एवं राजनीतिक रूप से काफी प्रभुत्व पाया जाता है। वहुत से गाँवों में कृषक वर्ग व कुलीन वर्ग दोनों पाये जाते हैं। यह कुछ गाँबों का सामान्य लक्षण है, तो कुछ गाँवों का बिशिष्ट लक्षण।

कृषक समाज पर बी.आर. चौहान ने भी अपना अध्ययन राजस्थान के एक गाँव राणाबतों की सादडी में किया है। इन्होंने कृषक समाज की अवधारणा से सम्बंधिक कुछ बिन्दुओं को प्रस्तुत किया है। वे हैं

1. यदि गाँव के सभी कृषक नकद फसलें लेते हैं, जिनसे नगद राशि प्राप्त होती है तो ऐसी स्थिति में कृषक (Peasant) व किसान (Rarmer) का अन्तर समाप्त हो जाता है।
2. कृषक समाज का आर्थिक विभाजन तो स्पष्ट है, लेकिन इसमें सामाजिक-आर्थिक तथा प्रशासनिक संरचना को महत्व नहीं दिया गया है। इन संरचनाओं को समझे बिना ग्रामीण समाज को समझना कठिन है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भारतीय व यूरोपीय विद्वानों द्वारा जिस प्रकार से कृषक समाज को समझाया है. वह पृथक्-पृथक् हैं। भारतीय गाँवों की परिस्थितियाँ विदेशी गाँवों

की परिस्थितियों से भिन्न है। आन्द्रे बैतई स्वयं कहते हैं कि अस्पष्ट और अनिश्चित अवधारणा जिसका समाजशास्त्रियों एवं सामाजिक मानदशास्त्रियों में काफी चलन हो चुका है, इस प्रकार के शोध में बाधक के रूप में है। अत: कृषक समाज को भारतीय संदर्भ में समझना ही आवश्यक है।

बोध प्रश्न -1

1. कृषक समाज से आप क्या समझते हैं? समझाये ।
2. कृषक किसे कहते हैं? कृषक व अ- कृषक में अन्तर कीजिए ।
3. कृषक समाज का भारतीय संदर्भ में विश्लेषण कीजिये ।
4. कृषक समाज की विशेषताएँ दीजिए ।

3.7 लघु समुदाय की अवधारणा : परिभाषा एवं दिशेषताएँ

अब हम यहाँ लघु समुदाय की अवधारणा को स्पष्ट करेंगे, क्योंकि ग्रामीण समाजशास्त्र की एक बुनियादी अवधारणा है। इस सम्बन्ध में मानवशास्त्र विश्बकोष में लघु समुदाय को इस प्रकार परिभाषित किया है :

एक ऐसा समुदाय जो आकार की दृष्टि से छोटा किन्तु सामाजिक जीवन की दृष्टि से विशिष्टता, समरूपता एवं आत्मनिर्भरता की विशेषताएँ लिए होता है, लघु समुदाय कहलाता है।

इस अवधारणा के रचनाकार रोबर्ट रेडफील्ड रहे हैं। इन्होंने कृषक समुदाय के अपने अध्ययन के आधार पर इस अवधारणा को विकसित किया है। रेडफील्ड के अनुसार बिशिष्टता, लघु समुदाय का आधार है और यह समान सुकृति और समूहिक चेतना में अभिव्यक्त होता है। यह चेतना ही अपने और पराये में भेदकर अपनों को एक सूत्र में पिरोती है। इसके सदस्यों की भाषा, वेशभूषा, खान-पान, जीवन-शैली और विश्व दृष्टि आदि सभी कुछ में एक प्रकार की समानता और सादृश्यता होती है।

मानव जीवन के सम्पूर्ण इतिहास में लघु समुदायों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इसका प्रमुख कारण यह है कि मनुष्य प्रारंभ से ही अधिकांशत: इन्हीं समुदायों में रहता आया है। ये लघु समुदाय ही मानव निवास के प्रमुख स्वरूप रहे हैं। लघु समुदायों से ही वृहद् समुदायों का निर्माण हुआ है। लघु समुदाय जहाँ विशेषीकृत, लघु आकार और सरल होते थे, वही जनसंख्या वृद्धि के कारण वृहद् समुदाय उभरने लगे, जहाँ मानव समूह अधिक संगठित एबं बड़े आकार के होते गये, उनके द्वारा नगरों एवं दूसरे विशेषीकृत समूह के रूप में विकसित होने लगे। आज विश्व की अधिकांश जनसंख्या लघु समुदायों में निवास करती है। लघु समुदाय को एक वैज्ञानिक अवधारणा के रूप में यद्यपि मानवशास्त्रियों ने परिभाषित करने का प्रयास किया। आगे चलकर समाजशास्त्रियों ने लघु समुदायों पर अध्ययन कर इस अवधारणा को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। मेक्सिको, चीन, जापान तथा भारत में लघु समुदायों पर काफी अध्ययन हुए हैं। रोबर्ट रेडफील्ड ने चनाक्रोम नामक गाँव के अध्ययन के आधार पर लघु समुदाय की अवधारणा को समझाने का प्रयास किया है।

रेडफील्ड ने आगे चलकर इस लघु समुदाय के बारे में कहा है कि लघु समुदाय वह छोटा समुदाय है जिसमें सामुदायिक जीवन की समस्त विशेषताएँ पर्याप्त मात्रा में विद्यमान

होती है तथा जो मानव जीवन के विकास की अत्यन्त महत्वपूर्ण अवस्था है। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि लघु समुदाय का मानवता के संपूर्ण इतिहास में मानवीय निवास का सबसे स्पष्ट योगदान रहा है।

रोबर्ट रेडफील्ड ने यद्यपि लघु समुदाय की कोई एक सर्वमान्य परिभाषा प्रस्तुत नहीं की बल्कि कुछ मुख्य बिशेषताओं के आधार पर लघु समुदाय को समझाया है। इन्होंने अपनी एक अन्य पुस्तक लिटिल कम्यूनिटी में लिखा है कि लघु समुदाय में मुख्य रूप से निम्नलिखित चार तत्व या विशेषताएँ पायी जाती हैं, वे हैं :

1. **लघु समुदाय में विशिष्टता का गुण पाया जाता है:** लघु समुदाय में अपनी एक विशिष्टता होती है। इस समुदाय के सदस्य यह जानते हैं कि उनका समुदाय कहीं प्रारंभ होता है और कहाँ समाप्त होता है। लघु समुदाय के सदस्यों में हम की भावना व समूहिक चेतना पायी जाती है। अगर कोई अजनबी वक्ती लघु समुदाय में प्रवेश करता है तो उसे इसकी विशिष्टता का गुण स्पष्ट रूप से दिखायी देता है। लघु समुदाय गाँव में निवास करता है तो उसे पता है कि गाँव की सीमा कहीं से प्रारंभ होती है और कहाँ समाप्त होती है। यह भी निश्चित होता है कि विभिन्न जातियों के निवास स्थान, खेत-खलिहान, जानवरों के रहने का स्थान, चारागाह कहाँ पर है? ऐसे समुदायों के सदस्य अपनी बिशिष्टताओं को नहीं समझते पर उन्हें अपनी परम्परा का अंग मानते हैं। इसी कारण लघु समुदायों के सदस्यों व्यक्तित्व का निर्माण एक विशेष प्रकार से हो जाता है जो उन्हें अन्य समुदायों से पृथक् करता है। इन समुदायों की विशिष्टता कुछ अन्य तत्व भी प्रदान करती है, जैसे इनके देवी-देवता और उनसे संबन्धित धार्मिक अनुष्ठान इत्यादि। इसी कारण विशिष्टता प्रत्येक लघु समुदाय की अपनी प्रथम विशेषता होती है।
2. **लघु आकार** - लघु समुदाय जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है कि वह लघु होता है यानी छोटा। इसका आकार इतना छोटा होता है कि वह व्यक्तिगत रूप से अवलोकन की इकाई होती है। इसका लघु आकार होने के कारण सदस्यों के बीच प्राथमिक सम्बन्ध पाये जाते हैं और प्रत्यक्ष रूप से एक दूसरे से जुड़े होते हैं। साथ ही समाजों में घनिष्ठता पायी जाती है। इसीलिए कई बार भारतीय गाँवों को लघु समुदाय कहा जाता है।
3. **समरूपता** - रेडफील्ड ने लघु समुदाय की तीसरी महत्वपूर्ण विशेषता समरूपता बताई है। समरूपता यानी सामंजस्यता। उन्होंने कहा कि इसमें समान लिंग एवं आयु के समस्त मनुष्यों के क्रिया-कलाप तथा मन:स्थितियाँ एक समान होती है तथा एक संतति की जीवन वृत्ति पूर्व की संतति की आवृत्ति मात्र है। इस प्रकार लघु समुदाय के सदस्यों के रहन-सहन, खान-पान, भाषा वेशभूषा, त्यौहार, प्रथा-परम्परा, आचार-बविचार, विश्वास, धर्म इत्यादि में समरूपता पायी जाती है। यह समरूपता ही सदस्यों में सामूहिक चेतना को सुदृढ़ करती है। व्यवहारों की यह समरूपता एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती है।
4. **लघु समुदायों में प्राय: आत्मनिर्भरता पायी जाती है** - इन लघु समुदायों में व्यक्ति अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेता है, अर्थात् व्यक्ति अपने जन्म से लेकर मृत्यु तक का संमूर्ण जीवन इन्हीं समुदायों में अतीत करता है। लेकिन आज समाज में व्यापक

परिवर्तन हो जाने के कारण भारत के अधिकांश गाँव व लघु समुदाय नहीं रहे हैं। रेडफील्ड ने कहा कि लघु समुदाय ही व्याक्ति के लिए सब कुछ होता है।

उपर्युक्त समस्त विशेषताओं का उल्लेख रोबर्ट रेडफील ने किया है। लेकिन ये समस्त विशेषताएँ किसी एक समुदाय में अनिवार्य रूप से पायी जाये, यह आवश्यक नहीं है। प्रत्येक गाँव में ये विशेषताएँ भिन्न-भिन्न मात्रा में पायी जाती है।

3.8 भारत लघु समुदाय

भारतीय संदर्भ में अगर हम लघु समुदायों के अध्ययन की बात करें तो बहुत से समाजशास्त्रियों ने इन समुदायों का विस्तार से अध्ययन किया है। इन समाजशास्त्रियों में मेकिम मेरिट, डी.एन मजूमदार एम.एन. - श्रीनिवास. ए.स.सी. दुबे तथा री. आर. चौहान सम्मिलित हैं। लघु समुदाय की अवधारणा का अध्ययन जब भारत में किया गया तर यह निष्कर्ष उभरकर सामने आया कि आकार की दृष्टि से भारतीय गाँव काफी छोटे हैं। इसके सदस्यों के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध तथा प्राथमिक संबंध पाये जाते हैं। एम.एन. श्रीनिवास ने लिखा कि भारत में प्रत्येक गाँब एक सुदृढ़ लघु समुदाय है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे से परिचित होता है। वी.आर. चौहान ने जब राणावतों की सादड़ी का अध्ययन किया तो पाया कि लघु समुदाय का आकार लघु होता है। इस बात को कहने का उनका आधार यह था कि उस गाँव की आबादी मात्र 640 थी। लेकिन जो दूसरा महत्वपूर्ण तत्व रेडफील्ड ने बताया कि लघु समुदाय में आत्मनिर्भरता पायी जाती है तो यहाँ बी.आर चौहान के अनुसार आत्मनिर्भरता का अभाव पाया गया।

भारत में लघु समुदायों को हम तब तक नहीं समझ सकते, जब तक कि रेडफील्ड द्वारा बतायी गयी, चारों विशेषताओं को यहाँ के लघु समुदायों पर लागू किया जाये। सबसे पहले हम लघु समुदाय की प्रथम विशेषता बिशिष्टता को देख सकते हैं। भारतीय गाँवों में बिशिष्टता के आधार पर गाँव का प्रत्येक व्यक्ति अपने गाँव की संरचना के बारे में जानता है। वह यह जानता है कि उसके गाँब का स्वरूप व भौगोलिक सीमा क्या है। वे जाति आधारित निवास स्थान, देवी-देवताओं, खेत-खलिहानों तथा चारागाह आदि के बारे में जानता है। इस प्रकार विशिष्टता के आधार पर मारतीय गाँवों को लघु समुदायों में रख सकते हैं।

इसी प्रकार लघु समुदाय की दूसरी विशेषता लघु आकार है। यदि भारत के गाँवों में इस बशेषता को लागू करें तो कह सकते हैं कि भारत के गाँवों पर यह पूरी तरह से लागू होती है क्योंकि बी.आर चौहान ने कहा कि भारतीय गाँव की जनसंख्या बहुत कम होती है। भारत में आज भी लगभग 55 प्रतिशत गाँव ऐसे हैं, जिनकी जनसंख्या 500 से कम है।

तीसरी विशेषता को रेडफील्ड ने लघु समुदाय में समरूपता बतायी है। इस बिशेषता को कुछ सीमा तक भारतीय गाँवों में देखा जा सकता है। समान मनोवृत्ति, धार्मिक कर्मकाण्ड की समानता व्यवहारों की समरूपता तथा समान सांकृतिक प्रतिबद्धता उनकी विशेषताएँ थी, लेकिन धीरे-धीरे भारतीय गाँवों की यह समरूपता बिभिन्नता में बदलती गयी है। आज अनेक प्रकार की असमानता भारतीय गाँवों में देखी जा सकती है। लेकिन वृहद् आधार पर अगर हम भारतीय गाँवों की तुलना नगरों से करें तो हम कह सकते हैं कि आज भी भारतीय गाँवों में समरूपता के

बिभिन्न स्वरूप दिखायी देते हैं। बी.आर चौहान ने कहा कि ग्रामीण जीवन से सम्बन्धित बिभिन्न पक्ष समान गीत से परिवर्तित नहीं होते हैं। कुछ क्षेत्रों व लोगों में परिवर्तन की गति अधिक तेज होती है तो कुछ में धीमी। गाँवों में कुछ जातियाँ ऐसी हैं जो नगरों की तरफ आकर्षित हो रही है और उनमें परिवर्तन की गति तेज है। यानी कुछ जातियों का आधुनिकीकरण होता जा रहा है। हम कह सकते हैं कि आज गाँवों में समरूपता के स्थान पर विजातीयताबढ़ती जा रही है। अत: भारतीय गाँवों में समरूपता का लक्षण धीरे-धीरे वि लीन होता जा रहा है।

चौथी विशेषता लघु समुदाय की आत्मनिर्भरता है। आज औद्योगीकरण, नगरीकरण व वैश्वीकरण के कारण इस विशेषता का निरन्तर अभाव होता जा रहा है। जनसंख्या वृद्धि के कारण आज भारतीय गाँवों का स्वरूप बदलता जा रहा है। इनमें आत्मनिर्भरता की कमी हो रही है। बहुत से ऐसे कृषक जिन्होंने महाजनों से ऋण ले लिया है, जिसे वे चुका नहीं पा रहे हैं, वे अन्यत्र जाकर बस गये हैं। गाँव में रोजगार की उपलब्धता नहीं होने के कारण कुछ भुमिहीन किसान और श्रमिक नगरों की तरफ कूच करने लगे हैं। इसी प्रकार पहले जातिगत आधार पर गाँवों की बसावट थी,अब उसमें भी परिवर्तन आया है। आज विभिन्न जातियों के लोग भी एक साथ रहने लगे हैं। इसके अतिरिक्त एक विशिष्ट जाति के निवास का आधार गाँव न रहकर चौखला हो गया है, यानी अनेक गाँवों तक क्षेत्र फैल गया है। आर्थिक निर्भरता व प्रशासन की दृष्टि से भी आज गाँव आत्मनिर्भर नहीं रहे हैं। यानी जिन गाँवों को हम लघु समुदाय कहते हैं. आज वे आत्मनिर्भर नहीं रहे हैं।

उपर्युक्त विशेषताओं के विवेचन के आधार पर हम यह निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि परम्परागत भारतीय गाँवों कस्बों व नगरों के लोगों के सम्बन्ध पाये जाते थे। भारतीय परिप्रेक्ष्य एक लघु समुदाय में रेडफील्ड द्वारा बतायी गयी प्रथम विशेषताएँ यानी विशिष्टता एबं लघु आकार तो पायी जाती है, तीसरी विशेषता समरूपता के बारे में भारतीय गाँवों में आंशिक रूप से पायी जाती है। अंतिम विशेषता आत्मनिर्भरता यह तो बहुत ही कम मात्रा में भारतीय लघु समुदायों में पायी जाती है।

3.9 लघु समुदाय के अध्ययन का महत्व

हमने ऊपर लिखा है कि लघु समुदाय की सार्वभौमिक परिभाषा व विशेषताएँ नही हो सकती है। स्थान व काल के आधार पर लघु समुदाय का स्वरूप मी बदल जाता है। हम स्वाभाविक रूप से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि लघु समुदाय आकार की दृष्टि से अत्यन्त लघु होने के बाद भी अनेक ऐसी विशेषताओं से युक्त होता है कि इसका अध्ययन एक सम्पूर्ण इकाई के रूप में किया जा सकता है। ग्रामीण समाज के अध्ययन में लघु समुदायों का अध्ययन एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। हम इसके महल को निम्न बिन्दुओं के आधार पर समझ सकते हैं :

(i) लघु समुदाय का अध्ययन न केवल अपने स्वयं के समुदाय के लिए बल्कि वृहद् समुदाय के लिए भी महत्वपूर्ण होता है। जब हम लघु समुदायों का अध्ययन करते है तो जो निष्कर्ष हमें प्राप्त होते हैं, उनके आधार पर वृहद् समुदायों की अनेक विशेषताओं को स्पष्ट किया जा सकता है।

(ii) अगर हमें किसी भी समुदाय के विभिन्न पक्षों को समझना है तो पहले हमें लघु समुदाय के पक्षों को जानना चाहिए क्योंकि ऐसे समुदायों के अध्ययन में बड़े समुदायों के अध्ययन सम्बन्धी दोष नहीं आ पाते हैं। इसलिए लघु समुदायों के अध्ययन से प्राप्त तथ्य अधिक विश्वसनीय, प्रामाणिक, तथ्यपरक तथा यथार्थ के निकट होते हैं।

(iii) लघु समुदाय का आकार लघु होने के कारण वहाँ की सम्पूर्ण जनसंख्या का अध्ययन किया जाना संभव होता है। इससे प्राप्त निष्कर्ष काफी सीमा तक प्रामाणिक होते हैं। दूसरी तरफ अगर हम वृहद् समुदायों का अध्ययन करें तो सम्पूर्ण जनसंख्या का अध्ययन किया जाना संभव नहीं होता है और हम निदर्शन पद्धति को अपनाते हैं। अगर निदर्शन पद्धति दोषपूर्ण होती है तो प्राप्त तथ्य व निष्कर्ष भी दोषपूर्ण हो जाते हैं। इसलिए लघु समुदायों का अध्ययन महत्वपूर्ण है।

(iv) लघु समुदायों का अध्ययन सहभागी, अवलोकन के माध्यम से भी किया जा सकता है। अगर अनुसंधानकर्ता सहभागी अवलोकन व अन्य प्रविधि का स्वयं प्रयोग करता है तो अध्ययन काफी बिश्वसनीय हो जाता है।

(v) लघु समुदायों के अध्ययन से हमें प्रामाणिक और विश्वसनीय जानकारी व तथ्य प्राप्त होते हुँ। वृहद् समुदायों के अध्ययन से ये संभव नहीं है। लघु समुदाय के अध्ययन में कम धन, समय व श्रम खर्च होता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि लघु समुदाय की अवधारणा एक महत्वपूर्ण अवधारणा है। साथ ही पद्धतिशास्त्रीय दृष्टिकोण से भी इसकी काफी उपयोगिता है।

3.10 कृषक समाज एवं लघु समुदाय का तुलनात्मक अध्ययन

इस इकाई में हमने कृषक समाज और 'लघु समुदाय' दोनों अवधारणाओं का गहराई से अध्ययन किया है। यद्यपि इन दोनों समुदायों में काफी समानताएँ दिखायी देती है, लेकिन वस्तुतः ऐसा नहीं है। हम यहाँ पर इन दोनों अवधारणाओं के बीच अन्तर व तुलना करने का प्रयास करेंगे :

1. लघु समुदाय का आकार लघु यानी छोटा होता है, क्योंकि इस समुदाय के सदस्यों की संख्या काफी कम होती है। इसी कारण लघु समुदाय के सदस्यों के बीच प्राथमिक सम्बन्ध, घनिष्ठता व सामूहिक चेतना देखी जाती है। दूसरी ओर कृषक समाज आकार की दृष्टि से उतने छोटे नहीं होते, जितने लघु समुदाय होते हैं। कृषक समाज के पास भूमि की सीमा और आर्थिक स्थिति में भिन्नता के कारण उनमें एक स्पष्ट स्तरीकरण देखा जा सकता है। कृषक समाज के सदस्यों के बीच सामूहिक चेतना का पाया जाना आवश्यक नहीं होता है।
2. रेडफील्ड ने विशिष्टता को लघु समुदाय की दूसरी विशेषता के रूप में प्रस्तुत किया है। उन्होंने कहा कि यह समुदाय अनेक दृष्टियों से विशिष्ट होता है। इसके अन्तर्गत सदस्यों के निवास की सीमा. व्यवहार, प्रतिमान एवं प्रत्येक कार्य का स्थान सुनिश्चित होता है। इसी कारण लघु समुदाय के सदस्यों के व्यक्तित्व में समानता पायी जाती है। दूसरी तरफ कृषक समाज में इस प्रकार की कोई विशिष्टता नहीं पायी जाती है। कृषक समाज के विभिन्न

सदस्यों के व्यक्तित्व में भिन्नता पायी जाती है, क्योंकि उनकी सामाजिक व सांस्कृतिक पृष्ठभूमि अलग-अलग होती है।

3. समरूपता का पाया जाना लघु समुदाय की तीसरी विशेषता है। लघु समुदाय के सदस्यों के बीच भाषा, खान-पान, रहन-सहन, तिथि-त्यौहार धर्म देवि-देवता संस्कार इत्यादि की समरूपता पायी जाती है। दूसरी तरफ कृषक समाज में समरूपता नहीं पायी जाती है क्योंकि भूमि आय तथा सामाजिक दृष्टि से उसमें विभेदीकरण और स्तरीकरण पाया जाता है।
4. लघु समुदाय में ऐसा माना जाता है कि आत्मनिर्भरता पायी जाती है। इसका कारण यह है कि इसके समस्त सदस्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति इसी में कर लेते हैं। इसके विपरीत कृषक समाज अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनेक दूसरे वर्गो एवं स्थानों पर निर्भर रहता है।
5. लघु समुदाय को ऐसा समुदाय कहते हैं जो परम्परागत है तथा जो अपनी स्थापित जीवन पद्धति में किसी भी प्रकार के नवीन परिवर्तन को स्वीकार नहीं करता है। दूसरी ओर कृषक समाज में कृषि की नवीन प्रविधियों, अनुसंधानों शिक्षा' संचार एवं परिवहन के साधनों में प्रगति हो जाने के कारण काफी परिवर्तन आये हैं।
6. कृषक समुदाय की तुलना में लघु समुदाय काफी प्राचीन है क्योंकि मानवता के सम्पूर्ण इतिहास में लघु समुदाय ही मानवीय निवास के सबसे मौलिक सरूप को स्पष्ट करता है।
7. लघु समुदाय एक विशिष्ट प्रतिमान के रूप में संसार के समस्त भागों में किसी न किसी रूप में देखा जा सकता है। जबकि कृषक समाज जीवन की एक बिधि है, जो विभिन्न देशों में एक- दूसरे से भिन्न होती है ।

यहाँ पर हमने कृषक समाज व लघु समुदाय का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। उपरी तौर पर दोनों ही अवधारणाओं में काफी समानता नजर आती है, मगर गहराई से गहन अध्ययन किया जाये तो काफी भिन्नताएँ उजागर होती हैं। यह अवश्य है कि कुछ बिशेषताएँ दोनों में समान रूप से भी पायी जाती है। भारतीय ग्रामीण समाज में जहाँ कृषक समाज पाये जाते हैं, वही लघु समुदाय भी पाये जाते हैं।

3.11 सारांश

इस इकाई में हमने ग्रामीण समाजशास्त्र की दो प्रमुख अवधारणाओं का अध्ययन किया है। अगर हमें ग्रामीण समाजशास्त्र से जुडी अन्य अवधारणाओं को समझना है तो सबसे पहले कृषक समाज और लघु समुदाय का अध्ययन आवश्यक है। ये दोनों अवधारणाएँ ग्रामीण समाजशास्त्र की आधारशिला के प्रमुख पत्थर हैं। कई बार कृषक समाज, ग्रामीण समाज और लघु समुदाय को लेकर भ्रान्ति पैदा हो जाती है। हमने इस इकाई में इन तीनों अवधारणाओं का विवेचन व भेद प्रस्तुत किया है। आज भी भारतीय समाज गाँवों से जुड़ा है, देश की 70 प्रतिशत जनसंख्या का सम्बन्ध गाँवों से है। ग्रामीण समाज का प्रमुख संबन्ध कृषि व कृषि से जुडे व्यवसायो के साथ है। जहाँ तीव्रगामी परिवर्तन का असर बहुत कम होता है। परम्परागत व्यवसाय आज भी किये जाते हैं। धर्म, परम्पराओं और रीति-रिवाजों का पालन आज भी किया जाता है। लेकिन ऐसे गाँव जो नगरों के पास स्थित है, उन गांवों में परिवर्तन की लहर दिखायी

दे रही है। परम्परागत व्यवसाय के बजाय नवीन व्यवसायों को ग्रामीण शहरों में आकर अपना रहे हैं। फिर भी कृषक क समाज व लघु समुदाय को समझना अत्यन्त आवश्यक है।

3.12 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Doshi, S.L. anf Lain, P.C., **Rural Sociology,** Rawat Publication, Jaipur, 2001.
2. Beteille, Andre, **Six Essays in Comparative Sociology,** Oxford, 1986.
3. Redfield, Robert, **Peasant Society and Culture.**
4. Chouhan, B.R., "An Indian Village : Some Question", **Man in India,** Vol.40, No.2, April-June, 1960.
5. Teodor,Shanin (Ed.), **Peasant and Peasant Socities. Udaipur**

3.15 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. लघु समुदाय को परिभाषित करते हुए रोबर्ट रेडफील्ड द्वारा दी गई विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
2. लघु समुदाय के अध्ययन के महल को बताइये।
3. कृषक समाज व लघु समुदाय के बीच अन्तर स्पष्ट कीजिए।

इकाई 4

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाएँ

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाएँ - I

4.2.1 स्थानीयकरण (पैरोक्यिलाइजेशन) :अर्थ एवं विशेषताएं

4.2.2 सार्वभौमिकीकरण(यूनिवर्सलाइजेशन):अर्थ एवं विषेशताएं

4.2.3 स्थानीयकरण एवं सार्वभौमिकीकरण में अन्तर

4.3 सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाएँ - II

4.3.1 लघु परम्परा : अभिप्राय

4.3.2 महान परम्परा : अभिप्राय

4.3.3 लघु एवं महान परम्पराओं में अंतर

4.3.4 संस्कृतिकरण, अवधारणा एवं आलोचनात्मक मूल्यांकन

4.4 सारांश

4.5 शब्दाबली

4.6 सन्दर्भ ग्रंथ

4.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

बोध प्रश्नों के उत्तर

4.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप -

- सामाजिक परिवर्तन की बिभिन्न प्रक्रियाएँ जैसे : स्थानीयकरण, सार्वमौमिकीकरण, लघु एवं महान परम्परा, संस्कृतिकरण का अर्थ या अभिप्राय से परिचित होंगे।
- विभिन्न प्रक्रियाओं के मध्य सम्बन्धों व अन्तर को समझ सकेंगे।
- संस्कृतिकरण की अवधारणा को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में समझ सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

भारतीय समाज में सामाजिक परिवर्तन की विभिन्न प्रक्रियाओं का अध्ययन और विश्लेषण करने की दृष्टि से अनेक अवधारणाओं का प्रयोग किया गया है। मैकिम मेरियट ने लघु एवं वृहद् परम्पराओं के मध्य सम्प्रेषण की प्रक्रियाओं के स्पष्टीकरण हेतु सार्वभौमिकीकरण एवं स्थानीयकरण की दो अवधारणाओं का प्रतिपादन किया है। एम.एन. श्रीनिवास ने संस्कृतिकरण की अवधारणा के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को समझाने का प्रयास किया है। रॉबर्ट रेडफील्ड ने भारत में सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया के बिश्लेषण के

लिए परम्परा की अवधारणा का प्रयोग किया है। रेडफील्ड ने सांस्कृतिक और सामाजिक संगठनात्मक स्तरों के क्रमों को प्रस्तावित किया है जिनके आधार पर परिवर्तन की प्रक्रिया का विश्लेषण किया जाना चाहिए। रेडफील्ड के अनुसार प्रत्येक सभ्यता परम्पराओं से निर्मित होती है, एक ओर अभिजात लोगों की या थोड़े से चिन्तनशील लोगों की परम्पराएं आती हैं और दूसरी ओर निरक्षर कृषकों की परम्पराएं। चिन्तनशील लोगों की परम्पराओं को महान या दीर्घ परम्परा और निरक्षर कृषकों की परम्पराओं को लघु परम्परा के नाम से समझने का प्रयास किया है।

4.2 सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाएँ - I

4.2.1 **स्थानीयकरण (पैरोक्यिलाइजेशन)** :

स्थानीयकरण साहित्यिक एवं धार्मिक स्वरूपों आदि को स्थानीय बनाने की एक प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया भारत की देशी सभ्यता के अन्तर्गत लघु समुदायों की एक विशिष्ट रचनात्मक क्रियाओं को प्रदर्शित करती है। मॉरिस ऑपलर ने सर्वप्रथम स्थानीयकरण की प्रक्रिया का उल्लेख किया था। मैकिम मैरियट ने इसका प्रयोग ओंपलर से भिन्न अर्थो में किया है। मैकिम मेरियट ने उत्तर भारत के उत्तर प्रदेश राज्य के अलीगढ़ जिले में स्थित किशनगढ़ी नामक गांव के अपने अध्ययन में महान एवं लघु परम्पराओं के बीच होने वाली परस्पर क्रियाओं के आधार पर स्थानीयकरण एवं सार्वभौमिकीकरण की अवधारणाओं का विकास किया। मैकिम मेरियट के अनुसार बोधगम्यता के क्षेत्र को सीमित करने, व्यवस्थित एवं चिन्तनशील आयामों में कमी लाने, साहित्यिक रूपों में अभाव की प्रक्रिया को स्थानीयकरण या संकीर्णताकरण अथवा संकुचितीकरण कहते हैं।

मैकिम मेरियट (Mekin Marriott) के अनुसार ' जब महान परम्परा के सांस्कृतिक तत्वों की गति नीचे की ओर होती है और इस दौरान उनका मूल स्वरूप परिवर्तित हो जाता है और वे लघु परम्परा के सुगठित भाग बन जाते हैं तो इस प्रक्रिया को स्थानीयकरण या संकीर्णताकरण या देशीयकरण कहते हैं। मेरियट ने ' गोवर्धन पूजा और ' नौरता ' के उदाहरणों के द्वारा स्थानीयकरण की प्रक्रिया को समझने का प्रयास किया मैकिम मेरियट स्थानीयकरण की प्रक्रिया को सार्वभौमिकीकरण के विपरीत मानते हैं। जब सांस्कृतिक तत्वों की गति ऊपर से नीचे की ओर होती है अर्थात जब महान परम्परा के तत्व लघु परम्परा के तत्वों में एकीकृत हो जाते हैं। इस दौरान उनका मूल स्वरूप बदल जाता है तो इस स्वरूप को स्थानीयकरण कहते हैं। इस प्रक्रिया को निम्न चित्र के माध्यम से स्पष्ट कर सकते हैं ।

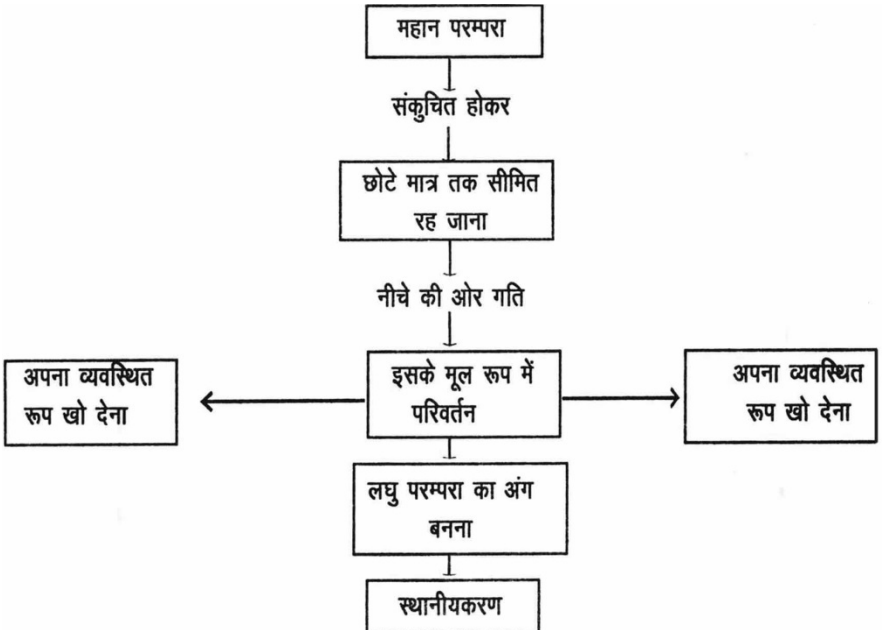

स्थानीयकरण की प्रमुख विशेषताएं

(i) स्थानीयकरण की प्रक्रिया में महान परम्परा का साहित्यिक स्वरूप समाप्त हो जाता है।

(ii) स्थानीयकरण की प्रक्रिया में महान परम्पराएं अपना व्यवस्थित रूप समाप्त कर कम व्यवस्थित एवं कम चिन्तनशील हो जाती है।

(iii) स्थानीयकरण की प्रक्रिया द्वारा महान परम्परा के तत्व किसी स्थान की लघु परम्परा में जुड़ने लगते है

(iv) स्थानीयकरण की प्रक्रिया महान परम्पराओं को उनके मूलरूप से दूर ले जाती है। अर्थात जिस रूप में उनका उल्लेख धर्मग्रथों में है, उसे वह पीरवर्तित करके नया रूप प्रदान करती है जो स्थानीय होता है। स्थानीयकरण के उदाहरण :

स्थानीयकरण की प्रक्रिया को समझने के लिए मैकिम मेरियट ने अपने आलेख ' एक देशज ' स्भ्यता में लघु समुदाय ' में निम्न उदाहरणों के माध्यम से स्थानीयकरण की प्रक्रिया को समझने का प्रयास किया है।

(i) गोवरधन पूजा का पर्व :

मैकिम मेरियट ने अपने अध्ययन क्षेत्र किशनगढी के गोवरधन पर्व के आधार पर स्थानीयकरण की प्रक्रिया को समझाया है। जो महान परम्पराओं से लघु परम्पराओं तक सांस्कृतिक विषय वस्तुओं के एक अधोमुख सम्प्रेषण के अन्तर्गत होते हैं।

किशनगढ़ी गांव के लोग गोवरधन पर्व के सम्बन्ध में कम से कम दो कहानियों का उल्लेख करते हैं। दोनों ही कहानियां स्पष्टत: दसवीं शताब्दी के एक संस्कृत ग्रन्थ , भागवत पुराण की दसवीं पुस्तक में से ली गई है। इस संस्कृत पुस्तक का सार जिसमें श्री कृष्ण का जीवन चरित्र सम्मिलित है, हिन्दी की पुस्तकों द्वारा गांव वालों में काफी लोकप्रिय हो चुका है। जिनमें से उन्नीसवीं शताब्दी की हिन्दी पुस्तक प्रेमसागर (लल्लू लाल, व 1897:-2) में मिलता

है। इस महान परम्परागत ग्रंथ की कहानी, जो कि सर्वाधिक समान रूप से गोवरधन पूजा के महातम्य को स्पष्ट करती है। किशनगढी से चालीस मील दूरी पर गोवरधन पर्वत स्थित है। इस कहानी में कृष्ण वृज के ग्वालों से इन्द्र की पूजा करने के बजाय, जो कि बहुत दूरी पर है नजदीक के गोवरधन पर्वत की पूजा करने को कहते हैं। ग्वाले कृष्ण के आदेशों का पालन करते हैं। अपनी पूजा न करने से इन्द्र क्रोधित होकर ग्वालों और उनके पशुधन गायों आदि को नष्ट करने के लिए मूसलाधार वर्षा करते हैं। कृष्ण गोवरधन पर्वत उठा लेते हैं तथा सभी लोग उस पर्वत के नीचे खडे होकर बर्षा से अपनी रक्षा करते है तथा सभी बच जाते हैं। वर्तमान में भी लोग गोवरधन पर्वत की परिक्रमा तथा पूजा का एक वार्षिक उत्सव (मथुरा जिले मे) मनाया जाता है। जब उपरोक्त महान परम्परागत गाथा किशनगढी के एक त्यौहार में आनुष्ठानिक स्वरूप तक पहुंची तो इसमें बहुत सी ऐसी रातें जुड गई जिनका महान परम्परा से कोई सम्बन्ध नहीं था। किशनगढ़ी के लोगों ने इस गाथा के संकुचित स्वरूप को ग्रहण कर लिया है। गोवर्धन ग्रामीण व्युत्पति के रूप में धन बन गया है। भागवत पुराण में वर्णित गोवर्धन पर्वत किशनगढ़ी के प्रत्येक परिवार के आंगन गोबर में गोबर पर्वत के रूप में देखने में आता है। गोबर के बने हुए पर्वत को तिनके तथा रुई से बनाये गये पेडों से सजाया जाता है। गोबर की ही बनी हुई इन दीवारों के भीतर उन सभी गायों, बैलों तथा भैसों के गोबर से संकेत मय रूप में बनाया जाता है। इस प्रकार बने हुए गोर्वधन पर्वत में परिवार के लिए दूध तथा जानवरों के लिये चारे के भावी लाभ के रूप में जानवरों को चारा खिलाने की डोगी (नांद), दूध निकालने के बर्तन, मथनी आदि को भी चित्रित किया जाता है। इस दिन परिवार के वास्तविक ग्वाले को एक रूपया दिया जाता है। स्त्रियां तथा बच्चे गोर्वधन पर्वत के इस निर्माण कार्य को दिन में समाप्त कर देते हुँ तथा शाम को प्रत्येक परिवार के सभी सगोत्री लोग सम्मिलित रूप में इसकी पूजा करते हैं तथा इसके मध्य स्थल पर एक दीपक (दिया) रखते हैं तथा उसमें बनाये गये पेडों के चारों ओर से धागा लपेटते हैं तथा गंभीर स्वर से पितामह गोवर्धन दीर्धायु हो के नारे लगाते हैं। किशनगढ़ी की बुनकर (जुलाहे) जाति के लोग कुछ और भी इसमें जोडते हैं क्योंकि दूसरे दिन प्रात: काल गोवर्धन को जगाने के गीत गाने के लिये उन्हें कुछ धन दिया जाता है. जिसके बाद ही गोबर की प्रतिमाओं को दैनिक ईधन के लिए तोड़ा जा सकता है। किन्तु उत्सव में बचे हुए गोबर का एक भाग अलग रख दिया जाता है, जिससे एक बहुत बडा पटाखा बनाया जाता है जिसे सूखने के बाद पवित्र मानकर सुरक्षित रख दिया जाता है तथा होली दहन के समय उसे जला दिया जाता है। मैकिम मेरियट के अनुसार स्थानीयकरण की प्रक्रिया भारत की देशी सभ्यता के अन्तर्गत लघु समुदायों के रचनात्मक कार्य की विशेषता का निर्माण करती है। यह गति जो सार्वभौमिकीकरण के विपरीत है, के लिए मेरियट स्थानीयकरण शब्द या अवधारणा का सुझाव देते हैं।

(ii) नवदुर्गा (नौरथा) का त्यौहार :

किशनगढी में नवदुर्गा का त्यौहार स्थानीयकरण का एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत करता है। महान परम्परा के संस्कृत साहित्य में इस त्यौहार के अनेक पूर्व उदाहरण मिलते हैं। मैकिम मेरियट ने दशहरे के अवसर पर मनाये जाने वाले त्यौहार नव दुर्गा या नवरात्रि का उल्लेख किया है। संमूर्ण भारत में इन 9 दिनों में महान परम्परा से सम्बन्धित दुर्गा,काली,पार्वती,शक्ति

तथा देवी के अन्य सभी नामों तथा स्वरूपों तथा शिव की अर्धांगिनियों के पूजा के लिए माने जाते हैं। महान परम्परा से संबन्धित नवरात्रि के पर्व का रूप किशनगढ़ी में एक देवी जो ' नौरथा ' के नाम से जानी जाती है की पूजा करते हैं। नौरथा शब्द जिसे किशनगढ़ी में किसी देवी का नाम माना जाता है, नवरात्रि का ही अपभ्रंश रूप है। मेरियट के अनुसार गांव के प्रत्येक दसवें परिवार में नौरथा देवी को प्रस्तुत करने वाली मिट्टी की प्रतिमाओं का निर्माण किया जाता है। इन 9 दिनों में प्रात: तथा सायं अपनी अपनी मूर्तियों के समुख स्त्रियाँ तथा लड़कियाँ नौरते की पूजा करती है। त्यौहार के नवें दिन प्रत्येक पूजा करने बाला समूह अपनी अपनी मिट्टी की गेंदों को ले जाता है तथा एक दूसरी देवी के टीले पर जो कि पथवाडी कहलाती है तथा जो गांव के निवास क्षेत्र के पश्चिमी छोर पर स्थित है, के शिखर पर इकट्ठा कर देती है। मैकिम मेरियट ने बताया कि इस प्रकार किशनगढी में नौ-दुर्गा का त्यौहार भारतीय सभ्यता के अन्तर्गत लघु समुदायों की निरन्तर सृजनात्मकता का उदाहरण प्रस्तुत करता है। महान तथा लघु परम्पराओं के मध्य सम्पर्क में मात्र अर्थ की हानि तथा भाषा सम्बन्धी भ्रम के कारण एक नवीन लघु देवी की उत्पत्ति हुई है। अत: मैरियट के अनुसार नौरता एक संकुचित देवी के रूप में समझा जा सकता है।

उपरोक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि स्थानीयकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप कई स्थानीय परम्पराओं एवं विश्वासों का उदय होता है।

4.2.2 **सार्वभौमिकीकरण :**

मैकिम मेरियट के अनुसार सार्वभौमिकीकरण का अभिप्राय ' जब लघु परम्परा के तत्व उपर की ओर बढ़ते हैं, फैलाव का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है, जब वे महान परम्परा के स्तर तक पहुंच जाते हैं और उनका मूल स्वरूप परिवर्तित हो जाता है तो इस प्रक्रिया को सार्वभौमिकीकरण कहते हैं। जब लघु परम्परा के तल अर्थात देवी-देवता, संस्कार, प्रथाएं वृहद् परम्परा के स्तर तक प्रचलित हो जाते हैं और उन्हें वृहद् परम्परा का ही अंग माना जाने लगता है तो इस प्रक्रिया को सार्वमौमिकीकरण कहते हैं। यद्यपि सार्वमौमिकीकरण की प्रक्रिया का सर्वप्रथम उल्लेख रॉबर्ट रेडफील्ड एवं मिल्टन सिंगर ने सांस्कृतिक चेतना के प्रसार के सन्दर्भ में प्रयोग किया किन्तु मैकिम मेरियट ने इस प्रक्रिया का प्रयोग सांस्कृतिक विषय वस्तुओं को आगे रखने तथा ऊंचा उठाने के महान अर्थों में किया है। मैकिम मेरियट ने अपने अध्ययन में बताया कि किशनगढ़ी में संस्कृतीकरण का विस्तार तीन हजार बर्षो की अवधि के पश्चात भी प्रारम्म नहीं हो सका है। जबकि महान परम्परा के तत्व स्थानीय त्यौहारों के भाग बन गये हैं, वे लघु परम्परा की ' कीमत ' पर गांव त्यौहार प्रथा में प्रवेश हुए प्रतीत नहीं होते हैं। किशनगढ़ी के धर्म में महान एवं लघु परम्पराओं के वर्तमान संयोग के पीछे जो भी प्रक्रिया रही हो गांव के लोग अब दोनों परम्पराओं को प्राचीन तथा देशी परम्परा के रूप में मानते हैं। मेरियट के अनुसार असंबद संस्कारों की बिषमता का मुख्य कारण कार्तिक माह के अमावस्या का दिन अनेक देवी देवताओं के लिये एवं स्वयं ग्रामवासियों के लिए एक बहुत ही शुभ दिन है, इसलिए ये सभी संस्कार दीपावाली के दिन ही सम्पन्न होते हैं। अर्थात लघु परम्परा के तत्वों के

उर्धगामी परिवर्तनों से जिन महान परम्पराओं का निर्माण होता है, उसी प्रक्रिया को सार्वभौमिकीकरण कहते हैं।

सार्वभौमिकीकरण की प्रक्रिया को निम्न चित्र के माध्यम से स्पष्ट कर सकते हैं

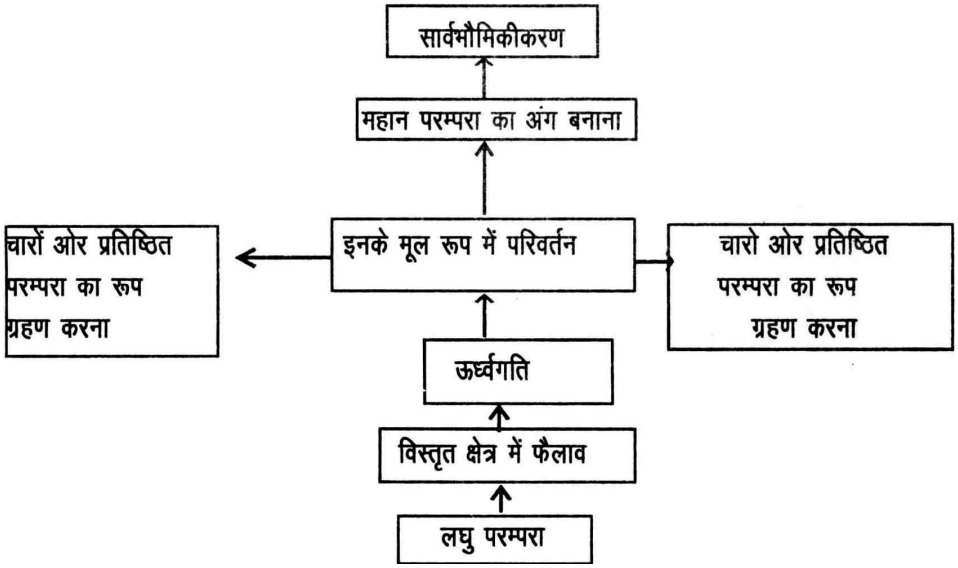

सार्वभौमौमिकीकरण प्रक्रिया की विशेषताएं :

(i) इस प्रक्रिया में लघु परम्परा के तत्व स्थानीय क्षेत्र से राष्ट्रीय स्तर की ओर ऊपर बढ़ते हैं, उनका फैलाव होता है।

(ii) इस प्रक्रिया का सम्बन्ध लघु एवं वृहद् परम्पराऔ की अन्त: क्रिया से है।

(iii) इस प्रक्रिया में लघु परम्पराएँ समाज नहीं होती बल्कि वे महान परम्पराओं का निर्माण करती है तथा अपने अस्तित्व को भी बनाए रखती हैं।

(iv) सार्वभौमिकीकरण द्वारा निर्मित महान परम्पराएँ लघु परम्परा का संशोधित पदं परिमार्जित रूप होता है सार्वभौमिकीकरण के उदाहरण :

सार्वभौमिकीकरण की प्रक्रिया को समझने के लिए मैकिम मेरियट ने विभिन्न त्यौहारों के पूजा के दृष्टान्तों के आधार पर स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

(i) सोर्ती पूजा :

मैकिम मेरियट के अनुसार किशनगढ़ी गांव में दीपावली के त्यौहार के अवसर पर लोग अपने घरों में दीवार पर चावल के आटे की एक - एक प्रतिमा बनाते हैं जिसे सोर्ती के नाम से जाना जाता है। सोर्ती एक ऐसी देवी है जिसकी लोग इस त्यौहार पर पूजा करते हैं तथा परिवार एवं उसके पशुओं की सम्पन्नता एवं सुरक्षा के लिए इसकी प्रार्थना की जाती है। कुछ गांव के लोग सोर्ती को लक्ष्मी मानते हैं, किन्तु अधिकांश लोग ऐसा नहीं मानते क्योंकि लक्ष्मी मात्र धनी लोगों की देवी है और सोर्ती हमारी देवी है। सोर्ती जो कि लघु परम्परा के अन्तर्गत आती है, के फैलाव का क्षेत्र बढ़ता गया तथा इसका स्वरूप पीरवर्तित होकर लक्ष्मी का रूप हो गया। लक्ष्मी एक ऐसी देवी है जिसे महान परम्परा के रूप में माना जाता है। अत: सोर्ती का लक्ष्मी के रूप में रूपान्तरण सार्वशैमिकीकरण की प्रक्रिया को बताती है।

(ii) सालूनो त्यौहार :

सम्पूर्ण देश में मनाये जाने वाले त्यौहार रक्षाबन्धन के दिन किशनगढ़ी के लोग 'सालूनों' का त्यौहार मनाते हैं। यह त्यौहार जो उस वार्षिक पक्ष की समाप्ति को इंगित करता है जिन दिनों अधिकांश युवा स्त्रियां अपने माता-पिता तथा भाई-बहनों से मिलने के लिये जाती है। सालूनों (सुन्दर) के दिन अनेक पति अपनी स्त्रियों को वापस ले जाने के लिये पुन: अपने ससुराल पहुंचते हैं। पत्नियां अपने ससुराल के लिए बापस लौटने 'के पूर्व अपनी अविवाहित बहिनों सहित अपने भाईयों के सिर तथा कान पर जौ की वाले (पवित्र अनाज) रखती है। वे अपने भाईयों के प्रति आस्था तथा सबन्ध वक्त करती है। जौ की बालियों के बदले भाई बहिन को कुछ पैसे देते थे। इसी दिन किशनगढ़ी में रक्षाबधन का त्यौहार मनाया जाता है। इसी दिन घरेलू पुरोहित प्रत्येक जजमान के घर जाते हैं तथा उनके हाथ में राखी बांधते है। प्रत्येक पुरोहित जजमान को आशीर्वाद देता हैं तथा बदले में जजमान पुरोहित को कुछ नगद रूपया देता है क्योंकि ऐसा सोचा जाता है कि एक पुरोहित से कोई वस्तु भेंट स्वरूप स्वीकार करना अनुचित है। सालूनों का पारिवारिक त्यौहार तथा ब्राह्मणों के विशिष्ट त्यौहार रक्षा बन्धन के समानान्तर बहिन तथा पुरोहित द्वारा पूर्ण की जाने वाली भूमिकाएं स्पष्ट है। मैकिम मेरियट ने बताया कि यह संभावना है कि रक्षाबधन के त्यौहार की उत्पति सालूनों जैसे लघु परम्परा के त्यौहार से हुई है। इस उदाहरण से यह स्पष्ट होता है कि सालूनों के त्यौहार का फैलाव बढ़ता गया, धीरे - धीरे इसने महान परम्परा से संबन्धित त्यौहार के रूप में मान्यता प्राप्त कर ली तथा इसका मूल सरूप परिवर्तित हो गया और इसे रक्षा बंधन के रूप में मनाया जाने लगा।

4.2.3 **सार्वभौमिकीकरण एवं स्थानीयकरण में अन्तर**:

सार्वभौमिकीकरण एवं स्थानीयकरण की प्रक्रिया में निम्न बिन्दुओं के आधार पर अन्तर स्पष्ट किया जा सकता हैं।

(i) सार्वभौमिकीकरण में परम्पराओं का प्रसार क्षेत्र विस्तृत तथा विकसित होता है, जबकि स्थानीयकरण में प्रसार क्षेत्र अपेक्षाकृत लघु एवं संकीर्ण होता है।

(ii) सार्वभौमिकीकरण की प्रक्रिया व्यवस्थित होती है, जबकि स्थानीयकरण प्रक्रिया में ' प्रत्येक क्षेत्र की परम्पराओं का रूप अलग-अलग होने के कारण अपेक्षाकृत कम व्यवस्थित या अव्यवस्थित होती है ।

(iii) सार्वभौमिकीकरण में लघु परम्पराएँ ऊपर की ओर प्रवाहित होती है जबकि स्थानीयकरण में महान परम्पराऔ के तत्व नीचे की ओर गमन करते हैं अर्थात लघु परम्पराओं को विकसित करती है। इसे निम्न चित्र के माध्यम से समझा जा सकता है।

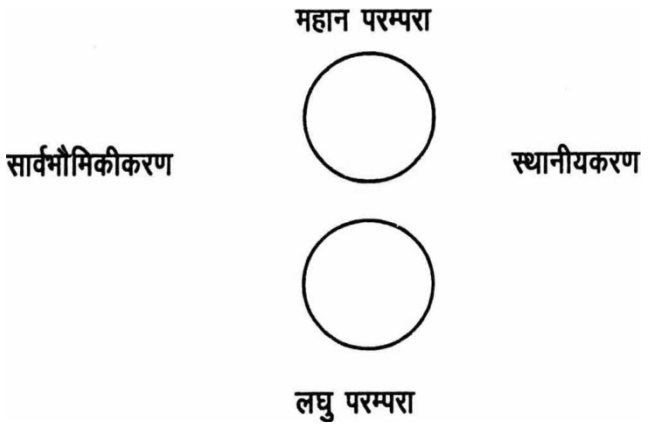

(iv) सार्वभौमिकीकरण में स्थानीय विश्वासों एवं कर्मकाण्डों का महत्व घटता है, जबकि स्थानीयकरण में स्थानीय कर्मकाण्डों एवं विश्वासों में वृद्धि होती है।

बोध प्रश्न -1

1. स्थानीयकरण की प्रक्रिया का अमिप्राय क्या है?
2. सार्वभौमिकीकरण को परिभाषित कीजिये।
3. सार्वभौमिकीकरण एवं स्थानीयकरण की प्रक्रियाओ में अन्तर स्पष्ट कीजिये।

4.3 सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाएं - II

भारतीय समाज में सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया के विश्लेषण के लिए रॉबर्ट रेडफील्ड ने परम्परा की अवधारणा का प्रयोग किया है। रेडफील्ड के अनुसार प्रत्येक सभ्यता परम्पराओं से निर्मित होती है, एक ओर अभिजात लोगों की एवं चिन्तनशील लोगों की परम्पराएं आती है तथा दूसरी ओर निरक्षर कृषकों या लोक समाज की परम्पराएं जिसे क्रमश: महान और लघु परम्परा के नाम से जाना जाता है। दोनों परम्पराएँ एक साथ एक ऐसी विशव दृष्टि के प्रतीक के रूप में समझी जाती हैं जो एक सभ्यता की एकता को प्रदर्शित करती हैं।

4.3.1 **लघु परम्परा : अभिप्राय**

रॉबर्ट रेडफील्ड (Robert Redfield) साधारण निरक्षर किसानों की परम्पराओं को ही लघु परम्परा कहते हैं। लघु परम्परा का तात्पर्य वे परम्पराएं जिनका उल्लेख धर्मग्रन्थों में नहीं मिलता जो अलिखित. अशास्त्रीय, कम व्यवस्थित, कम चिन्तनशील एवं स्थानीय होती है। लघु परम्पराओं का मौखिक रूप से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी की ओर हस्तान्तरण होता है। रेडफील्ड के अनुसार समाज के वे देवी देवता धार्मिक अनुष्ठान, रीति-रिवाज, मेले, त्यौहार, लोक गीत, लोक नृत्य जिनका वर्णन अखिल भारतीय धार्मिक ग्रन्थों एवं अन्य पुस्तकों में लिखित रूप में नहीं मिलता तथा मौखिक रूप में एक पीढी से दूसरी पीढ़ी की ओर हस्तान्तरित होते रहते हैं। ब्रज राज चौहान के अनुसार, ' लघु परम्पराएं स्थानीय, अलिखित, शास्त्रीय, कम व्यवस्थित और कम चिन्तनशील होती है। लोग इनके अर्थ को न जानते हुए भी इनकी परिपालना अवश्य करते हैं। लोक गीतों एवं रीति रिवाजों में उनका उल्लेख देखने को मिलता है।

4.3.2 महान (दीर्घ) परम्परा: अभिप्राय

मैकिम मेरियट के अनुसार महान परम्परा का अभिप्राय. यदि कोई परम्परा प्राचीन धर्म ग्रनथो में बताए गए व्यवहारों के अनुरूप होती है तथा उसका प्रसार सम्पूर्ण समाज में होता है तो उसे महान परम्परा कहेंगे। रॉबर्ट रेडफील्ड के अनुसार मैक्सिको की माया संस्कृति के मन्दिरों एवं प्रासादों के विशाल प्रस्तर निर्मित वास्तु-शिल्प , परिष्कृत कला खगोल विज्ञान, पंचाग, चित्रलिपि में लिखित साहित्य, देवताओं एवं प्राकृतिक वक्तियों तथा धर्म पर आधारित राज व्यवस्थाओं को महान परम्परा के नाम से जाना जाता है। भारतीय समाज के सन्दर्भ में महान परम्परा का तात्पर्य जिन रीति-रिवाजों, धार्मिक अनुष्ठानों, त्यौहारों देवी-देवता जिनका उल्लेख लिखित रूप से धार्मिक ग्रन्थों वेद-पुराणों उपनिषदों आदि में मिलता है, महान परम्परा के अन्तर्गत आते हैं। वे परम्पराएं जिनका उल्लेख लिखित रूप में धर्मग्रन्थों में मिलता है जिनकी विषय वस्तु शास्त्रीय एवं सांस्कृतिक है जो अधिक व्यवस्थित एवं चिन्तनशील है तथा जिनका प्रसार संपूर्ण देश में है, महान या दीर्घ परम्परा कहलाती है ।

4.3.3 **महान तथा लघु परम्पराओं में अन्तर** :

भारतीय समाज में लघु एवं महान परम्पराएं दोनों ही प्राचीन है तथा दोनों की अपनी विशिष्ट विशेषताएं है। प्रत्येक परम्परा का अपना स्वयं का एक सामाजिक संगठन होता है, अर्थात संस्थागत भूमिकाएं तथा प्रीस्थीतयां होती है। दोनों परम्पराएं एक साथ एक ऐसी विश्व दृष्टि के प्रतीक के रूप में समझी जाती है जो सभ्यता की एकता का प्रतिनिधित्व करती हैं।

ब्रजराज चौहान ने निम्न आधारों पर महान एवं लघु परम्पराओं में अन्तर स्पष्ट किया है।

क्र.सं.	महान परम्पराऐं	लघु परम्पराएं
1.	राष्ट्रीय	स्थानीय
2.	लिखित	मौखिक
3.	शास्त्रीय	अशास्त्रीय
4.	अधिक व्यवस्थित	कम व्यवस्थित
5.	अधिक चिन्तनशील	कम चिन्तनशील

उपरोक्त वर्गीकरण के आधार पर निम्न प्रकार से विस्तार पूर्वक अन्तर स्पष्ट कर सकते हैं।

(1) व्यापकता के आधार पर अन्तर:

महान परम्परा का प्रसार व्यापक एवं विस्तृत होने के कारण इसका स्वरूप राष्ट्रीय है जबकि लघु परम्परा का प्रसार स्थानीय स्तर पर होने के कारण प्रचार-प्रसार का क्षेत्र सीमित होता है।

(2) लिखित एवं मौखिक आधार:

वृहद् परम्पराएं लिखित होती है, इनका उल्लेख धर्म ग्रन्थों, पुराणों वेदों उपनिषदों में मिलता है जबकि लघु परम्पराएं अलिखित होती है, इनका उल्लेख धर्मग्रन्थों में देखने को नहीं मिलता, केवल मौखिक रूप से ही एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरित होती हैं।

(3) प्राचीनता के आधार पर अन्तर:

महान परम्पराएं अति प्राचीन एवं पौराणिक है, उनकी बिषय वस्तु में शास्त्रीय तत्व पाए जाते हैं, जबकि लघु परम्पराएं अधिक प्राचीन एवं पौराणिक न होने से शास्त्रीय नहीं होती हैं।

(4) निर्माण एवं विकास के आधार :

महान परम्पराओं का निर्माण एवं विकास अभिजात वर्ग के चिन्तनशील लोगों द्वारा किया जाता है इसलिए ये अधिक स्पष्ट एवं व्यवस्थित होती है जबकि लघु परम्पराओं का निर्माण एवं विकास अशिक्षित लोगों द्वारा होती है अत: इनमें चिन्तनशीलता का अभाव पाया जाता है।

4.3.4 **संस्कृतीकरण. अवधारणा एवं आलोचनात्मक मूल्यांकन**

आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन का विषय बहुत ही विस्तृत एवं जटिल है। इस विषय को समझने के लिए आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जैसे बिभिन्न क्षेत्रों को समझने की आवश्यकता है। संस्कृतीकरण की अवधारणा का सर्वप्रथम प्रयोग समाजशास्त्री एम. एन. श्रीनिवास ने दक्षिणी भारत के कुर्ग लोगों के सामाजिक एवं धार्मिक जीवन के विश्लेषण के सन्दर्भ में किया। एम. एन. श्रीनिवास के अनुसार ' संस्कृतीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई निम्न हिन्दू जाति या कोई जनजाति अथवा अन्य समूह, किसी उच्च और प्राय: द्विज जाति की दिशा में अपने रीति-रिवाज, कर्मकाण्ड, विचारधारा और जीवन पद्धति को बदलता है। आम तौर पर ऐसे परिवर्तनों के बाद वह जाति, परम्परा से स्थानीय समाज द्वारा सोपान में जो स्थान उसे मिला हुआ है, उससे ऊँचे स्थान का दावा करने लगती है। श्रीनिवास ने अपनी पुस्तक ' रिलीजन एण्ड सोसायटी अमंग दी कुर्गस ऑफ साउथ इण्डिया ' में सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया को व्यक्त करने के लिए संस्कृतीकरण की अवधारणा का प्रयोग किया। आपके अनुसार, जाति प्रथा उस कठोर प्रणाली से काफी दूर है जिसमें प्रत्येक घटक जाति की स्थिति हमेशा के लिए निश्चित कर दी जाती है। यहां गतिशीलता सदैव सम्भव रही है और विशेषत: संस्करण की प्रणाली के मध्य भागों में।

एक निम्न जाति एक या दो पीढ़ियों में शाकाहारी बनकर, मद्यपान को छोड़कर तथा अपने कर्मकाण्ड एवं देवगण का संस्कृतीकरण कर संस्करण की प्रणाली में अपनी स्थिति ऊंची उठाने में समर्थ हो जाती है। एम.एन. श्रीनिवास ने मैसूर (वर्तमान में कर्नाटक राज्य) के पास रामपुरा गांव में अध्ययन के दौरान यह देखा कि निम्म जातियों के लोग ब्राह्मणों की कुछ प्रथाओं का अनुकरण करने और अपनी स्वयं की कुछ प्रथाओं जैसे मांसाहारी, शराब का प्रयोग तथा पशु बलि आदि का त्याग करने लगे थे। वे जातीय संस्तरण की प्रणाली में अपनी स्थिति को ऊँचा उठाने के लिए यह सब कुछ कर रहे थे। ब्राह्मणों की देश भूषा, भोजन सम्बन्धी

आदतें तथा कर्मकाण्ड को अपनाकर वे अपनी स्थिति को ऊँचा उठाने का प्रयत्न कर रहे थे। ब्राह्मणों की जीवन पद्धति का अनुसरण करके वे एक या दो पीढ़ी में जातीय संस्तरण की प्रणाली में उच्च स्थिति की मांग प्रस्तुत कर सके। गतिशीलता की इस प्रक्रिया का वर्णन करने के लिए श्रीनिवास स ने प्रारम्म में ' ब्राह्मणीकरण ' अवधारणा का प्रयोग किया था लेकिन इस अवधारणा को भारतीय समाज के सन्दर्भ में उपयुक्त न पाकर बाद में ब्राह्मणीकरण अवधारणा के स्थान पर आपने ' संस्कृतीकरण ' की अवधारणा का प्रयोग किया।

संस्कृतीकरण की अवधारणा पर टिप्पणी करते हुए योगेन्द्र सिंह ने कहा कि इस अवधारणा के दो पक्ष है प्रथम - ऐतिहासिक तथा द्वितीय - संदर्भात्मक । ऐतिहासिक सन्दर्भ में, भारतीय समाज में इतिहास में संस्कृतीकरण सामाजिक गतिशीलता की एक प्रक्रिया रही है। संदर्भात्मक संन्दर्भ में, संस्कृतीकरण सापेक्षिक भाव में परिवर्तन की एक प्रक्रिया है। प्रक्रिया का महल ओर बाहुल्य हर क्षेत्र और यहां तक कि हर गाद में भिन्न - भिन्न पाया जाता है क्योंकि ये सन्दर्भ से संबन्धित आन्तरिक कारकों और उनसे जुडे हुए ब्राह्मय कारकों पर निर्भर करते हैं। स्थानीय कारको के दबाव के कारण कुछ भागों में ' असंस्कृतीकरण ' और ' जनजातीयकरण ' की प्रक्रियाऐं पाई गई है। यह बात सही है कि कुछ सीमा तक भारतीय समाज के कुछ वर्गो में संस्कृतीकरण की प्रक्रिया सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक वचनों से सम्बन्धित है। यह भी कहा जा सकता है कि संस्कृतीकरण द्वारा प्रभुजातियों पर प्रहार होता है। श्रीनिवास ने गांव के स्तर पर प्रभुजातियों को लोगों की आर्थिक, धार्मिक कृत्य और सामाजिक स्थिति के आधार पर परिभाषित किया है। कभी - कभी संख्यात्मक बल और राजनैतिक शक्ति के द्वारा भी एक जाति के प्रभुत्व में वृद्धि होती है। वर्तमान में प्रभुजातियों ने उन नए तरीकों और साधनों को अपना रखा है जो निम्न जातियों के लिए सुलभ नहीं हैं।

आलोचनात्मक मूल्यांकन:

संस्कृतीकरण की अवधारणा में कुछ कमियां भी है। इसके द्वारा केवल सामाजिक-सांस्कृतिक गतिशीलता बहुत सीमित तरीके से समझी गई है। निम्न जातियों के सदस्य प्राय: उच्च जातियों के उन सांस्कृतिक प्रतिमानों को अपना पाते हैं जो कि उच्च जातियों के लिए आजकल शक्ति और प्रस्थिति का स्त्रोत नहीं है। वास्तव में निम्न जातियों के स्तर पर संस्कृश्तीकरण की प्रक्रिया संसाधनों की उपलब्धि, एकत्रीकरण और पहुँच पर निर्भर करती है। संस्कृतीकरण करने वाली जातियों को प्रमुजातियों द्वारा धमकी या चुनौती को भी झेलना पड सकता है। श्रीनिवास के अनुसार संस्कृतीकरण की प्रक्रिया द्वारा पदमूलक परिवर्तन आते हैं। पदमूलक परिवर्तन जाति के अन्दर आते हैं, न कि व्यवस्था पीरवर्तित होती है। जाति परिवर्तित नहीं होती, परिवर्तन जाति के अन्दर होते हैं।

4.4 सारांश

सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों का आधार ' परंपरा का सामाजिक संगठन ' है। भारत की प्राथमिक सभ्यता लघु एवं महान (दीर्घ) परम्परा में विभक्त है। लघु परम्परा जनसाधारण और अशिक्षित कृषकों से समन्धित है। महान परम्परा में अभिजात या कुछ

गणमान्य थक्तियों का समावेश होता है। लघु एवं दीर्घ परम्पराओं में निरन्तर अन्तःक्रिया रहती है।

स्थानीयकरण और सार्वभौमिकीकरण की प्रक्रियाओं द्वारा इन दोनों परमपराओं के बीच अन्त: क्रिया से भारत की सभ्यता की एकता बनी हुई है। स्थानीयकरण या सकीर्णताकरण दीर्घ परम्परा के तत्वों का नीचे की ओर अशिक्षित जनसाधारण तक पहुंचने से है। जबकि सार्वभौमिकीकरण लघु परम्पराओं के तत्वों के प्रसार से है जो सांस्कृतिक या महान परम्परा का अंग भी बन सकते हैं।

वास्तव में भारतीय परम्परा की संरचना की जटिल प्रकृति को समझने के लिए परम्पराओं का हिमार्गीकरण पर्याप्त नहीं है। समाजशास्त्री एस.सी. दुबे ने परम्पराओं के लघु एवं महान के रूप में आलोचना की है। दुबे के अनुसार लघु और महान परम्परा नामक अवधारणाओं के आधार पर सांस्कृतिक परिवर्तनों का विश्लेषण सन्तोषप्रद नहीं है। क्योंकि भारत में परम्पराओं का संगठन द्विधुवीय अवस्था के रूप में नहीं होकर बहुध्रुबीय अवस्था के रूप में हुआ है। इस सन्दर्भ में आपने छ: परम्पराओं का वर्गीकरण किया है। ये परम्पराएं निम्न प्रकार से है (i) शास्त्रीय परम्परा, (ii) क्षेत्रीय परम्परा, (iii) स्थानीय परम्परा, (iv) पश्चिमी परम्परा, (v) उभरती हुई राष्ट्रीय परम्परा तथा (vi) विशिष्ट समूहों की स्थानीय उप-सांस्कृतिक परम्पराएं।

भारत में परिवर्तन के विश्लेषण हेतु टी.के.एन. उन्नीथान इन्द्रदेव और योगेन्द्र सिंह ने सामाजिक वास्तविकताओं की तीन शाखाओं वाला एक सन्दर्भ ढांचा प्रतिपादित किया है। इसके अन्तर्गत भारतीय संस्कृति को तीन प्रमुख उप-संरचनाओं के रूप में देखा जा सकता है। जो निम्न प्रकार से है -

(i) अभिजात उप-संरचना

(ii) लोक उप-संरचना

(iii) जनजातीय उप-संरचना

वर्तमान सांस्कृतिक परिवर्तन के सन्दर्भ में अभिजात, लोक और जनजातीय त्रि-विभाजन उभरते हुए तथ्यों अथवा घटनाओं जैसे नेतृत्व, प्रजातान्त्रिक मूल्य और उनका संचालन, शैक्षणिक ढांचे में परिवर्तनों के परिणाम सरूप एक उप-संस्कृति को दूसरी उप-संस्कृति के साथ होने वाली अन्त: क्रिया के लिए काफी विश्वसनीय अवधारणात्मक उपकरण प्रस्तुत करता है।

4.5 शब्दावली :

(i) स्थानीयकरण :	महान परम्परा के तत्वों का नीचे की ओर अशिक्षित जनसाधारण तक पहुंचने से है।
(ii) सार्वभौमिकीकरण :	लघु परम्परा के तत्वों का प्रसार से है जो सांस्कृतिक या दीर्घ परम्परा का अंग भी बन सकते हैं।
(iii) पद मूलक परिवर्तन :	पद मूलक परिवर्तन जाति के भीतर आते हैं व्यवस्था परिवर्तित होती है।

(iv) संस्कृतीकरण : एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक निम्न जाति या जनजाति या अन्य समूह एक उच्च जाति और विशेषत: एक ' द्विज ' जाति की प्रथाओं, धार्मिक कृत्यों, आस्थाओं, विचारधारा और जीवनप्रणाली को अपनाता है।

(v) लघु परम्परा : साधारण निरक्षर किसानों की परम्परा।

(vi) महान परम्परा : अभिजात या कुछ गणमान्य व्यक्तियों का समावेश होता है।

4.6 सन्दर्थ ग्रंथ

(1) दोषी, एस.एल. व जैन, पीसी. भारतीय समाज, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, 2002

(2) मेरियट. मैकिम (सम्पादित) विलेज इण्डिया, शिकागो : शिकागो युनीवर्सिटी प्रेस, 1955

(3) शर्मा, के.एल., भारतीय सामाजिक संरचना एवं परिवर्तन, रावत पब्लिकेशन्स , जयपुर, 2006

(4) सिंह : योगेन्द्र : भारतीय परम्परा का आधुनिकीकरण, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर,2000 (अनुवादक अरविन्द कुमार अग्रवाल)

(5) उन्नीथान, टी.के.एन., इन्द्रदेव एवं योगेन्द्र सिंह. दूवर्ड्स ए सोशियोलाजी आफ कल्चर इन इण्डिया, 1955

4.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

(1) लघु परम्परा से आप क्या समझते हैं?

(2) महान या दीर्घ का अभिप्राय क्या है?

(3) एम.एन. श्रीनिवास के अनुसार संस्कृतीकरण की अवधारणा को समझाइये।

इकाई 5

संस्कृतिकरण

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 संस्कृतिकरण की अवधारणा
5.3 संस्कृतिकरण एवं प्रभु जाति
5.4 संस्कृतिकरण की बिशेषताएँ
5.5 संस्कृतिकरण के स्त्रोत
5.6 ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था पर संस्कृतिकरण का प्रभाव
5.7 संस्कृतिकरण का आलोचनात्मक मूल्यांकन
5.8 सारांश
5.9 सन्दर्भ ग्रंथ
5.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

5.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप -

- संस्कृतिकरण की अवधारणा अर्थ बिशेषताएँ समझ सकेंगे।
- संस्कृतिकरण की प्रक्रिया में प्रभु जाति की भूमिका के बारे में समझ सकेंगे।
- संस्कृतिकरण के स्त्रोत जान सकेंगे।
- ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था पर संस्कृतिकरण का प्रभाव समझ सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

सामाजिक परिवर्तन प्रत्येक समाज की एक अनिवार्य शर्त है। भारतीय समाज में सामाजिक परिवर्तन की कई महत्वपूर्ण प्रक्रियाएँ कार्य करती रही हैं जैसे :- संस्कृतिकरण पश्चिमीकरण, नगरीकरण, स्थानीयकरण, औद्योगीकरण इत्यादि।

भारतीय समाज की अनेक महत्वपूर्ण विशेषताओं में से एक है जाति प्रथा। जो मूलत: संस्तरण पर आधारित सामाजिक स्तरीकरण का एक प्रमुख स्वरूप है। जिसमें विभिन्न जातियों के मध्य उतार-चढ़ाव की एक व्यवस्था पाई जाती है और एक जाति दूसरी जाति की तुलना में उच्च व निम्न मानी जाती है। इस व्यवस्था में परम्परागत रूप से ब्राह्मणों की स्थिति सबसे ऊपर है एवं अस्पृश्यों की स्थिति सबसे निम्न मानी जाती है। जाति व्यवस्था के इन छोरों के मध्य सैकड़ों हजारों ऐसे जातीय समूह पाए जाते हैं जिनमें अपनी स्थिति को ऊँचा उठाने अथवा किसी उच्च जाति के समान प्रतिष्ठा प्राप्त करने की दृष्टि से किसी उच्च जाति के जीवन के तरीके या सम्पूर्ण जीवन विधि का अनुकरण करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। इस स्थिति को

स्पष्ट करने के लिए प्रो. एम. एन. श्रीनिवास ने संस्कृतिकरण नामक अवधारणा को प्रस्तावित किया है।

5.2 संस्कीतकरण की अवधारणा

समाजशास्त्री साहित्य में 'सस्कृतिकरण' की अवधारणा को लाने का श्रेय डॉ. एम. श्रीनिवास को जाता है । जिन्होंने इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम अपनी पुस्तक "Religion & Society among the coorgs of South India" में परम्परागत भारतीय संरचना में सांस्कृतिक गतिशीलता की प्रक्रिया वर्णन हेतु किया । मैसूर में कुर्ग लोगों का अध्य्यन करते समय एम. एन. श्रीनिवास ने पाया की निम्न जातियों के लोग ब्राह्मणों की कतिपय प्रथाओं का अनुकरण करने और अपनी स्वयं की कुछ प्रथाओं जैसे - माँस खाना , शराब का प्रयोग करना तथा पशु बाली आदि छोड़ने में लगे हुये थे तथा ब्राह्मणों की वेशभूषा, भोजन सम्बन्धी आदतें तथा कर्मकांड अपना कर जाती संस्तरण में अपनी स्थिति ऊंची बनाने का प्रयास कर रहे थे । विभिन्न जातियों द्वारा ब्राह्मणों के अनुकरण व गतिशीलता की इस प्रक्रिया का वर्णन करने के लिए आरंभ में श्रीनिवास ने 'ब्राह्मणीकरण' शब्द का प्रयोग किया , लेकिन बाद में उन्होने पाया की निम्न जातीयॉ ब्राह्मणों के के अतिरिक्त अन्य उच्च जातियों की संस्कृति का अनुकरण करती है इसलिए उन्हे ब्राह्मणीकरण के स्थान पर संस्कृतिकरण शब्द अधिक उपयुक्त लगा । मैसूर के ब्राह्मणों का अनुकरण किया जाना केवल विशिष्ट उदाहरण था । डॉ.योगेद्र सिंह ने भी लिखा है, "ब्राह्मणिकरण की अपेक्षा इस प्रकार की प्रक्रिया के लिए संस्कृतिकरण अधिक विस्तृत अवधारण है । लेकिन इस शब्द के अर्थ एवं उपयोग को समय-समय पर श्रीनिवास ने संशोधित भी किया।

5.3 संस्कृतिकरण का अर्थ एवं परिभाषा

शाब्दिक दृष्टि से देखा जाए तो यह स्पष्ट होगा कि संस्कृति का नवीन एवं अधिक उत्तम बिचार, आदर्श मूल्य , आदत तथा कर्म काण्डों को अपनाकर अपनी जीवन स्थिति को अधिक उन्नत व परिमार्जित बनाने की एक प्रक्रिया है क्योंकि संस्कृतिकरण वास्तव में संस्कृत या संस्कृति शब्द से संबन्धित है। संस्कृति शब्द संस्कार का रूपान्तर है। एक हिन्दू को अपने जीवन को परिमार्जित करने के लिए अनेक प्रकार के संस्कारों को सम्पन्न करना पडता है उसके बाद ही सुसंस्कृत कहलाता है। इस दृष्टिकोण से विवेचना करने पर यह स्पष्ट होता है कि संस्कृतिकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा निम्न जाति या समूह के लोग अपनी जातीय या सामाजिक स्थिति को परिशुद्ध, परिमार्जित व उन्नत करने के उद्देश्य से उच्च जाति के आदर्शो, मूल्यों, विचारों, कृत्यों व संस्कारों को ग्रहण कर लेते हैं।

प्रारम्म में श्रीनिवास ने संस्कृतिकरण की निम्न परिभाषा दी- 'यह बह प्रक्रिया है जिसमें एक निम्न जाति एक या दो पीढ़ियों में शाकाहारी बनकर, मद्यपान को छोडकर तथा अपने कर्मकाण्ड का संस्कृतिकरण करके संस्तरण की प्रणाली में अपनी स्थिति ऊँची उठाने में समर्थ हो जाती हैं। संक्षेप में जहाँ तक सम्भव हो ब्राह्मणों की प्रथाओं, अनुष्ठानों और विश्वासों को अपना लेती है। साधारणत: निम्न जातियों के द्वारा ब्राह्मणों की जीवन प्रणाली को प्राय: अपना लिया जाता है यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से यह बर्जित है।"

श्रीनिवास ने स्वयं के अनुभवों तथा अन्य विद्वानों के मूलांकन व सुझावों के आधार पर इस अवधारणा का विस्तरा एवं संशोधन किया है। इसी प्रक्रिया में एक अन्य स्थान पर उन्होंने संस्कृतिकरण की निम्न परिभाषा दी हैं -

''एक ऐसी प्रक्रिया जिसके द्वारा निम्न जातियाँ उच्च जातियों, विशेषकर ब्राह्मणों के रीति-रिवाजों संस्कारों विश्वासों जीवन-विधि एवं अन्य सांस्कृतिक लक्षणों व प्रणालियों का अनुकरण करती है।'' इस उपर्युक्त परिभाषा में श्रीनिवास ने पुन: संशोधन किया तथा स्वीकार किया कि उन्होंने संस्कृतिकरण के ब्राह्मण प्रतिमान को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया तथा दूसरे प्रतिमानों जैसे- क्षत्रिय, बैश्य और शूद्र को नजरअन्दाज किया।

डी. एफ. पोकॉक ने भी दूसरे क्षेत्रों में ब्राह्मण प्रतिमान के अतिरिक्त क्षत्रिय प्रतिमान के अस्तित्व के बताया। फलस्वरूप श्रीनिवास ने संस्कृतिकरण की और अधिक स्पष्ट व संशोधित परिभाषा दी- 'संस्कृतिकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक निम्न हिन्दू जाति या जनजाति या अन्य समूह अपनी प्रथाओं कर्मकाण्डों' विचारधारा और जीवन के तरीके को उन और अधिकतर द्विज जाति की दिशा में बदलती है। सामान्यत: ऐसे परिवर्तनों के बाद निम्न जाति जातीय संस्तरण में स्थानीय समाज में परम्परागत रूप से जो स्थिति उसे प्राप्त है उससे उच्च स्थिति का दादा करने लगती है। सामान्यत: एक या दो पीढ़ियों तक दावा किये जाने के बाद ही उसे स्वीकृति मिलती है। उन्होंने यह भी लिखा है कि 'संस्कृतिकरण का अर्थ केवल नवीन प्रथाओं व आदतों को ग्रहण करना ही नहीं अपितु पवित्र एवं लौकिक जीवन से संबन्धित नवीन विचारों एवं मूल्यों को भी प्रकट करना है। जिनका विवरण संस्कृत के विशाल साहित्य में बहुधा देखने को मिलता है। कर्म, धर्म, पाप, माया, संसार, मोक्ष आदि संस्कृत के कुछ अत्यन्त लोकप्रिय विचार हैं और जब लोगों का संस्कृतिकरण हो जाता है तब वे अपनी बातचीत में बहुधा इन शब्दों का प्रयोग करने लगते हैं।

डी. बी. आर. चौहान के अनुसार 'रह वह उपकरण है जिसके द्वारा निम्न जातियाँ व जनजातियाँ अपने व्यवहार एवं जीवन के तरीके हिन्दू समाज के उच्च वर्णो के अनुसार बदलती है।''

5.3 संस्कृतिकरण एवं प्रभु जाति

श्रीनिवास ने भारतीय ग्रामीण समुदायों में संस्कृतिकरण की प्रक्रिया में प्रबल या प्रभु जाति की भूमिका पर भी प्रकाश डाला है। उन्होंने प्रबल जाति का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है कि भारत के ग्रामों में प्रबल जाति वह होती है जिसकी सामाजिक प्रस्थिति उस स्थान पर उच्च हो, वही शिक्षा का स्तर उच्च हो जो गाँव या समुदाय में जनसंख्या की दृष्टि से अधिक हो जिसका कृषि योग्य भूमि के बडे भाग पर स्वामित्व हो, जो आर्थिक तथा राजनैतिक दृष्टि से शक्तिशाली हो, तथा जातीय संस्तरण में उसका ऊँचा स्थान हो। सामान्यतया ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण के स्तर की जातियाँ प्रबल जातियाँ होती हैं और निम्न जातियाँ प्रबल जातियों की संस्कृति का अनुकरण करती हैं।

'भट्ट' का कहना है कि, 'भारत के गाँवों में आवश्यक नहीं कि प्रबल जातियाँ उच्च जातियाँ ही हों आपने अपने अध्ययन में गाँवों में मध्यम एवं निम्न जातियों को भी प्रबल पाया

है। संस्कृतिकरण के लिए जिस जाति को आदर्श माना जाता है वह सांस्कृतिक संरचना में भी महत्वपूर्ण होती है चाहे जातीय सोपान में उसकी स्थिति नीची ही क्यों न हो। उदाहरण के लिए पंजाब के कुछ भागों में जाट भूस्वामी ब्राह्मणों को अपना सेवक समझते हैं और उत्तर प्रदेश के गाँवों में ठाकुर अपने गुस्सों और पुराहितों के अतिरिक्त किसी अन्य ब्राह्मण के हाथ का भोजन नहीं खाते। कुछ भी हो प्रभु जाति की अपनी एक स्थानीय प्रतिष्ठा होती है और अन्य जाति के लोग उसका अनुकरण करते हैं। इस प्रकार यदि स्थानीय प्रभु जाति ब्राह्मण है तो वहाँ संस्कृतिकरण की प्रवृत्ति ब्राह्मण आदर्श की ओर होगी और यदि वह प्रभु जाति राजपूत या बनिया हो तो क्षत्रिय या वैश्य आदर्श की होगी।

प्रबल जातियाँ अच्छे प्रेरणा स्त्रोत के रूप में काम करने के साथ-साथ संस्कृतिकरण की प्रक्रिया में बाधक भी हो जाती है क्योंकि शक्तिशाली होने के कारण ये गाँव की अन्य नीची जातियों को ऊपर नहीं उठने देती।

'हट्टन' ने ''कास्ट इन इण्डिया'' में दक्षिण भारत के प्रबल जाति कल्लर और हरिजनों के परस्पर झगडे का वर्णन करते हुए बताया है कि, 'कल्लर जाति ने हरिजनों पर सोना-चाँदी व स्त्री-पुरुषों पर अंग वस्त्र न पहनने, बाल न कटाने छाते व चपल का प्रयोग न करने जैसे कई प्रीतिबन्ध लगाए और हरिजनों द्वारा उनका पालन न करने पर उन्हें मारा-पीटा उनकी बस्तियाँ जला डालीं, पशु खेत-खलिहान तथा सामान लूट लिया। इस तरह प्रबल जातियों ने निम्न जातियों को संस्कृतिकरण करने व ऊपर उठने से रोका भी है।

श्रीनिवास ने इस तथ्य को भी स्वीकार किया कि जरूरी नहीं कि संस्कृतिकरण के माध्यम से किसी भी जाति को जातीय संस्तरण में ऊँचा स्थान मिल ही जाएगा। यह बात विशेष रूप से हरिजनों पर लागू होती है। डॉ. श्रीनीवास के शब्दों में 'किसी अस्पृश्य जाति का संस्कृतिकरण कितना ही पूर्ण क्यों न हो अस्पृश्यता की राधा को पार करने में असमर्थ है।'' इसलिए कभी भी एक हरिजन को क्षत्रिय, वैश्य या ब्राह्मण की स्थिति को प्राप्त करते हुए नहीं देखा।

5.4 संस्कृतिकरण की विशेषताएँ

श्रीनिवास, योगेन्द्र सिंह, मिल्टन सिंह , पोकॉक आदि ने संस्कृतिकरण की निम्न विशेषताएँ बताई हैं :-

1. सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्तन का सिद्धान्त - मिल्टन सिंह ने लिखा है कि ''श्रीनिवास का संस्कृतिकरण का सिद्धान्त अत्यन्त व्यापक है।'' यह केबल पद मूलक गतिशीलता की प्रक्रिया नहीं है बल्कि इसके परिणामस्वरूप भाषा, साहित्य, संगीत,विज्ञान , दर्शन आदि क्षेत्र में होने वाले सांस्कृतिक परिवर्तन भी आते हैं।

2. संस्कृतिकरण की इकाई समूह है :- श्रीनिवास ने स्पष्ट किया है कि संस्कृतिकरण का सम्बन्ध व्यक्ति अधिक या परिवार विशेष से नहीं बल्कि सारे समूह से होता है। यदि कोई व्यक्ति विशेष ऐसा करता है तो उसे अपनी जाति के सदस्यों के क्रोध का भागी बनना पडता है। निम्न जाति का कोई भी व्यक्ति या परिवार इकाई के रूप में ऊँची प्रस्थिति प्राप्त नहीं कर सकता।

3. द्विमार्गी प्रक्रिया :- यह द्विमार्गी प्रक्रिया है। निम्न स्तर वाली अनेक जातियों ने ब्राह्मणी प्रथाएँ एक श्रखंलाबद्ध प्रतिक्रिया के रूप में अपनायी हैं। अर्थात् प्रत्येक समूह ने अपने से ऊँचे समूह से कुछ ग्रहण किया है और अपने से नीचे स्तर वाले समूह को कुछ दिया है। सम्पूर्ण भारत में हिन्दुओं के देवताओं के अतिरिक्त ब्राह्मण स्थानीय देवी-देवताओं की पूजा करते भी देखे गए हैं। ऐसा विशेष रूप से उस समय देखने में आता है जब महामारी से रक्षा की बात आती है अथवा पशुधन, बच्चों की रक्षा तथा अन्न के संरक्षण का प्रश्न उठता है। ऐसे समाज में ब्राह्मण कभी-कभी किसी गैर ब्राह्मण मित्र के द्वारा रक्त बलि भी करवाते हैं। इस द्विमार्गी प्रक्रिया के लघु एवं वृहद् परम्पराओं को आत्मसात की प्रक्रिया में भी देख सकते हैं। यह वास्तविकता है कि निम्न जातियाँ उच्च जातियों से लेती अधिक हैं तथा देती कम है।

4. जनजातियों से संभन्धित :- इस प्रक्रिया का समाज केवल हिन्दू जातियों से ही नहीं है बल्कि यह जनजातियों में भी घट रही है। जैसे- भील, संथाल, गोंड, ओरांव जनजातियों जिन्होंने अपनी सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाकर हिन्दू समाज का अंग बनने का प्रयास किया है।

5. पदमूलक परिवर्तन :- संस्कृतिकरण से सम्बद्ध गतिशीलता के परिणामस्वरूप व्यवस्था में केवल पदमूलक परिवर्तन ही होते हैं कोई संरचनात्मक परिवर्तन नहीं होता अर्थात् किसी जातीय समूह की स्थिति अपने आस-पास की जातियों से कुछ ऊपर उठ जाती हैं परन्तु स्वयं जाति व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं होता।

6. अग्रिम समाजीकरण - डॉ. योगेन्द्र सिंह संस्कृतिकरण को अग्रिम समाजीकरण मानते हैं। अर्थात् कोई निम्न जातीय समूह एक या दो पीढ़ी तक किसी उच्च जाति की जीवनशैली की दिशा में अपना सामाजीकरण करता है ताकि भविष्य में उसे उच्च समूह में सदस्यता प्राप्त करने में कोई कठिनाई न हो व सामंजस्य की समस्या न आए।

7. विचारधाराग्रहित प्रक्रिया :- डॉ. योगेन्द्र सिंह ने इसकी विशेषता बिचारधारा ग्रहण करने की बताई है। इस प्रक्रिया में निम्न जाति उच्च जाति की विचारधारा धर्म-कर्म. पाप-पुण्य, मोक्ष,माया, संसार, पुनर्जन्म आदि का अनुकरण करती है। संस्कृतिकरण की प्रक्रिया के माध्यम से जो जाति या जनजाति समूह अपने से उच्च जाति (विशेषतः दिव्ज जाती) के रीति-रिवाज, प्रथाओं, जीवन दर्शन, कर्मकाण्ड, आदर्श मूल्य संस्कृति ' साहित्य में उपलब्ध नवीन विचारधारा को अपनाने का प्रयत्न करती है।

8. विभिन्न आदर्श समूह - मिल्टन सिंगर ने इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाया है कि संस्कृतिकरण में निम्न जाति उस जाति या समूह के लक्षणों या आदर्शो को अधिक ग्रहण करती है जो इनके समीप होती है। इस प्रकार संस्कृतिकरण के अनेक आदर्श समूह हो सकते हैं जैसे- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या स्थानीय प्रभु जाति आदि।

9. महत्वाकांक्षी जातियाँ :- जिन निम्न जातियों की ऊपर उठने व उच्च पद प्राप्त करने की महत्वाकांक्षा होती है वे ही उच्च जातियों की संस्कृति, जीवन विधि व प्रथाओं का अनुकरण करती है। साथ ही उनके लिए आवश्यक है कि वे दो-तीन पीढ़ियों पहले से किसी उच्च जाति के साथ अपने को जोडे तभी उसका संस्कृतिकरण हो पाता है।

10. प्रबल जाति का अनुकरण :- कुछ समय पहले तक निम्न. जातियाँ ब्राह्मणों का अनुकरण किया करती थी परन्तु अब स्थानीय प्रबल जाति का अनुकरण किया जाने लगा है जो क्षत्रिय, वैश्य या कोई भी गैर ब्राह्मण जाति हो सकती है।

5.5 संस्कृतिकरण के स्त्रोत

श्रीनिवास ने संस्कृतिकरण के माध्यम से परिवर्तन की प्रक्रिया को प्रोत्साहित करने वाले कुछ प्रमुख धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक व आर्थिक कारकों की विवेचना की है, जो निम्न प्रकार है :-

1. धार्मिक कारक - श्रीनिवास की मान्यता है कि संस्कृतिकरण की प्रक्रिया को धार्मिक कारकों जैसे- कर्मकाण्ड, ब्राह्मणों के संस्कार, तीर्थ स्थान, मंदिरों आदि ने विशेष रूप से प्रोत्साहित किया है। जब कर्मकाण्डी क्रियल्लों में से मंत्रोच्चारण शक्त कर दिए गए तब ब्राह्मणों के संस्कार अस्पृश्य जातियों सहित सभी के अनुकरण करने के लिए उपलख हो गए। फल रूप निम्न जातियाँ ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड और आचार-विचार अपना कर अपना संस्कृतिकरण करने में लग गईं। मन्दिर मत, तीर्थ स्थान आदि आरम्भ से ही संस्कृतिकरण के स्त्रोत रहे है। ऐसे स्थानों पर एकत्रित जनसमूह में सांस्कृतिक एवं धार्मिक विचारों एवं विश्वासों के प्रसार हेतु उचित अवसर उपलब्ध होते रहे है। ये स्थान संस्कृतिकरण के उत्तम स्रोत व सहायक बने। भजन मण्डलियों हरि कथाओं रामलीलाओं रासलीलाओं आदि ने जनसमुदायों में प्रचार-प्रसार हेतु विशेष योगदान दिया है। इसी प्रकार संस्कृत पाठशालाओं महाविद्यालयों धार्मिक संगठनों पत्र-पत्रिकाओं व छापाखानों ने भी संस्कृतिकरण के प्रसार में उल्लेखनीय योगदान दिया है।

कुछ धार्मिक व सामाजिक आन्दोलनों ने भी भारत में संस्कृतिकरण की प्रक्रिया को बढ़ावा दिया है। उदाहरणार्थ- भक्ति आन्दोलन के कारण निम्न जाति के कुछ व्यक्ति धार्मिक नेता बन सके, इनमें हरिजन भी थे। गाँधीजी द्वारा चलाया गया हरिजन आन्दोलन भी अछूत कहलाने बाली जातियों की स्थिति को उन्नत करने में मददगार साबित हुआ। विभिन्न समाज सुधारक संस्थाओं जैसे- ब्रह्म समाज, आर्य समाज आदि ने भी जाति-पांति के भेदभाव को दूर करने व निम्न जातियों के उत्थान में योगदान दिया।

2. राजनैतिक कारक :- ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाए तो राजनैतिक अवस्था में निम्न स्तरों में अनिश्चितता अधिक पाई जाती है। क्षत्रिय वर्ण एक ऐसा वर्ण है जिसमें अन्य वर्ण या समूह हमेशा सम्मिलित होते रहे हैं। जो भी व्यक्ति राजा या प्रधान के रूप में स्थिति पाने में सफल हो जाता था वह क्षत्रिय संस्कृति का अनुकरण कर लेता था चाहे जन्म से उसकी जाति कोई भी क्यों न हो। चारण या भाट आदि मी ऐसे समूह को क्षत्रिय बनाने में सहायक होती थी। तब बह उसी तरह धार्मिक अनुष्ठान करती थी।

स्वतन्त्र भारत के नवीन संविधानों में भी संस्कृतिकरण को गति प्रदान की है। जैसे- 1950 का समान अधिकारों का अधिनियम और 1955 का अस्पृश्यता निवारण अधिनियम अथवा 1955 का ही विशेष विधवा अधिनियम जिसके द्वारा अन्तर्जातीय विवाहों को कानूनी स्वीकृति प्रदान कर देने से निम्न जातियों को संस्कृतिकरण करने के लिए प्रोत्साहन मिला।

प्रजातांत्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति चाहे उसकी सामाजिक या जातीय स्थिति कुछ भी हो अपनी योग्यता राजनैतिक कुशलता तथा चतुरता से राजनैतिक सत्ता प्राप्त कर सकता है और एक बार शासन की बागडोर हाथ में आ जाने पर जातीय स्थिति को कोई नहीं पूछता। ऐसी स्थिति में निम्न जाति के लिए उच्च जाति के सांस्कृतिक प्रतिमानों को अपनाना अधिक सरल हो जाता है।

आरक्षण द्वारा सरकारी नौकरियों संसद, विधान सभा पंचायती राज आदि संगठनों द्वारा निम्न जातियों को पद प्रदान करने से भी संस्कृतिकरण की प्रक्रिया में तेजी आई है।

3. आर्थिक कारक :- जाति व परम्परागत व्यवसाय के सह-सम्बन्ध के छने से अनेक निम्न जातियों ने अपने अस्पृश्य पेशों को त्याग कर अधिक लाभ वाले व्यवसायों का चयन करके अपनी आर्थिक स्थिति को उन्नत किया है तथा अपने जीवन के तौर-तरीकों को उच्च जातियों के समान ढाला है। यह इसलिए सम्भव हुआ क्योकि नवीन अर्थव्यवस्था में धन कमाने के अवसर सभी जातियों के सदस्यों के लिए समान रूप से उपलख हैं।

4. नगरीकरण व औद्योगीकरण - देश में नगरीकरण व औद्योगीकरण के कारण अधिक जनसंख्या गाँवों से नगरों में आती जा रही हैं। कारखानों में सभी जातियों के साथ काम करने से जातीय वंधन शिथिल होते जा रहे हैं ऐसे में निम्न जातियाँ उच्च जातियों के संस्कार ग्रहण कर लेती है। संस्तरण की प्रणाली में उन जातियों को ऊँचा माना जाता है जो शाकाहारी भोजन करती है, शराब का प्रयोग नहीं करती या पशु बलि नहीं बढ़ाती तथा अपवित्र वस्तु या व्यवसाय से सम्बन्धित नहीं है। इस प्रकार अपनी स्थिति को उन्नत करने की इच्छुक जाति अपने से उन जाति की किसी ब्राह्मणी जीवन पद्धति का अनुकरण करती है अर्थात् संस्कृतिकरण का स्रोत नगरीकरण व औद्योगीकरण के साथ शाकाहारी मोजन व पवित्र व्यवसाय भी रहे हैं।

5. पाश्चात्य व आधुनिक शिक्षा - पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार सर्वप्रथम उच्च जातियों में होने के कारण ब्राह्मणों ने उसे सबसे पहले ग्रहण किया और बाद में उनके व्यवहार प्रतिमानों को आधार मानते हुए अन्य जातियों ने भी उन्हें ग्रहण करना आरम्भ कर दिया। निम्न जातियों में शिक्षा के प्रसार से जागृति आ रही है, ये लोग उन जाति के जीवन के तरीकों व्यवसाय, खान-पान, देश-भूषा आदि अपना कर उच्च जातियों में घुल-मिल रहे हैं। इस प्रकार शिक्षा के कारण निम्न जातियों में संगीत करण की प्रक्रिया को बल मिला।

6. यातायात व संचार के साधन - आधुनिक भारत में यातायात व संचार के साधनों में उन्नति होने से एक ओर जहाँ सामाजिक गतिशीलता बढ़ रही है वही दूसरी ओर नये-नये नगरों उद्योगों व कारखानों का भी विकास होता जा रहा है परिणामस्वरूप विभिन्न प्रकार के जाति धर्म और प्रदेश के लोगों के पारस्परिक सम्पर्क और वैचारिक आदान-प्रदान की प्रक्रिया में तेजी आई है। इससे संकुचित विचारधारा और दृष्टिकोण का अन्त होने से संस्कृतिकरण की प्रक्रिया में मदद मिलती है।

7. सामाजिक कारक - विभिन्न सामाजिक अधिनियमों ने तो संस्कृतिकरण की प्रक्रिया की सहायता की है इसके अतिरिक्त विभिन्न संस्कारों के सम्पादन के लिए ब्राह्मण पुरोहित की सेवाएँ प्रदान करना' ज्यादा से ज्यादा निम्न जातियों द्वारा उन सांस्कृतिक पंचांग के त्यौहारों

(जिन्हें उच्च जातियाँ मानती है) को मानना प्रसिद्ध तीर्थ स्थलों की यात्रा करना, धर्मशास्त्रों का अधिकाधिक ज्ञान प्राण करने के अलावा अनुलोम विवाह भी एक संस्कृतिकरण कारक रहा है। जो जातीय समूह अपने से उच्च समझे जाने वाले समूहों में अपने को सम्मिलित करना चाहता था वह अनुलोम विवाह का साधन अपना सकता था।

संस्कृतिकरण के उपरोक्त स्रोतों से यह स्पष्ट होता है कि संस्कृतिकरण की प्रक्रिया को अनेक स्त्रोतों से बल एवं प्रोत्साहन मिला है साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि भारत में विभिन्न काली में संस्कृतिकरण की प्रक्रिया किसी न किसी रूप में अवश्य मौजूद रही है।

5.6 ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था पर संस्कृतिकरण का प्रभाव

डी. एम. एन. श्रीनिवास ने संस्कृतिकरण की मूल अवधारणा का विश्लेषण ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था के सन्दर्भ में ही किया है। वस्तुत: परम्परागत ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था में जाति सम्बन्ध अनेक प्रकार के निषेध व व्यवहार प्रतिमान पाए जाते थे। जिसके अनुसार किसी भी जाति को दूसरी जाति की जीवनशैली अपनाने का अधिकार नहीं था। लेकिन श्रीनिवास का यह भी मानना है कि ग्रामीण व्यवस्था में जातिगत प्रतिबन्धों के बावजूद संस्कृतिकरण के माध्यम से गतिशीलता की प्रक्रिया सदैव विद्यमान रही है। इन जातियों ने हमेशा अपने से उच्च या प्रभु जाति की जीवनशैली का अनुकरण किया है। कोई भी जाति स्थानीय प्रभु जाति को आदर्श मानकर उनकी जीवनशैली, कर्मकाण्डों व रहन-सहन का अनुकरण करती है। यद्यपि इस प्रयास में उन्हें प्रभु जाति के विरोध का भी सामना करना पडता है क्योंकि प्रभु जातियाँ निम्न जातियों द्वारा किए गए अनुकरण को सहन नहीं करती है और उन्हें रोकने का प्रयास करती हैं। लेकिन प्रभु जातियों द्वारा लगाए गए प्रतिबन्ध ज्यादा समय तक नहीं चल पाते और कुछ समय बाद अपनी स्थिति में वे थोडा बहुत परिवर्तन कर ही लेती है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सभी निम्न जातियों को संबैधानिक संरक्षण मिल जाने के कारण उन्हें ऊँची जातियों का अनुकरण करने के पर्याप्त अवसर मिल गए हैं लेकिन व्यवहार में देखा गया है कि आज भी गाँवो में यदि कोई निम्न जाति उन जाति के समान प्रस्थिति का दावा करने लगती है तो सामान्यत: प्रभु जातियाँ उसे स्वीकार नहीं करती। ग्रामीण समाज आज भी परम्परावादी व रूढ़िवादी होने के कारण ऐसे परिवर्तनों को मान्यता नहीं देता है। परिणामस्वरुप ग्राम की निम्न जातियाँ अपनी जातीय स्थिति को तब तक उँचा नहीं उठा पातीं जब तक कि वे अपने मूल स्थान को छोड़कर किसी अन्य स्थान पर न रहने लगी हों। इस प्रकार संस्कृतिकरण में भारतीय ग्रामीण व्यवस्था में अनेक परिवर्तन तो किए है जो लाभकारी भी हैं और दूसरी ओर अनेक समस्याएँ भी पैदा हुई हैं जैसे-

1. ग्रामीण समाजों. में रूढिवादिता को बल मिला क्योंकि निम्न जातियाँ ऊँची जातियों के रूढ़िवादी आचरणों व कर्मकाण्डों का अनुकरण करके स्वयं को अधिक पवित्र दिखाने की कोशिश करती है।
2. गाँवों से नगरों में आकर निम्न जाति के व्यक्तियों ने स्वयं को उच्च जाति का सदस्य बताना आरम्भ किया जिससे ग्रामीण जीवन की विशेषताओं को आघात पहुँचा।
3. द्विज जातियों की जीवनशैली का अनुकरण करने से सभी जातियों के व्यवहार प्रतिमानों की भिन्नता कम होने लगी।

4. द्विमार्गी प्रक्रिया होने से ग्रामीण क्षेत्रों में परिवर्तन की प्रक्रिया अधोगामी (Downword) एवं उर्ध्वगामी (Upword) दोनों रूपों में देखी जा सकती है।

5.7 संस्कृतिकरण का आलोचनात्मक मूल्यांकन

एम. एन. श्रीनिवास ने संस्कृतिकरण की प्रक्रिया को जिस रूप में प्रस्तुत किया है उससे अनेक विद्वान सहमत नहीं है। स्वयं श्रीनिवास ने स्वीकार किया है कि संस्कृतिकरण काफी जटिल एवं विषम अवधारणा है तथा अस्पष्ट व तार्किक दृष्टि से सुसंगत नहीं है।

श्रीनिवास की अवधारणा में परस्पर विरोधाभास भी है। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि 'किसी समूह के आर्थिक उन्नयन के बिना भी संस्कृतिकरण हो सकता है।" जबकि अन्य स्थान पर वे राजनैतिक शक्ति का संचयन शिक्षा नेतृत्व तथा संस्तरण प्रणाली में ऊँचे उठने की अभिलाषा आदि के साथ-साथ आर्थिक उन्नयन को भी उपयुक्त कारक मानते हैं।

उन्होंने लिखा कि 'संस्कृतिकरण के परिणामस्वरूप यह अनिवार्य नहीं कि हमेशा ही उच्च स्थिति प्राप्त हो जाए।" दूसरे स्थान पर 'जातियों के निरन्तर संस्कृतिकरण का परिणाम कालान्तर में पूरे हिन्दू समाज का संगति एवं संरचनात्मक परिवर्तन मी हो सकता है।" जबकि एक अन्य स्थान पर वे लिखते हैं कि किसी अछूत समूह का चाहे कितना ही संस्कृतिकरण क्यों न हो वह अस्पृश्यता की बाधा पार करने में असमर्थ ही होती है।" श्रीनिवास के अनुसार 'संस्कृतिकरण की प्रक्रिया के द्वारा लम्बवत् सामाजिक गतिशीलता संभव है अर्थात् कोई भी निम्न जाति एक या दो पीढ़ी में शाकाहारी इन मद्यपान त्याग कर तथा अपने कर्मकाण्डों का संस्कृतिकरण कर जातीय संस्तरण में अपनी स्थिति को ऊँचा उठाने में समर्थ हो जाती है।" परन्तु डी एन. मजूमदार कहते हैं कि यह अत्यन्त सन्देह जनक है कि क्या वास्तव में ऐसा होता है? केवल सैद्धान्तिक रूप में ही ऐसी स्थिति की कल्पना की जा सकती है। अछूत यद्यपि अपनी मूल सामाजिक स्थिति से अदृश्य कुछ आगे बढ़ गए हैं पर उनके लम्बवत् ऊपर उठने का कोई एक भी उदाहरण नहीं है। वस्तुत: अछूतों का फैलाव केवल क्षैतिज प्रकार का है यही बात अन्य जातियों के सम्बन्ध में भी सही है।

लम्बवत् आरोहरण एक कठिन प्रक्रिया है जबकि क्षैतिज फैलाव एक ही स्तर की भिन्न-भिन्न जातियों के मध्य सामाजिक दूरी उत्पन्न करता है। अतः जातिगत गतिशीलता के जो उदाहरण मिलते हैं ये सभी लम्बवत् नहीं बल्कि क्षैतिक गतिशीलता को ही व्यक्त करते हैं।

जिस प्रकार की गतिशीलता को श्रीनिवास संस्मृतिकरण के माध्यम से समझाना चाह रहे हैं वह कुप्पुस्वामी के अनुसार' 'संदर्भ समूह की प्रक्रिया के संचालन का उदाहरण है। लेकिन भारतीय समाज में (जहाँ जन्म पर आधारित बन्द सामाजिक अवस्था पाई जाती है जिसमें किसी भी व्यक्ति के लिए जातीय समूह को बदल कर किसी अन्य की सदस्यता ग्रहण करना असम्मद है) संदर्भ की समूह की सदस्यता प्राप्त करना भी असम्भव है।

स्वयं श्रीनिवास ने लिखा हुं कि 'जाति की एक वंशानुगत अन्तविवाही समूह के रूप में संस्तरण में वही पूर्ववत् स्थिति बनी रहती है। सामाजिक स्थिति में ही मामूली सा स्पार हो

सकता है अर्थात् संस्कृतिकरण ऐसी प्रक्रिया नहीं है जिसके द्वारा हिन्दू समाज में उल्लेखनीय संरचनात्मक परिवर्तन हो सके।"

डी. एस. सी. दुबे का कहना है कि, "श्रीनिवास शायद यह मानकर चलते हैं कि हिन्दू समाज में विभिन्न जातियों के सांस्कृतिक तत्वों में समानता है जबकि यह उचित नही है। विभिन्न जातियों के सांस्कृतिक तत्वों में पर्याप्त अन्तर है जिसे सांस्कृतिक मॉडल द्वारा नहीं समझाया जा सकता वस्तुत: यह एक प्रादेशिक मॉडल है।"

इसी प्रकार मय श्रीनिवस स्वीकार करते हैं कि, 'सूतकाल में अनेक प्रभु जातियों ने जातीय संस्तरण की प्रणाली में राजकीय आदेश द्वारा या स्वतन्त्र राजनैतिक संगठन के द्वारा उच्च स्थितियाँ प्राप्त कीं।"

डी. योगेन्द्र सिंह लिखते हैं कि, " संस्कृतिकरण की प्रक्रिया सत्ता के उत्थान एवं पतन के द्वारा संघ संघर्ष एवं युद्ध द्वारा और राजनीतिक दाँव पेंच द्वारा प्रभु जाति के भारतीय इतिहास में पद प्राप्ति को व्यक्त करती है। ये सब संरचनात्मक परिवर्तन के उदाहरण है जिनका संस्कृतिकरण के द्वारा पता नहीं चलता।"

संस्कृतिकरण की अवधारणा में एक दोष यह है कि यह प्रक्रिया सार्वभौमिक नहीं है अर्थात् इस प्रक्रिया का प्रचलन देश के सभी भागों में देखने को नहीं मिलता। डी. एन. मजूमदार के अनुसार' 'सभी स्थानों में निम्न जातियों में उच्च जातियों की संस्कृति को अनुकरण करने की प्रवृत्ति नहीं मिलती। यह प्रक्रिया किसी विशेष समुदाय या देश के किसी विशेष भाग में भले ही सब हो किन्तु संपूर्ण देश पर लागू नहीं की जा सकती ना ही किसी नीची जाति के आचार-विचार में परिवर्तन होने से इसको सामाजिक संस्तरण में कोई उँचा स्थान मिल जाता है। यदि कोई चमार ब्राह्मण के समान आचार-व्यवहार करने लगे तो क्या उसे ब्राह्मण मान लिया जायेगा।

सीमित अवधारणा - संस्कृतिकरण की प्रक्रिया की खोज श्रीनिबास ने दक्षिण भारत के मैसूर प्रान्त के कुर्ग क्षेत्र के अध्ययन के समय की। यह अवधारणा जाति व्यवस्था के केवल पद मूलक परिवर्तन की व्याख्या करती है। वृहद् भारतीय समाज के सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या करना इसके द्वारा सम्भव नहीं है। ना ही यह सामाजिक संरचना के परिवर्तन पर प्रकाश डालती है। यह केवल जाति अवस्था में जाति की स्थिति के परिवर्तन मात्र का विश्लेषण करती है।

अप्रकार्यात्मक - सामाजिक गतिशीलता के जाति में प्रतिबन्धित होने के कारण जाति में असन्तोष बढता है। उच्च जाति बाले निम्न जाति को ऊपर उठने नहीं देते और उन पर कठोरता का व्यवहार करते है। इस प्रकार संस्कृतिकरण अप्रकार्यात्मक हानिकारक तथा विघटनकारी प्रक्रिया है।

असंस्कृतिकरण :- डॉ मजूमदार ने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि भारत के सभी भागों में सस्मृतिकरण से अधिक असंस्कृतिकरण दिखाई देता है जिसके अन्तर्गत स्वयं ऊँची जातियाँ ही अपने विशिष्ट आचार-विचार, रीति-रिवाज, खान-पाना वेश-भूषा मूल्यों विश्वासों कर्मकाण्डों आदि को छोडती जा रही है। शराब एवं माँस का सेवन करने लगी हैं, अपने

परम्परागत व्यवसायों को त्याग कर नीची जाति के व्यवसायों को अपना रही है। जैसे आज ब्राह्मणों व क्षत्रियों को व्यापार वाणिज्ये या कृषि करते देखा जा सकता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि व्यापक सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रक्रिया का वर्णन करने के लिए यह वहुत उपयुक्त अवधारणा नहीं है। मजूमदार व एफ. जी. बेली ने मी इस बात का समर्थन किया है। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि श्रीनिवास ने भारतीय समाज के परिवर्तन के लिए संस्कृतिकरण की जो अवधारणा दी है वह सामाजिक मानवशास्त्र में प्रसारवादियों द्वारा दिए गए संस्कृति के संवर्द्ध्न की प्रक्रिया से है। जिसको श्रीनिवास ने भारतीय समाज के संदर्भ में पहले ब्राह्मणीकरण कहा और बाद में संस्कूतिकरण। श्रीनिवास ने भारतीय समाज के संदर्भ में संस्कृतिकरण के सम्बंध में जो कुछ मौलिक बातें कही हैं वे वैज्ञानिक नहीं हैं। लेकिन फिर भी फिलहाल क्योंकि ऐसी कोई अन्य अवधारणा भी संस्मृति संक्रमण की प्रक्रिया को समझाने के लिए उपलब्ध नही है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि श्रीनिवास ने भारतीय समाज के परिवर्तन के लिए संन्दतिकरण की प्रक्रिया को बहुत अधिक व्यवस्थित एवं प्रभावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है जिसके कारण उनकी खोज को महत्वपूर्ण माना जा सकता है।

5.9 सारांश

संस्कृतिकरण भारतीय समाज में परिवर्तन की एक प्रक्रिया है, इस शब्द का प्रयोग निम्न जातियों द्वारा उच्च जातियों की संस्मृति का अनुकरण करने के संदर्भ में किया गया है। एक ऐसी प्रक्रिया जिसमे निम्न जातियाँ उच्च जातियों के रीति-रिवाज संस्कारों विश्वासों, जीवन विधि एवं अन्य सांस्कृतिक लक्षणों व प्रणालियों का अनुकरण करती हैं। संस्तृतिकरण कहलाती है। भारत के गाँवों में प्रबल जाति वह होती है, जिसकी सामाजिक प्रस्थिति उस स्थान पर उच्च होती है जिसका शिक्षा का स्तर ऊँचा होता है, जनसंख्या की दृष्टि से अधिक होती है, जिसके पास कृषि योग्य भूमि का बड़ा भाग होता है, जो राजनैतिक एवं आर्थिक रूप से शक्तिशाली होती है। संस्कृतिकरण की कई विशेषताएँ है। जैसे इसका सम्बन्ध पूरे समूह से होता है, यह दिमार्गी प्रक्रिया है, यह प्रक्रिया हिन्दु जातियों एवं जन-जातियों दोनों में ही घट रही है, यह पदमूलक परिवर्तन की प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया कुछ प्रमुख धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक कारकों से प्रोत्साहित होती है।

5.9 सन्दर्भ ग्रंथ

1. धीरेन्द्र प्रकाश शर्मा : ग्रामीण समाज शास्त्र
2. राम आहुजा : भारतीय सामाजिक व्यवस्था
3. लवानिया एवं राठौड : भारतीय समाज
4. रविन्द्र नाथ मुखर्जी : भारतीय समाज व संस्कृति
5. लवानिया एवं जैन : भारतीय सामाजिक व्यवस्था
6. M.N Srinivas : Religion and Society among Coorge of South India.
7. Yogendra Singh : Modernization of Indian Traditons.

8. D.N. Majumdar : Caste and communication in Indian Traditions.
9. B. Kuppuswami : Social Change in India
10. M.N. Srinivas : Social Change Modern India.

5.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. संस्कृतिकरण को परिभाषित कीजिए एवं इसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
2. संस्कृतिकरण के प्रमुख स्त्रोतों एवं कारकों की विवेचना कीजिए।
3. संस्कृतिकरण की अवधारणा का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

इकाई 6

ग्रामीण समाज : परम्परा एवं आधुनिकता

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 ग्रामीण समाज : अर्थ एवं विशेषताएं

6.3 ग्रामीण समाज में परिवर्तन

6.3.1 परम्परा : अर्थ एवं विशेषताएं

6.3.2 समाजशास्त्रियों के विचार

6.4 आधुनिकता : अर्थ एवं विशेषताएं

6.5 सारांश

6.6 शब्दावली

6.7 सन्दर्भ ग्रंथ

6.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप -

- ग्रामीण समाज का अर्थ एवं विशेषताएँ समझ सकेंगे।
- ग्रामीण समाज में जो परिवर्तन आये हैं उनके बारे में जान सकेंगे।
- परम्परा और आधुनिकता का अर्थ एवं विशेषताएँ जान सकेंगे।

6.1 प्रस्तावना

समाजशास्त्रियों ने ग्रामीण एवं नगरीय दोनों प्रकार के समाजों का अध्ययन किया है। जहां एक ओर ग्रामीण समाजों की संस्कृति, जीवन-शैली सामाजिक तथा आर्थिक विशेषताए हैं, वहीं दूसरी ओर ग्रामीण समाज नगरीय समाज पर अन्र्तनिर्भर भी है। भारतीय सामाजिक संरचना को समझने के लिए ग्रामीण समुदाय, संयुक्त परिवार एवं जाति व्यवस्था का अध्ययन आवश्यक है। वास्तव में भारत गांवों का देश है अतः कोई भी समाजशास्त्री भारतीय समाज का अध्ययन करने में ग्रामीण समाज की उपेक्षा नहीं कर सकता। ग्रामीण समाज अभी भी परम्परा के आधार पर संचालित है यद्यपि आधुनिकीकरण का प्रभाव भी देखा जा सकता है।

6.2 ग्रामीण समाज : अर्थ एवं विशेषताएं

भारत में ग्रामों का अध्ययन 18वीं शताब्दी के आरम्भ से हुआ था जबकि ब्रिटिश शासकों ने ग्रामीणों की भू-स्वामित्व की स्थिति का सर्वेक्षण आरम्भ किया। सर चार्ल्स मैटकाफ, रबेडेन पावेल आदि ने भारतीय गांव को अखण्डित और अपरिवर्तनीय इकाई कहा। मैटकाफ लिखते हैं कि. ग्रामीण समुदाय लघु गणतन्त्र उनमें उनकी आवश्यकताओं की लगभग सभी वस्तुएं पाई जाती है और वे सभी विदेशी सम्बन्धो से लगभग स्वतन्त्र है। मैटकॉफ ने यह भी

लिखा कि युद्ध होते हैं, साम्राज्य बनते हैं और बिगड़ते है परन्तु गांव समाज के रूप मै अपरिवर्तनीय, स्थिर और स्वावलम्बी होकर उभरते रहे हैं। राबर्ट रैडफील्ड (Robert Redfield) ने छोटे समुदायों का अध्ययन प्रस्तुत करते समय ' लघु समुदाय ' या लिटिल कम्यूनिटी की अवधारणा प्रस्तुत, की थी। उनके अनुसार लघु समुदाय या गाद की मुख्य रूप से चार विषेशताएं देखी जा सकती है।

(i) लघु आकार

(ii) सजातीयता

(iii) आत्मनिर्भरता

(iv) विशिष्टता

चूंकि ग्रामीण समाज भी मूल रूप से लोक समाज है, अत अपने आदर्श रूप में उनमें उपरोक्त विशेषताएं होनी चाहिए। वर्तमान सन्दर्भ में गांव भी स्वयं आत्मनिर्भर इकाई नहीं रही गाद वाले मी अपनी विछिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए शहरों पर निर्भर रहते हैं। अत: उपरोक्त विशेषताएं वर्तमान में गांवों में आंशिक रूप से ही देखी जा सकती है।

फ्रांसीसी समाजशास्त्री लुई ड्यूमों ने ग्रामीण समाज के तीन अर्थ बताये हैं (1) एक राजनैतिक समाज के रूप में (2) भूमि के सह-स्वामियों की इकाई के रूप में, और (3) परम्परात्मक अर्थथवस्था और राजनैतिक व्यवस्था के प्रतीक के रूप में। डयूमों के अनुसार भारत में ग्रामीण समाज भारत की राजनैतिक और आर्थिक अवस्था का अंग रहा है।

बोध प्रश्न -1

1 ग्रामीण समाज का अर्थ समझाइए।

2 ग्रामीण समाज की विशेषताएँ बताइए।

6.3 ग्रामीण समाज में परिवर्तन

आजादी के बाद से भारतीय ग्रामीण समाज में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए है। जाति व्यवस्था जजमानी पर आधारित सामाजिक और आर्थिक सम्बन्धों तक ही सीमित नहीं है। ग्रामीण समाज में जजमानी प्रथा का कमजोर पड़ने का मुख्य कारण शहरों के साथ सम्पर्क मैं वृद्धि का होना तथा कृषि के क्षेत्र में तकनीकी उपायों के आगमन के कारण यह प्रथा कमजोर हो गई। परन्तु आज भी जन्म विवाह, मृत्यु तथा अन्य सामाजिक अवसरों का मुख्य स्त्रोत जाति ही है। विवाहों के बारे में निर्णय लेने में जाति अन्तर्विवाह, गोत्र बहिर्विवाह और अन्य सम्बन्धीत नियम ही आधार है। कर्ज के नए साधन उपलब्ध होने के कारण पारम्परिक साहूकारी प्रथा प्राय: समाप्त हो चुकी है। शिक्षा प्रवसन, व्यवसाय के परिवर्तन के कारण गांव का आर्थिक स्वरूप पहले से बहुत भिन्न है। ग्रामीण समाज में अस्पृश्यता आज उतनी अधिक कठोर नहीं है, जितनी आज से 60 वर्ष पहले थी। ग्रामीण समाज की संरचना और अर्थव्यवस्था में इन परिवर्तनों के वादक भी गांव आज शहर एवं कसे से परम्परा लोकाचार और जीवनशैली में भिन्न है।

6.3.1 **परम्परा : अर्थ एवं विशेषताएं** :

एडवर्ड शिल्स (Edward Shills) ने परम्परा की परिभाषा देते हुए लिखा है कि परम्परा समाज द्वारा चेतनापूर्वक जानबूझकर पुराने मानदण्डों के प्रति स्वीकारोक्ति है। स्वीकार करने वाला जानता है कि अमुक रीति रिवाज या व्यवहार पहले से चले आ रहे हैं और समाज द्वारा मान्य हैं। समाज भी परम्परा को माने जाने हेतु प्रीतवद्ध रहता है। जो परम्पराओं को नहीं मानता है समाज उसे निन्दित या दण्डित करता है। समाज ने प्रमुख आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु परम्परा द्वारा मानदण्ड निर्धारित कर रखा है अत: उसमें सभी का विश्वास है। परम्पराओं के प्रति लोगों में आदर विश्वास व भय व्याप्त होता है।

वास्तव में परम्परा का सम्बन्ध भूतकाल से है अर्थात हमारे पूर्वजों द्वारा बनाये गये रीति-रिवाज, विश्वासों व कार्य करने के तरीके हमें विरासत में मिले हैं. परम्परा के अन्तर्गत आते हैं। परम्परा के साथ प्राय: धार्मिक विश्वास भी जुडे रहते हैं यह माना जाता है कि परम्पराएं ईश्वर प्रदत्त है। परम्परा में सकारात्मक व नकारात्मक दोनों ही तल सम्मिलित है।

समाजशास्त्री जिन्सबर्ग ने भी परम्परा को एक संचार की प्रक्रिया के रूप में समझाया है। उनके अनुसार जब मूल्यों मान्यताओं, विश्वासों और यहां तक कि आदतों को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी की ओर हस्तानान्तरित किया जाता है तो वह हस्तान्तरण परम्परा ही होती है। उसमें भूतकाल के अनुभव निहित होत है तथा समाज की स्वीकृति भी।

परम्परा की विशेषताएं :

समाजशास्त्रियों ने परम्परा की विशेषताएं अपने-अपने तरीके से समझाने का प्रयास किया है परम्परा की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताएं निम्न प्रकार से है।

(1) परम्परा में वे तत्व ही मुख्य रूप से सम्मिलित होते हैं जिन्हें अभौतिक संस्कृति में सम्मिलित करते हैं जैसे - विश्वास, आदर्श रीति-रिवाज, विचार, तकनीकी, ज्ञान चिन्तन तथा व्यवहार के तरीके आदि।

(2) अभौतिक संस्कृति का प्रतिनिधि होने के कारण परम्परा में अमूर्तन का गुण होता है अर्थात वह मूर्त न होने के कारण देखी नहीं जा सकती।

(3) परम्परा का सम्बन्ध भूतकाल से भी है। संरचरण प्रक्रिया भूतकाल और वर्तमान के बीच कड़ी का कार्य करती है।

(4) परम्पराएं लिखित नहीं होती वे परिवार, जाति और समुदाय के माध्यम से पीढ़ी-दर-पीढ़ी संचालित होती रहती है।

(5) परम्परा में ' स्थिरता ' का गुण होता है। जद भी कभी उसमें परिवर्तन या गतिशीलता आती है तो उसका संरचनात्मक विरोध होता है।

(6) परम्परा निरन्तर गतिमान रहने के लिए संस्थाओं का सृजन करती है तथा ये संस्थाएं कालान्तर में परम्पराओं को सुदृढ़ करती है। जैसे - परिवार विवाह, जाति आदि ऐसी संस्थाएं है जो परम्पराओं को पोषित करती है और कालान्तर में स्वयं भी पोषित होती है।

(7) प्रत्येक समाज में व्यवहार को मापने के लिए स्वयं निर्धारित होते हैं। ये मूल्य परम्पराओं के अंग होते हैं जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी संचालित होते हैं।

6.3.2 समाजशास्त्रियों के विचार.

समाजशास्त्री डी.पी मुकर्जी (D.P.Mukherji) ने परम्परा की व्याख्या करते हुए कहा है कि परम्परा एक सामाजिक व्यवहार है। यह बस्तियों के व्यवहार को मानक और मूल्य प्रदान करता है। मुकर्जी के अनुसार भारतीय परम्परा के तीन मुख्य प्रकार बताये है (1) प्राथमिक (2) द्वितीयक तथा (3) तृतीयक। प्राथमिक परम्पराओं का परिपालन प्रत्येक हिन्दू के लिए अनिवार्य है। मृत्यु के पश्चात शरीर को अग्नि संस्कार द्वारा पंच भूतों में विलीन करना प्राथमिक परम्परा है। द्वितीयक तथा तृतीयक परम्परा वैकल्पिक होती है। मुकर्जी ने परम्परा की व्याख्या में तर्क को केन्द्रीय स्थान प्राप्त है। भारतीय समाज में परम्परा धर्म, वेदान्त और पश्चिमी संस्मृति से आती है और इसमें अनिवार्य रूप से तर्क होता है।

डी.एन. मजूमदार (D.N.Majumdar) ने भी परम्परा की व्याख्या की है। उनके अनुसार परम्पराएं अतीत को वर्तमान से जोडती है। वर्तमान की कोई भी व्याख्या अधूरी है, जब तक वह परम्पराओं को अपना केन्द्र नहीं मानती। परम्परा वस्तुत: नृजातीयता है, जो हमारे सांस्कृतिक इतिहास की कडिया है।

समाजशास्त्रीय जी.एस धुर्ये (G.S.Ghurye) ने भी भारतीय परम्पराओं का विश्लेषण किया है। धुर्ये के लिए हिन्दू परम्पराएं चाहे वे जातियों की हो धर्म की या जनजातियों की सभी का मापदण्ड हिन्दू परम्पराएं ही है। दुर्ये के अनुसार परम्परा पवित्र है, तथा इनकी व्याख्या धार्मिक ग्रन्थों में मिलती है। समाज में विभिन्न तल जैसे - कर्मकाण्ड, विश्वास, संस्कार आदि वे तल है जो हिन्दू परम्पराओं को बनाते हैं जो हिन्दू परम्पराएं है, वे भारतीय परम्पराएं हैं।

एस. सी. दुबे (S.C.Dube) के अनुसार भारतीय समाज में परम्परा और आधुनिकता विरोधाभास के रूप में मौजूद है। हमने विकास की योजनाएँ बनाई और यह देखा कि परम्पराएं उनमें बाधक सिद्ध हुई। भारतीय ग्रामीण समाज आज की परम्परा एवं आधुनिकता के दो ध्रुवों के बिच सहमा हुआ खडा है और अनिश्चितता की स्थिति में है। एक ओर अतीत का आकर्षण है तो दूसरी ओर प्रगति की अनिवार्यता। इन्होंने विमिन्न परम्पराओं का वर्गीकरण छ: प्रकारों के आधार को बताया है। ये छ: परम्पराएं निम्न प्रकार से है -

(1) शास्त्रीय परम्परा
(2) क्षैत्रीय परम्परा
(3) स्थानीय परम्परा
(4) पश्चिमी परम्परा
(5) उभरती हुई राष्ट्रीय परम्परा
(6) विशिष्ट समूहों की स्थानीय उप-सांस्कृतिक परम्पराएं

दुबे ने बताया कि उपरोक्त परम्पराओं का अध्ययन ग्रामीण और नगरीय सन्दर्भो में किया जाना चाहिए। दुबे की मान्यता है कि भारत में परम्पराओं का संगठन द्विधुबीय व्यवस्था के रूप में नहीं होकर बहुधुर्वीय व्यवस्था के रूप में हुआ है। जहां एक से अधिक परम्पराएं है,

जिनमें से प्रत्येक के अपने प्रामाणिक धर्मग्रन्ध और नैतिक आचार संहिताएं है, परिस्थिति को और अधिक उलझनपूर्ण बना देती हैं।

योगेन्द्र सिंह ने अपनी पुस्तक 'मॉडर्नाइजेशन ऑफ इण्डियन ट्रेडीशन ' (Modernization of India Tradition) में भारत के सन्दर्भ में परम्परा के सम्बोधन का निर्माण निम्न बार विशेषताओं पर आधारित बाताया है।

(1) सामूहिक समूर्णता

(2) संस्तरण

(3) परलोकवादी

(4) निरन्तरता

सामूहिक सम्पूर्णता का तत्व व्यक्ति को गौण व समूह को प्रमुखता प्रदान करता है। इस तल के अन्तर्गत परमार्थ का माह निहित है। परिवार एक समाज की सशक्त संस्था के रूप में भारतीय परम्परा का प्रमुख आधार रहा है। व्यक्तिवाद ने परिवार के विघटन की प्रक्रिया को बल प्रदान किया है। जबकि सामूहिकता ने परिवार की आधारशिला को सुदृढ़ कर स्थापित किया है। सामूहिक समूर्णता के अन्तर्गत जाति व्यवस्था, ग्राम व्यवस्था व नातेदारी व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्तिगत पहचान के स्थान पर समूहगत पहचान को जन्म दिया है।

योगेन्द्र सिंह ने बताया कि परम्परा की दूसरी विशेषता संस्तरण है जो जाति व्यवस्था के सन्दर्भ में देखा जा सकता है। ब्राह्मण क्षेत्रिय, वैश्य व शूद्र का विभाजन वैदिक काल से गुणों के आधार पर संस्तरण का स्वरूप रहा है। असमानता का संस्थागत स्वरूप इस अवस्था के अन्तर्गत निहित है, परन्तु उसका आधार गुण होने के कारण तर्कयुक्त लगता है। भारतीय परम्परा में संस्तरण का दूसरा सरूप गुणों के माध्यम से देखा जा सकता है जैसे - सतोगुण तमोगुण व रजोगुण संस्तरण के स्वरूप हैं।

परलोकवाद की अवधारणा हिन्दु तत्वज्ञान का सार है। यह तत्व सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक व ज्ञान के स्तर पर अनेक प्रकार की विविधताएं लिए अभिवक्त हुआ है।

निरन्तरता के तल का महत्व लौकिक व अलौकिक आधारों पर परिलक्षित होता है - निरन्तरता परम्परा का मूलभूत आधार रहा है। समाज के संगठनात्मक संचालन के लिए व्यवहार विचार व मूल्यों में निरन्तरता का होना आवश्यक है।

एन.के. सिंघी ने अपनी पुस्तक ' समाजशास्त्र विवेचन ' में परम्पराओं के तीन प्रमुख स्वरूप बताए हैं-

(1) पुरानी परम्पराएं और सभ्यताएं

(2) शास्त्रीय परम्पराएं

(3) लोक परम्पराएं

प्रथम प्रकार की परम्पराओं के अन्तर्गत सामान्यतया पूर्व- ऐतिहासिक संस्कृतियों एवं सभ्यताओं की परम्पराएं आती है जैसे - सिन्धु घाटी की सभ्यता या परम्परा। सिन्धु घाटी की सभ्यता में मिले अवशेषों के आधार पर परिवार की संरचना या पारिवारिक संबंधो के विषय में सूचना आनुमानिक ही हो सकती है प्रमाणिक नहीं।

दूसरी परम्परा शास्त्रीय परम्परा है, यह हमारे पुराने साहित्य से उत्पन्न हुई है। जैसे - वेदों, उपनिषदों आदि। यह परम्परा समृद्ध व लिखित होती है।

तीसरी परम्परा लोक परम्परा होती है, जो मौखिक परम्परा के रूप में भी जानी जाती है तथा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तान्तरित होती है। भारतीय समाज में लोक परम्परा बहुत समृद्ध है और इसमें अनेक समस्याओं का समाधान निहित रहता है।

6.4 आधुनिकता : अर्थ एवं विशेषताएं

आधुनिकता परम्परा के विपरीत लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए उत्तर - औधोगिक काल की देन है। आधुनिकता में परिवर्तन तो निहित है ही, किन्तु परिवर्तन की दिशा का भी आभास होता है। विलबर्ट मूर (Wellbert Moore) के अनुसार सांस्कृतिक क्षेत्र में समाज में मूल्यों, दर्शन,विज्ञान व धर्म में अनेक प्रकार की विभिन्नताएं आधुनिक समाज के प्रमुख लक्षण है। आधुनिक समाज में धर्म निरपेक्ष शिक्षा व साक्षरता के विस्तार को महल दिया जाता है। राजनीतिक अर्थो में आधुनिकता की अवधारणा के पीछे लोकप्रिय प्रजातान्त्रिक विचारधारा होती है। जिसके अन्तर्गत परम्परा से चले आये शासकों की वैधता को अस्वीकार किया जाता है। इसमें अर्जित पदों को महत्व दिया जाता है तथा प्रदत्त प्रस्थितियां महत्वहीन हो जाती है। प्रो. एस॰सी. दुबे आधुनिकता को मूल्य निरपेक्ष धारणा मानते हैं। भारत में आधुनिकता का मॉडल विश्व में किसी भी मॉडल से मेल नहीं खाता। एम.एन. श्रीनिवास (M.N. Srinivas) ने आधुनिकता को मूल्यों से जुडा हुआ संबोध माना है, ऐसे मूल जो मानव के विकास और भौतिक समृद्धि को आगे बढ़ाते हैं।

भारतीय समाज में आधुनिकता :

आधुनिकता का आरम्भ यूरोप में ज्ञानोदय (Enlightment) से माना जाता है। यूरोप में आधुनिकता विज्ञान के साथ-साथ उद्योगों का भी विकास हुआ तथा सामन्तवाद ने पूंजीवाद को जन्म दिया। यूरोप में आधुनिकता को मुख्य रूप से चार आधारों पर समझा जा सकता है: पूंजीवाद, उद्योगवाद, राज्य की शक्ति और सैन्य शक्ति। एशिया महाद्वीप में आधुनिकता की चर्चा सन् 1968 में गुन्नार मिर्डल ने अपनी पुस्तक ' एशियन ड्रामा के अन्तर्गत की है। उनके अनुसार एशिया के लगभग सभी देश राष्ट्र निर्माण में आधुनिकता को अपना लक्ष्य समझते थे। डेनियल लरनर ने आधुनिकता का अर्थ शहरीकरण, संचार व्यवस्था उपयोग तथा संचार से उत्पन्न होने वाली कलात्मक वस्तुओं से लिया है।

भारतीय समाज में आधुनिकता के विकास में वैश्वीकरण की प्रासंगिकता कुछ वर्षा में बहुत अधिक बढ़ गई है। देश में बढ़ते हुए उपमोग के पीछे आधुनिकता है। औद्योगिकरण और क्रषि विकास ने लोगों के उपभोग करने के सम्पूर्ण प्रतिमान को ही वदल दिया है।

आधुनिकता से व्यक्ति की जीवन शैली में मूलभूत परिवर्तन हुआ है। भारत के जनजाति समाज के लिए आधुनिकता का तात्पर्य संवैधानिक सुविधाओं और आरक्षण से है। भारतीय समाज में आधुनिकता जाति वर्ग और नृजातीय समूहों की सापेक्षिक है।

आधुनिकता की विशेषताएं :

योगेन्द्र सिंह ने आधुनिकता की मुख्य रूप से निम्न चार विशेषताएं बताई है।

(1) व्यक्तिवादिता

(2) समानता

(3) परिवर्तन के प्रति आस्था

(4) धर्म निरपेक्षता

उपरोक्त चारों विशेषताएं आधुनिकता के पीछे दिखाई देने वाली मानसिकता को बतलाती है। सामाजिक दृष्टिकोण की तुलना में व्यक्तिवादी दृष्टिकोण, भेदभाव की तुलना में समानता स्थिरता की तुलना में परिवर्तन और धर्म के प्रति कट्टरता की तुलना में धर्मनिरपेक्षता, आधुनिकता की अवधारणा का निर्माण करते हैं। आधुनिकता को मुख्य रूप से तीन अन्य विशेषताओं - (1) तार्किकता. (2) वैज्ञानिकता तथा (3) आर्थिक संरचना की विशिष्टता से समझा जा सकता है। तार्किकता के अन्तर्गत केवल उन्हीं बातों को या परम्पराओं को स्वीकार किया जाता है, जो तर्क की कसौटी पर खरी उतरती है। वैज्ञानिकता एक दृष्टिकोण है जो हमारे जीवन को व्यवस्थित तथा साधनों व लक्षणों को व्यवहारिक बनाता है। आर्थिक संरचना जटिल होती है, श्रम का विभाजन होता है तथा मशीनों के कारण उत्पादन भी बडे पैमाने पर होता है। जिससे उपभोग की संस्कृति का वर्चस्व होता है।

''समाजशास्त्र विवेचन ' पुस्तक में एन.के. सिंघी व वसुधाकर गोस्वामीने अपनी पुस्तक आधुनिकता एक दृष्टिकोण होता है जिसमें जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में गतिशीलता पाई जाती है। यह गतिशीलता हमारे धार्मिक जीवन सामाजिक जीवन तथा चिन्तन में देखी जा सकती है। आधुनिकता को निम्न विशेषताओं के आधार पर समझा जा सकता है।

(1) आधुनिकता एक दृष्टिकोण है जो परम्पराओं में परिवर्तन किये जाने के उपरान्त विकसित होता है। यह हमारे चिन्तन और व्यवहार दोनों में दृष्टिगोचर होता है।

(2) आधुनिकता व्यक्ति और समाज में प्रदत्त पदो के स्थान पर अर्जित पदों को स्थापित करती है। आधुनिक समाज में प्रदत्त परिस्थितियां गौण हो जाती है और अर्जित परिस्थितियां उनका स्थान लेती रहती हैं।

(3) आधुनिकता प्रत्येक विचार और व्यवहार को तब तक स्वीकार नहीं करती जर तक कि वह विचार या व्यवहार तर्क द्वारा सिद्ध न हो जाये।

(4) आधुनिकता ऐसी अर्थव्यवस्था चाहती है जो विकास के प्रति उन्मुख हो अर्थात जिसमें उत्पादन के साधन हो।

(5) आधुनिकता मानव संसाधनों पर अधिक से अधिक निवेश पर जोर देती है ताकि मानुषों की क्षमता का अधिक से अधिक उपयोग हो सके।

(6) आधुनिकता एक खुले समाज की पक्षधर होती है जिसमें गतिशीलता को महत्व दिया जाता है। इसमें व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार प्रस्थिति बदल सकता है।

(7) आधुनिकता जाति धर्म, भाषा, गांव व नगर आदि की संकीर्ण भावनाओं से ऊपर उठकर राष्ट्रीय दृष्टिकोण की पक्षधर होती है।

(8) आधुनिकता उपयोगवादी संस्कृति में विश्वास रखती है। वस्तुओं के उत्पादन का उद्देश्य उपभोग होता है ।

उपरोक्त विशेषताओं के आधार पर आधुनिकता को समझा जा सकता है। समाज में जब आधुनिकता आती है तब इसके साथ प्रौद्योगिकी पूंजीवाद और प्रजातन्त्र भी आते हैं। ये प्रक्रियाएं 'बहुत शक्तिशाली होती है, परिणामस्वरूप समाज में कई परिवर्तन आते हैं।

बोध प्रश्न -2

(1) ग्रामीण समाज में परम्परा का क्या अभिप्राय है?

(2) परम्परा की प्रमुख विशेषताएं बताईये।

(3) आधुनिकता को परिभाषित कीजिये तथा इसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालिये।

(4) आधुनिकता और परम्परा के मध्य बहस को विस्तारपूर्वक समझाइये।

6.6 सारांश

ऐतिहासिक सन्दर्भ में समाजशास्त्री एस.एल. दोषी ने अपनी पुस्तक ' आधुनिकता, उत्तर - आधुनिकता एवं नव समाजशास्त्रीय सिद्धान्त में भारतीय समाज में आधुनिकता का आवागमन ब्रिटिश उपनिवेशवाद के साथ जोड़कर समझने का प्रयास किया है। भारतीय इतिहास के मध्यकाल में यहां सामन्तवादी व्यवस्था थी। ऐसी सामाजिक - राजनीतिक व्यवस्था में अंग्रेज़ो ने भारत पर शासन किया, इसी के साथ ही आधुनिकता का भी आगमन हुआ। परम्परा पर टिप्पणी करते हुए डी.पी. मुकर्जी ने कहा कि भारत में परम्परा व्यक्ति केन्द्रित नहीं है। इस समाज में संघ की अवधारणा एक महत्वपूर्ण अवधारणा है। इसी प्रकार से फ्रांसीसी समाजशास्त्री लुई डयूमो ने अपनी पुस्तक होमो-हेरारकिकस में लिखा कि भारतीय समाज की परम्पराएँ व्यक्ति की धारणा का कोई स्थान नहीं रखती और जाति, ग्रामीण समुदाय और परिवार व्यवस्थाओं को जोड़ने का काम ये परम्पराएं ही करती है। वास्तव में भारतीय समाज एक परम्परा का समाज है। इसका आधुनिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है।

बरनार्ड कोहन ने तीन ऐसे उपागमों का उल्लेख किया जो भारतीय समाज को वस्तुत: एक परम्परागत समाज मानते है। प्रथम उपागम प्राव्य विधावादियों का है। इनके अनुसार संमूर्ण भारतीय समाज में कोई विविधता नहीं। सभी भागों में महान परम्परा पाई जाती है और यह महान परम्परा ही देश को परम्परागत समाज बनाती है। द्वितीय उपागम मिशनरी है। यह उपागम वस्तुत: ईसाई मिशनरियों का था। उनके दिवार में भारतीय समाज की विकृति का कारण हिन्दू धर्म था। इस धर्म ने ही परम्पराओं को भ्रष्ट बना दिया था। समाज का सुधार धर्म परिवर्तन द्वारा ही सम्भव था। तृतीय उपागम प्रशासनिकों का। ब्रिटिश प्रशासन यह चाहता था कि भारतीय समाज के लोग कर्मकाण्ड और रूढ़िबाद में उलझे रहे।

जब हम परम्परा और आधुनिकता की बहस को देखते है तब एक परिवर्तन 20वी शताब्दी के आरम्भ में देखने को मिलता है। 19वी शताब्दी के अन्त में अब परम्परा के साथ साथ संरचनात्मक आधुनिकीकरण भी देश में आने लगा भारतीय समाज में जब आधुनिकता आई तो इस व्यवस्था ने पूंजीवाद व उद्योग को प्रोत्साहन देना प्रारम्म किया।

समाजशास्त्री एस.एल. दोषी ने बताया कि परम्परा बनाम आधुनिकता की यह बहस समाजशास्त्र में 1960-80 के दशकों में अधिक चर्चा में रही। योगेन्द्र सिंह के अनुसार यह आवश्यक नहीं कि आधुनिकता अनिवार्य रूप से परम्परा को कमजोर ही करती है। यह भी देखा गया है कि कई बार आधुनिकता के हाथों परम्परा अधिक शक्तिशाली भी हो जाती है। उदाहरण के लिये भारतीय समाज में जाति व्यवस्था। इस व्यवस्था को आधुनिकता या प्रजातांत्रिक व्यवस्था ने कानूनी तौर पर निषेध कर दिया। संविधान ने इसके अस्तित्व को ही समाज कर दिया। यह होते हुए भी आज भारतीय समाज में इस व्यवस्था की भूमिका बड़ी कारगर है। आज किसी भी प्रकार का चुनाव जाति की भूमिका के बिना नहीं लड़ा जा सकता। अर्थात जाति की परम्परा आधुनिकता के हाथों कमजोर होने की अपेक्षा अधिक ताकतवर हो गई है। परम्परा और आधुनिकता का केन्द्रीय आधार मूल्य है। इन मूल्यों के बल पर ही जाति, परिवार धर्म तथा शिक्षा आदि बनती है।

अन्त में हम यह कह सकते है कि आधुनिकता आज के समय में प्रभावशाली तो है लेकिन फिर भी भारतीय समाज का जो देशी आधार है उसे बदल नहीं पाई।

6.7 शब्दावली

परम्परा - परम्परा समाज द्वारा चेतनापूर्वक जानबूझ कर पुराने मानदण्डों के प्रति स्वीकारोक्ति है।

आधुनिकता - आधुनिकता परम्परा के विपरीत लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिय उत्तर - औद्योगिक काल की दोनो है।

6.8 सन्दर्भ ग्रंथ

1. दोषी एस.एल., आधुनिकता, उत्तर - आधुनिकता एवं नव -समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, रावत पब्लिकेशन, जयपुर, 2002
2. सिंधी, नरेन्द्र कुमार व गोस्वामी वसुधाकर, समाजशास्त्र विवेचन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर 2005
3. Doshi, S.L. Modernity, post - Modernity & Neo-Sociological Theory, Tawat Publication, jaipur : 2002
4. Singh, Yogendra, Modernization of Indian Tradition, Rawat Publication, Jaipur: 1994
5. Singh, Yogendra, Culture Change in India, Rawat Publicaton, Jaiput 2000

इकाई 7

ग्रामीण शक्ति संरचना

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 शक्ति संरचना

7.2.1 शक्ति का अर्थ

7.2.2 अभिजन की अवधारणा

7.2.3 शक्ति संरचना की अवधारणा

7.3 ग्रामीण शक्ति संरचना

7.31 शक्ति संरचना का मापन

7.3.2 शक्ति संरचना के स्त्रोत

7.4 ग्रामीण शक्ति संरचना के नये आयाम

7.4.1 पंचायती राज का विकेन्द्रीकरण

7.4.2 पिछड़ों का सबलीकरण

7.4.3 महिला सबलीकरण

7.4.4 राजनीतिक दल

7.5 सारांश

7.6 शब्दावली

7.7 सन्दर्भ ग्रंथ

7.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप -

- शक्ति संरचना के अवधारणात्मक आधारों का परिचय प्राप्त कर सकेंगे
- ग्रामीण शक्ति संरचना के स्रोतों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे
- ग्रामीण शक्ति संरचना की वर्तमान स्थिति के बारे में समझ सकेंगे
- ग्रामीण शक्ति संरचना में आ रहे परिवर्तनों का लेखा-जोखा समझ सकेंगे
- ग्रामीण शक्ति संरचना को प्रभावित करने वाले नये कारकों का विश्लेषण कर सकेंगे

7.1 प्रस्तावना

ग्रामीण शक्ति संरचना का अध्ययन समाजशास्त्र के ग्रामीण समाजशास्त्र तथा राजनीतिक समाजशास्त्र दोनों के साथ जुड़ा हुआ है। इसके अतिरिक्त इस अध्ययन का संबंध ग्रामीण क्षेत्रों के संस्तरणों से भी है, जो ग्रामीण क्षेत्रों के शक्ति संतुलन तथा शक्ति संरचना को प्रभावित करते हैं। ग्रामों में प्राय: यह प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि ग्राम में कौन लोग हैं जो

सामूहिक निर्णयों को प्रभावित करते हैं तथा निर्णय लेने की प्रक्रिया में अपना महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। इतिहास के क्रम में निर्णय प्रभाव लोगों की स्थितियाँ बदलती आई हैं। एक ओर निर्णय लेने की प्रक्रिया में स्वतंत्रता रही है, दूसरी ओर सत्ता का जो भी स्वरूप रहा है- वह भी इस प्रक्रिया को प्रभावित करता रहा है। सामंतवाद से प्रजातंत्र की व्यवस्थाओं की हम यदि तुलना करें तो यह अंतर स्पष्ट नजर आ जाता है। राजस्थान जैसे राज्य में यह अंतर और भी अधिक स्पष्ट है। राजनीतिक समाजशास्त्रियों की इस बात में रुचि रही है कि दे इस यथार्थता को ढूँढने का प्रयास करें कि आखिर ग्रामों की इन शक्ति संरचनाओं, के स्वरूप क्या हैं? पर इस इच्छा से संबंधित अनेक प्रश्न है - जैसे इन शक्ति संरचनाओं के स्रोत क्या हैं? स्वयं में शक्ति संरचना क्या है? भारतीय समाज में शक्ति संरचना के क्या आधार हैं और परिवर्तन की कौनसी धुरियाँ हैं, जिनसे शक्ति संरचना में परिवर्तन आ रहा है? सबसे पहले इस प्रश्न पर विचार करना प्रासंगिक होगा कि शक्ति संरचना की अवधारणा क्या है?

7.2 शक्ति संरचना का अर्थ

शक्ति संरचना के अर्थ को समझने से पहले स्वयं शक्ति के समाजशास्त्रीय अर्थ को समझना पड़ेगा।

7.2.1 **शक्ति की अवधारणा**

सामाजिक संरचना में विभिन्न व्यक्तियों के बीच पारस्परिक अन्तीर्क्रयाओं के तरीके अलग-अलग तरह के होते हैं। प्राय: इसका संबंध समाज में उन प्रीस्थीतयों से भी जुडा भा होता है, जो किसी व्यक्ति को प्राप्त होती है। इन प्रीस्थीतयों के व्यवहार के आधार पर ही समाज में संस्तरण भी बनता हैं। यह कहा जाता है कि समाज में विभिन्न व्यक्तियों के बीच संबंध और व्यवहार प्राय: किसी न किसी प्रकार के शक्ति सबंधों पर आधारित होते हैं। इसीलिए यह कहना उचित होगा कि शक्ति का अर्थ व्यक्तियों के बीच के संबंधों के रूप के साथ जुड़ा हुआ है। विमिन्न शास्त्रों ने इसीलिए शक्ति के अर्थ को अलग-अलग तरह से परिभाषित किया है। इसीलिए शक्ति की एक सर्वसम्मत परिभाषा कर पाना मुश्किल है। पर एक बात निश्चित है कि शक्ति का संबंध निहित तत्वों से नहीं है। एमरसन (Emersen) के अनुसार शक्ति पराश्रित है। शक्ति के संबंध की व्याख्या करते समय प्रश्न उठ खडे होते हैं - आपके पास कोई अधिकार है या नहीं, आपके पास कोई सत्ता है या नहीं, आपके पास कोई प्रभाव है या नहीं। इसीलिए इस प्रकार के संबंधों में वैधता अथवा अवैधता का प्रश्न उठ खड़ा होता है। शक्ति का वैध प्रयोग समाज में स्वीकार्य है, अवैध प्रयोग स्वीकार्य नहीं। मैक्स वैबर (Max Weber) का स्पष्टीकरण इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। वैबर के अनुसार शक्ति का संबंध किसी सामाजिक क्रिया में व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के विरोध होते हुए भी अपनी इच्छाओं को प्रभावी कर लेने से है। बाद में इसी आधार पर बैवर ने सत्ता और सत्ता के विभिन्न रूपों की मीमांसा की। मैक्स बैवर की इसी बात को राबर्ट डहल (Robert Darl) ने कुछ इस तरह व्यक्त किया - 'अ', ब' के ऊपर इस सीमा तक शक्तिशाली है कि अ ब' से किसी ऐसे काम को करा सकता है जो अन्यथा वह नहीं करेगा। इस दृष्टि से शक्ति किसी भी प्रकार के प्रभाव अथवा क्षमता के साथ जुडी होती है।

अल्थ्युजर (Althesure) ने बाद में व्यक्ति की क्षमता अथवा गुणात्मकता से परे एक और तथ्य की चर्चा की। व्यक्ति का संबंध इस तथ्य से भी है कि समाज की संरचना कैसे नियोजित की गई है और तत्संबंधी सामाजिक प्रचलन क्या है? अत: व्यक्तियों तथा समूहों के प्रभुत्व और शोषण का संबंध इन्हीं प्रकार की शक्तियों से है।

उपर्युक्त सारी व्याख्या को शक्ति के अर्थ के संदर्भ में, तीन बिन्दुओं में समेटा जा सकता है।

1. शक्ति का संबंध सामाजिक संबंधों के स्वरूप से है, जिनमें दो व्यक्ति अथवा दो से अधिक व्यक्तियों के समूह शामिल होते है।
2. इस संबंध व्यवस्था में एक व्यक्ति या समूह दूसरे व्यक्ति या समूह से अपनी इच्छाओं की पूर्ति करा लेने में समर्थ होता है।
3. किसी भी सामाजिक प्रणाली में शक्ति एक बंध प्रभाव है।
4. शक्ति प्राय: हर प्रकार के सामाजिक संबंधों में मौजूद है। ऐसा नहीं है कि शक्ति केवल विशेष संबंध अथवा विशिष्ट घटना में ही देखी जाये।

किसी भी समाज में स्त्रोतों के वितरण के लिए शक्ति की अवधारणा एक महत्वपूर्ण अवधारणा है। प्राय: यह कहा जाता है कि आर्थिक और सामाजिक स्रोत कुछ ही लोगों के हाथ में रहते हैं। ये ही स्त्रोत इन कुछ लोगों को शक्तिशाली भी वनाते हैं। शक्ति की अवधारणा ऐसी ही परिस्थितियों के लिए अच्छे विश्लेषण का कार्य कर सकती है।

7.2.2 **अभिजन** (Elites) **की अवधारणा**

जिन लोगों के पास सामाजिक शक्ति है या सामाजिक (Power) शक्ति के प्रयोग के लिए कोई पद है, उन्हें अभिजन (Elites) कहा जाता है। किसी भी क्षेत्र में श्रेष्ठता अभिजन का परिचायक है। डॉक्टरों में सर्वश्रेष्ठ चिकित्सा क्षेत्र का अभिजन है। विश्वविद्यालय में सर्बश्रेष्ठ जान का व्यक्ति विश्वविद्यालय का अभिजन है। इस प्रकार राजनीति में कुशल धुरंधर व्यक्ति राजनीति का अभिजन है। हम लोग ऐसे बहुत से लोगों को जानते हैं जिनका नाम अपने क्षेत्र में श्रेष्ठ स्तर पर है। वैज्ञानिक अब्दुल कलाम, राजनीतिज्ञ अटल बिहारी वाजपेयी, समाजशास्त्री योगेन्द्र सिंह आदि श्रेष्ठता के उदाहरण हैं और अभिजन की श्रेणी में भी हैं। परेटो ने अभिजन उन लोगों को माना जो किसी भी मानवीय गतिविधियों के क्षेत्र में श्रेष्ठतम माने जाते हैं। किसी भी समाज में जिन लोगों के पास शक्ति होती है, अथवा शक्ति प्रयोग की क्षमता के लिए कोई पद है, उन लोगों को अभिजन कहा जा सकता है। कभी-कमी ये ही अभिजन सत्ताधारी वर्ग या 'अधिकारी वर्ग' भी कहलाते हैं। यदि मोस्का की दृष्टि से विचार किया जाय तो अभिजन समाज में शक्ति विभाजन का संकेत देते हैं। मोस्का (Mosca) के अनुसार समाज में एक वर्ग शासक होता है और दूसरा वर्ग शासित। सी. राइट मिल्स (C.Wright Mills) ने शक्तिवान अभिजन (Power Elites) की चर्चा करते हुए कहा कि राजनैतिक, आर्थिक तथा सैन्य उच्च पदाधिकारी शक्तिवान अभिजन का निर्माण करते हैं। मिल्स अमरीकन समाज की चर्चा कर रहे थे। यह अभिजन की संयुक्तता का प्रतीक था। बोटमोर (Bottomore) ने जब प्रजातंत्र का उल्लेख किया

तो कहा कि प्रजातंत्र में अमिजन की विविधता हो सकती है और विभिन्न व्यवसायों की पृष्ठभूमि के लोग शक्तिवान अभिजन हो सकते हैं।

अभिजन की व्याख्या में एक महत्वपूर्ण अंश अभिजन के वर्गीकरण का भी है। शक्ति से संबंधित अभिजन में एक बर्गीकरण - सत्ताधारी अभिजन, गैर-सत्ताधारी अभिजन और आम आदमी का है। बोटोमोर (Bottomore) के अनुसार अभिजनों का यह वर्गीकरण एक त्रिभुज के समान है जो निम्न प्रकार से देखा जा सकता है।

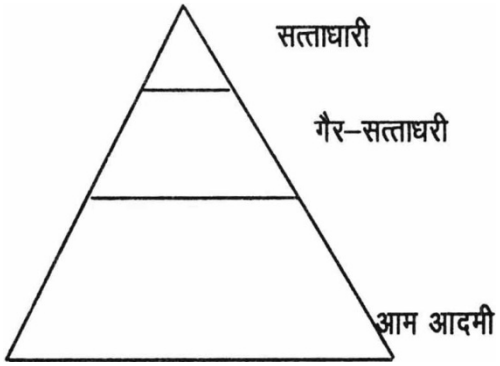

सत्ताधारी अभिजन श्रेष्ठतम स्थिति है। गैर-सत्ताधारी अभिजनों की स्थिति मध्यम है तथा आम आदमी की स्थिति सबसे निम्न। समाज में शक्ति का यह संस्तरण शक्ति संरचना का भी आधार है।

इन अभिजनों के अपने-अपने गुण हैं। बोटोमोर (Bottomore) ने औद्योगिक समाजों में कई तरह के लोगों की अभिजन बनने की संभावना व्यक्त की। उनके अनुसार 1. वंशानुगत नेतृत्व, 2. मध्यम वर्ग, 3. क्रांतिकारी बौद्धिक, 4. उपनिवेशवादी प्रशासक, और 5. राष्ट्रवादी नेतृत्व- दे स्त्रोत हैं जिनसे शक्तिवान अभिजन उभर सकते हैं। भारत जैसे देश में कई अन्य स्त्रोत भी हो सकते हैं, जो अभिजन के प्रतीक हो सकते हैं- जैसे क्षेत्र की दवंग जाति, पारंपरिक भूमि स्वामी तथा पारंपरिक महाजनी व्यवसाय।

किसी भी समाज की शक्ति संरचना लब की व्याख्या आगे के पृष्ठों पर है) में सामाजिक संरचना द्वारा प्रदत्त उन संभावनाओं का बडा हाथ होता है जो गुणात्मक दृष्टि से अभिजन को बनाते करते हैं।

बोध प्रश्न- 1

1. समझाइये निम्न घटनाएँ वैध शक्ति है या अवैध शक्ति?

अ- सडक पर हथियार दिखा कर किसी का सामान लूटना।

आ- किसी न्याय अधिकारी द्वारा किसी अपराधी पर किया गया आर्थिक दण्ड

2. मैक्स बैबर द्वारा दी गई शक्ति की अवधारणा क्या है?

3. अभिजन किसे कहते है?

7.2.3 **शक्ति संरचना की अवधारणा**

शक्ति तथा शक्तिवानों की अवधारणाओं की व्याख्या के बाद आवश्यक है कि शक्ति संरचना की अवधारणा पर विचार किया जाये। शक्ति संरचना का अर्थ क्या है? कोई भी शक्ति संरचना संबंधों की ऐसी बनावट है, जो इस तरह संरचित की गई है कि कोई भी व्यक्ति जिसे इस संरचना में सामाजिक शक्ति मिली हुई है, वह सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था पर अपने निर्णयों को प्रभावी कर सकता है। इस सामाजिक शक्ति का प्रयोग, वस्तुत: किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह को समाज की अन्तर्सम्बन्धी अवस्था से ही प्राप्त होती है। इस तरह से शक्ति संरचना वह संरचना है जिसके माध्यम से व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह किसी सामाजिक अवस्था में निर्णय लेने की प्रक्रिया को प्रभावित या नियंत्रण करता है। पलाइड हंटर (Field Hunter) ने लिखा है कि ऐसी संरचना समितियों गुटों तथा संस्थात्मक इकाइयों में हो सकती है। इसका अर्थ यह भी है कि शक्ति प्रयोग के लिए किस व्यक्ति का प्रभाव है और कौन व्यक्ति अधिकरी है- जो निर्णय की प्रक्रिया को प्रभावित कर सकता है शक्ति संरचना का भाग है। एक अखबार का सम्पादक मजे से कोई संस्थागत अधिकारी न हो पर अपने सम्पादकीय तथा लेख प्रकाशन के माध्यम से लोगों के निर्णयों को प्रभावित कर सकता है। किसी जाति का मुखिया चुनाव की प्रक्रियाओं में मतदाताओं के निर्णयों को प्रभावित कर सकता है और कोई शासकीय अधिकारी संस्थागत नियमों के आधारपर आचरणों को नियंत्रित कर सकता है। फ्लायड हंटर (Field Hunter) ने समुदायों में शक्तिवान व्यक्ति तथा समाज के पारस्परिक संबंधों की विवेचना की थी। मिलर (Miller) ने भी शक्ति संरचना को परिभाषित करते हुए लिखा है कि ऐसी संरचना प्रभावशीलता का वह तानाबाना है जो किसी समुदाय में निर्णयों को प्रभावित करता है और उसे प्रभावी भी करता है।

इस संरचना के कई हिस्से हैं :

1. कुछ लोग ऐसे होते हैं जो पदधारी हैं और सत्ता के प्रतीक हैं, कोई भी व्यक्ति जिसके पास सत्ता है- शक्तिवानों की इसी श्रेणी में आता है।
2. प्रीतष्ठात्मक शक्ति - जिसका संबंध कुछ ऐसे लोगों से है जो प्रतिष्ठित हैं और सामाजिक अथवा व्यक्तिगत दोनों ही पीरवेशों में महत्वपूर्ण है।
3. मुद्दों को प्रभावित करने वाली शक्ति जो किसी अवसर पर जननायक हो जाते है और हो रहे निर्णयों को प्रभावित करते हैं।

इस प्रकार की निर्मित संरचना कई प्रकार की हो सकती है। ऐसा हो सकता है कि सभी मामलों में हस्तक्षेप या निर्णय लेने की शक्ति प्रकिया में स्थापित एक ही श्रेणी के लोग सबल तथा सक्रिय हों या ऐसा भी संभव है कि व्यवस्था के अलग-अलग क्षेत्रों के लिए अलग-अलग प्रकार के लोग शक्ति का प्रयोग करने में समर्थ हों। इन दोनों प्रकार की शक्ति संरचनाओं के तकनीकी नाम एक रूपीय शक्ति संरचना (Monomorphic Power Structure) और बहुरूपीय शक्ति संरचना (Poly Morphic Power Structure) हैं। इस प्रकार की रचना में शक्तिवान अभिजन, संगठनीय नेतृत्व, जाति मुखिया बुद्धिजीवी, विशिष्ट वर्ग के व्यक्ति, जनमत

निर्माण करने वाले व्यक्ति आदि कई प्रकार के लोग हो सकते हैं। अपनी अपनी जगह पर उल्लेखित लोग में निर्णय लेने और निर्णयों को नियंत्रित करने की शक्ति है।

शक्ति संरचना की अवधारणा की यह चर्चा एक और तथ्य के साथ समाप्त की जा सकती है। शक्ति संरचना का अपना एक संस्तरण होता है। यह संस्तरण समूर्णता में किसी समुदाय या समाज की शक्ति संरचना का निर्माण करता है। संस्तरण के इस सरूप को निम्न चित्र से समझा जा सकता है -

चित्र -2

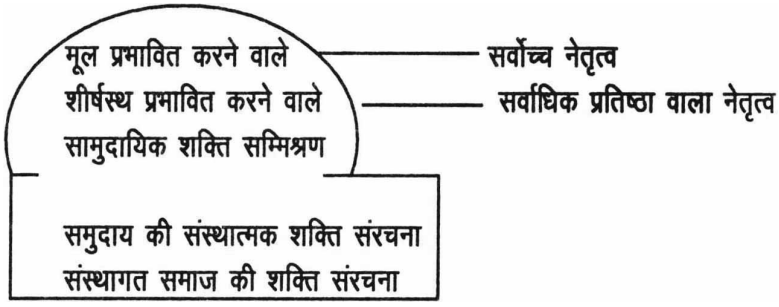

प्रो. एम.एन. श्रीनिवास (M.N. Shriniwas) ने प्रभावी जाति (Dominant Caste) की अवधारणा में जनसंख्या कृषि भूमि, शिक्षा, बाहय संपर्क तथा धनवानता के आधार पर समाज में जाति प्रभुत्व को स्वीकार किया था। वास्तव में प्रभावी जातियों है जो गॉव पर शासन करती है। गॉव के बारे में निर्णय ये जातियाँ ही लेती है।

7.3 ग्रामीण शक्ति संरचना

शक्ति संरचना के इस मूल आधार को ग्रामीण संरचना में कैसे देखा जा सकता है। इस सम्पूर्ण आधार को समझने के लिए दो प्रश्नों को हल करना आवश्यक है। पहला प्रश्न यह है कि ग्रामीण संरचना में शक्ति के स्रोत क्या हैं? दूसरा प्रश्न यह है कि किसी भी समुदाय या समाज में शक्ति का मापन कैसे किया जाता है? ये प्रश्न इसलिए महत्वपूर्ण भी है क्योंकि ग्रामीण सामाजिक संरचना का एक आधार पारंपरिक लगाव भी है।

7.3.1 **शक्ति संरचना का मापन**

कौन लोग शक्ति की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं - इसके मापन के लिए कई विधियाँ प्रस्तावित की गई हैं। पहली विधि का संबंध प्रतिष्ठा (Requtation) से है। दूसरे शब्दों में, समुदाय में यदि किसी की अच्छी प्रतिष्ठा है, समुदाय की निर्णय लेने की प्रक्रिया में उसका महत्वपूर्ण स्थान होता है। अनुभव, शिक्षा, भूमि स्वामित्व, चरित्र, जाति, सामान्य आदर आदि अनेक गुण हो सकते हैं जो किसी बस्ती को प्रतिष्ठा दिला सकते हैं। ग्रामीण सामाजिक संरचना में ऐसे व्यक्ति- व्यक्तिगत तथा सामुदायिक दोनों में ही निर्णय लेने की भूमिका में महलपूर्ण योगदान देते है। कभी-कमी ग्रामीण समुदाय में किसी निर्णय के लिए इन प्रतिष्ठित शक्तियों की निर्णायक भूमिका होती है। निर्णय के संबंध में ऐसे प्रतिष्ठा वाले शक्तिवान व्यक्ति महत्वपूर्ण हैं।

मापन की दूसरी विधि का संबंध किसी भी व्यक्ति की प्रस्थिति या पदीय स्थिति (Positional) से है। अनौपचारिक या औपचारिक आधार पर समुदाय का एक या अनेक व्यक्ति बहुत से मामलों में निर्णायक होते हैं। प्राय: पंच, सरपंच, जाति या ग्राम मुखिया सरकार के प्रतिनिधि जैसे पटवारी' स्कूल शिक्षक, ग्राम की निर्णय प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। क्षेत्र की विस्तृत शक्ति संरचना के व्यक्तियों के साथ ऐसे लोगों के व्यापक संबंध होते हैं। इन्हीं संबंधों के कारण इन पदधारी व्यक्तियों की शक्ति में वृद्धि भी होती है।

तीसरे प्रकार के लोग वे लोग हैं जो परिस्थितियों का विश्लेषण कर सकते हैं, तथ्यों को प्रस्तुत कर सकते हैं और आवश्यकता पड़े तो उठने वाले मुद्दों पर जनमत तैयार कर सकते हैं। प्राय: ऐसे लोगों का संबंध शिक्षा, संस्थाओं की सदस्यता, राजनीतिक दलों के कार्यकर्ताओं संघों आदि से होता है। ये वे लोग भी होते हैं जो भूमिहीन ग्रामीण समुदायों में काम करने वाली गैर-सरकारी संस्थाओं के प्रतिनिधि इस श्रेणी में आते हैं। निर्णय लेने की भूमिका ने ऐसे लोगों का भी महत्वपूर्ण योगदान होता है। ग्रामीण सामुदायिक शक्ति संरचना में श्रमिकों को दिहाड़ी मी देते हैं। शक्ति मापन के ये तीसरे स्त्रोत है। इन तथ्यों को निम्न चित्र से भी समझा जा सकता है।

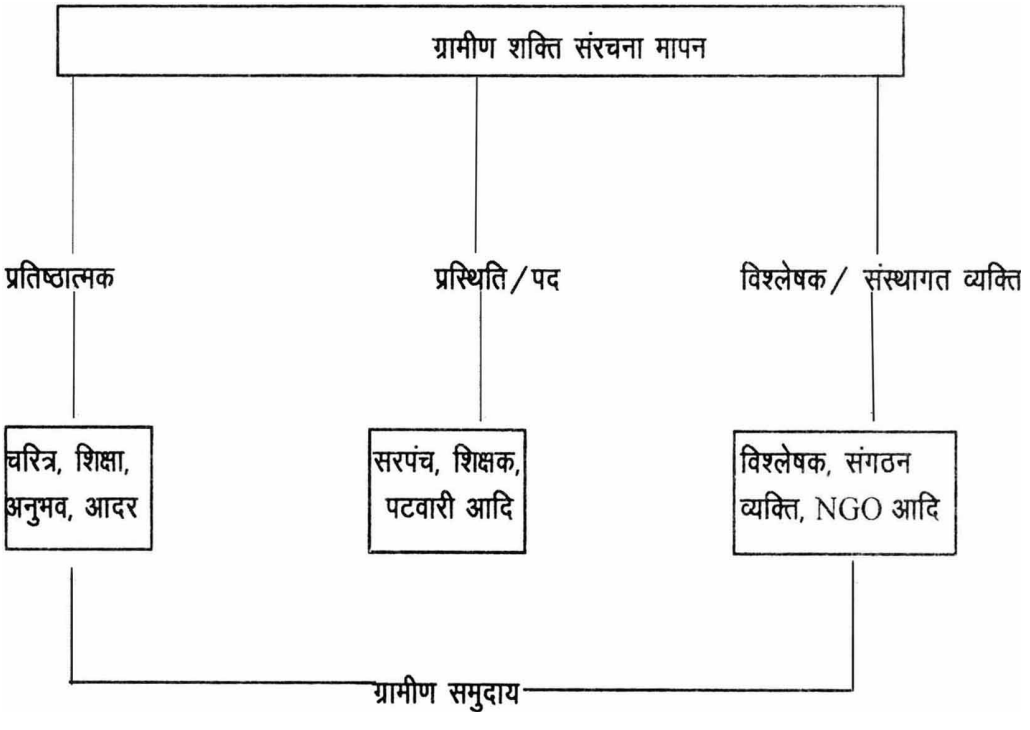

7.3.2 **शक्ति संरचना के स्त्रोत**

उपर्युक्त व्याख्या पहले उठाये गये एक प्रश्न का अपरोक्ष उत्तर भी है। ग्रामीण समुदायों में शक्ति के पारंपरिक स्त्रोत क्या हैं? इतिहास के क्रम में भारतीय स्वाधिनता से पूर्व अधिकांश भारत उपनिवेशवादी सामंतवादी रचना से प्रभावित था। ग्रामीण सामाजिक संरचना में जागीरदार, जमींदार या सत्ता के प्रतिनिधि ही सबसे महत्वपूर्ण थे। शक्ति संरचना एकाधिकारवादी संरचना थी। फिर भी ग्राम के प्रतिष्टित लोगों का ग्राम से संबंधित निर्णय लेने में महत्वपूर्ण हस्तक्षेप

संभव था। राजस्थान जैसे प्रदेश में जहाँ देशी रियासतें थीं, ग्रामीण शक्ति संरचना सामन्ती प्रतिनिधियों के हाथों में केन्द्रित थी। सामन्ती तल भारत की आजादी के बाद भी प्रभावी रहे और आज भी जहाँ ग्रामीण सामाजिक संरचना सामंतवाद से प्रभावित है. शक्ति संरचना में इन सामंती तत्वों का महत्वपूर्ण स्थान है।

भारतीय स्वतंत्रता के बाद यद्यपि राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन झा, परन्तु सामाजिक संरचना बहुत कुछ सीमा तक बदली नहीं। ग्रामीण क्षेत्रों में वर्ग संरचना नहीं बदली और पूर्व स्थापित प्रभुत्व जातियों ने शक्ति संरचना में अपना स्थान बनाये रखा। समाजशास्त्री प्रो. ए. आर. देसाई (A.R.Desai) के अनुसार ब्रिटिश शासन में निर्मित वर्ग चरित्र, भारतीय स्वाधीनता के प्रारंभिक समय में बहुत कुछ बदला नहीं। परिणाम स्वरूप ग्रामीण शक्ति संरचना में भागीदारी पूर्व स्थापित जाति तथा वर्ग संरचना की रही। ब्रज राज चौहान का मानना है कि सत्ता के विकेन्द्रीकरण या पंचायती राज ने ग्राम स्तर पर इन शक्तियों को नया आधार प्रदान। दूसरे शब्दों में ग्रामीण शक्ति संरचना में जाति तथा वर्ग हैसियतता का स्त्रोत महत्वपूर्ण स्त्रोत रहा और बहुत कुछ अर्थो में यह स्त्रोत अभी भी महत्वपूर्ण है।

प्रोफेसर एस. सी. दुबे (S.C. Dube) ने अपनी पुस्तक भारत में बदलते गाँव (Indian Changing Village) में ग्रामीण अभिजनों की चर्चा की है। अपनी इस पुस्तक में दुबे ने अपने गाँव को जातियों की प्रधानता के आधार पर लिया है। जैसे उनका एक गाँव राजपूत गांव है. दे कहते हैं कि विकास ने गाँवों को बहुत प्रभावित किया है। वे अभिजन की चर्चा भी करते हैं। इन अभिजनों की व्याख्या का उद्देश्य ग्रामीण विकास कार्यकर्म में नेतृत्व की भागीदारी से था। उन्होंने पाया कि ग्राम में ऐसे लोग जिनका शहर के प्रशासन तथा राजनीतिक नेताओं से सम्पर्क हैं- काफी प्रभावशाली है और ग्रामीण निर्णय प्रकिया में उनकी भागीदारी है। ग्राम के लोग ऐसे लोगों को अपने और शेष पीरवेश के साथ सम्पर्क के रूप में देखते हैं। एक प्रकार से ये लोग ग्राम में काम करने या व्यक्तिगत संकटों को दूर करने में विशेषज्ञ हो जाते हैं और ग्राम की शक्ति संरचना का प्रमुख हिस्सा हो जाते हैं। दुबे ने अपने अध्ययन में ग्रामीण शक्ति संरचना तथा उससे प्रभावित होने वाले समूहों को निम्न रूप में रखा है।

ग्रामीण अभिजन - उच्च प्रस्थिति उच्च आय शिक्षा नागरी सम्पर्क उच्च/ मध्यम जाती राजनीतिक दल सम्पर्क/ अंतग्रामीण में राजनीति में स्थान
कृषक- भूमि स्वामी- मध्यस्थ
दस्तकार तथा व्यावसायिक जातियों ग्राम की के भागीदार
निम्न जातीय निम्न आय समूह अनुसूची जाती तथा आदिवासी

एम.एन. श्रीनिवास (M.N. Shtriniwas) ने प्रभुत्व जाति की अवधारणा के आधार पर ग्रामीण शक्ति संरचना में ऐसी जातियों के प्रभुत्व की चर्चा की है। यह बहुत बार कहा गया है कि जाति और राजनीति के भी अपार रिश्ते बने हैं। इसके अतिरिक्त शिक्षा या व्यवसाय के कारण जिन जातियों के लोग ग्राम छोड़कर शहर चले गये हैं, उससे शक्ति संरचना और जाति के संबंधों में बड़ा परिवर्तन नहीं आया है।

बहुत से समाजशास्त्रियों ने ग्रामीण सामाजिक संरचना में बिकास कार्यक्रमों तथा बिकास रणनीति (Development Stragegy) के प्रभावों की चर्चा की है। पीसी. जोशी (P.C Joshi)

तथा एस॰सी. दुबे ने विकास रणनीति के अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्रों में नये गांव तथा नई शक्तियों के उभरने की चर्चा की है। इन नई शक्तियों ने पूर्व स्थापित शक्ति संरचना पर प्रभाव डाला और धीरे-धीरे इन नई शक्तियों ने ग्रामीण शक्ति संरचना में अपना स्थान बनाना शुरू किया। शक्ति संरचना में परिवर्तन के निम्न नये स्त्रोत कहे जा सकते हैं :

1. विकासोन्मुखी नये कार्यक्रम जिनने नई सामाजिक शक्तियों को उभरने में मदद की।
2. वे प्रजातांत्रिक प्रक्रियाएँ जैसे चुनाव और राजनीतिक दल, जिन्होंने शक्ति संरचनाओं में नये समीकरण स्थापित किये।
3. नये आन्दोलन जिन्होंने ग्रामीण क्षेत्रों में नये समूहों की सृष्टि की और इन नये समूहों ने शक्ति संरचना में अपना स्थान बनाना प्रारंभ किया।
4. शिक्षा, व्यवसाय के नये रूपों के कारण ग्रामों में नई गुणात्मक जनसंख्या का उदय जिसके कारण शक्ति संरचना में नये हस्तक्षेप प्रारंभ हुए और संरचना के स्वरूपों परिवर्तन आने लगे।

बोध प्रश्न -2

1.क्या निम्न लोग ग्रामीण शक्ति संरचना के हिस्से हो सकते हैं ? (हाँ/नहीं में उत्तर दीजिये)

खेत मजदूर

भूतपूर्व जागीरदार :

गाँव का डॉक्टर :

पटवारी

2.शक्ति संरचना मापन के तरीके बताइये ।

3.उन तीन कारणों को बताइये जिन्होंने ग्रामीण शक्ति संरचना में परिवर्तन किये हैं ।

7.4 ग्रामीण शक्ति संरचना के नये आयाम

यह पहले लिखा जा चुका है कि ऐतिहासिक क्रम में ग्रामीण शक्ति संरचना में कई नये आयाम जुडे हैं। आज की स्थिति प्रारंभिक शक्ति संरचना के आयामों से भिन्न हैं। कई नये पक्षों की सृष्टि हुई है, जिन्होंने शक्ति संरचना में हेर फेर किये है। इनमें से कुछ पक्षों की चर्चा हम निम्न आधार पर कर सकते हैं।

7.4.1 **विकेन्द्रीकरण तथा पंचायती राज**

जब भारत का संविधान बनाया जा रहा था, तभी नये भारत के राजनीतिज्ञ सामाजिक संरचना के निर्माण के लिये सिद्धान्तत: सत्ता के विकेन्द्रीकरण को स्वीकार किया गया था। सिद्धान्त का अर्थ था कि प्रजातांत्रिक भावना के अनुरूप ग्रामीण ग्राम पंचायतों के माध्यम से अपने विकास तथा ग्राम व्यवस्था का निर्णय स्वयं करें तथा ग्राम की शासन व्यवस्था को स्वयं नियोजित करें। इसका एक छुपा हुआ अर्थ यह मी था कि ग्रामीण शक्ति संरचना में व्याप्त नेतृत्व की गैर-बराबरी समाज हो तथा ऐसे समुदाय जो इस शक्ति संरचना से बाहर रहे है, अपना प्रतिनिधित्व इन संस्थात्मक इकाइयों में कर सके। एक प्रकार से यह संस्थागत प्रयास

स्थापित शक्ति संरचना को वदलने का प्रयास था। पंचायती राज के प्रारम्भ में यह आकांक्षा पूरी न हो सकी। पंचायती राज व्यवस्या पर स्थापित सामाजिक संरचना का ही प्रभुत्व रहा और ग्रामीण शक्ति संरचना में विशेष परिवर्तन नही हुआ। लेकिन पंचायती राज व्यवस्था ने समूहों को यह अवश्य अबश्य दिया कि दे भी निर्वाचित प्रतिनिधि के रूप में शक्ति संरचना में प्रवेश कर सकें। बहुत से शोध कार्य हुए हैं, जिन्होंने ग्रामीण शक्ति संरचना में परिवर्तन के लिए पंचायती राज की भूमिका का उल्लेख किया है। धीरे-धीरे पंचायतों में ऐसे प्रतिनिधि चुन कर आने लगे है, जिनका सामाजिक स्तर पहले की शक्ति संरचना में पदधारियों की सामाजिक रचना से भिन्न है।

पंचायती राज की त्रि-स्तरीय अवस्था में ग्राम पंचायत महत्वपूर्ण इकाई है। ग्राम पंचायत ही ग्राम शक्ति संरचना का निर्धारण करती हो ऐसा नहीं है। वस्तुत: ग्रामीण व्यावस्था में संस्थागत तथा सामाजिक संरचना अलग-अलग तरह से मी काम करती है। इसीलिए प्राय: ग्राम पंचायत की बनावाट और सामाजिक संरचना में प्राय: विवाद भी हो सकता है। यह भी संभावना है कि ग्राम की शक्ति संरचना पूर्ण रूप से ग्राम पंचायत पर भारी हो और दोनों में अन्तर करना कठिन हो जाय। पंचायती राज से संबंधित जितनी समितियाँ बनी उन सब ने इस बात पर जोर दिया था कि ग्राम पंचायतों में ग्राम का संमूर्ण प्रतिनिधित्व होना चाहिए। पंचायती राज का यह संस्थागत हस्तक्षेप ग्राम की शक्ति संरचना को निश्चित रूप से प्रभावित करता है।

7.4.2 पिछड़ों का सबलीकरण

पंचायती राज व्यावस्था में हो 73वें संविधान संशोधन में ऐसी व्यवस्था की गई जिसके अन्तर्गत अनुसूचित जाति अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़ा बर्ग तथा महिलाओं को प्रतिनिधित्व मिल सके। यह कार्य इन समूहों के सबलीकरण (Empowerment) के लिए भी किया गया था। यह माना गया कि ग्राम शक्ति संरचना में ये समूह उपेक्षित तथा प्रतिनिधित्व से परे रहे हैं। निर्वाचित प्रजातांत्रिक संस्थाओं में ऐसे समूहों का प्रतिनिधित्व निर्णय लेने की प्रक्रिया में चली आ रही शक्ति संरचना के वर्चस्व को तोड़ेगी और इन समूहों से संबंधित सही निर्णयों को प्रोत्साहित करेगी। इन समूहों का प्रतिनिधित्व- इन समूहों के लिये पंचायतों में पदों के आरक्षण के माध्यम से किया गया। आरक्षण के माध्यम से इन समूहों को भी शक्ति संरचना में प्रदेश मिला है। इन समूहों के लिए एक और शब्द सबअल्टर्न (Subatern) का भी प्रयोग किया जाता है, जिसका अर्थ है अधीनता। भारत की गैर-बराबरी वाली संरचना में ये समूह गैर-बराबरी की अधीनता के प्रतीक माने जाते हैं। ग्रामीण शक्ति यानी अधीनस्थ संरचना में इनका प्रवेश आसान नही था। पंचायती राज व्यवस्था में संस्थागत प्रावधानों ने इस समूहों को नई संरचना में प्रदेश दिलाया है। संविधान में संशोधन के बाद ग्राम पंचायत में दो महिलाओं दो अनुसूचित जातियों और एक अनुसूचित जनजाति का स्थान आरक्षित है।

7.4.3 स्त्री सलीकरण

इस सारी प्रक्रिया में स्त्री सरलीकरण का प्रावधान महत्वपूर्ण है। ग्रामीण क्षेत्रों में स्त्रियों की गैर-बराबरी बहुत तीखी थी। पिछले दिनों में देश में नारी की बराबरी का एक बड़ा आन्दोलन

चलता रहा है। देशी राज्यों या रियासतों में जहाँ सामंतवादी अवस्था रही है, स्त्रियों की स्थिति निम्न ही थी। पुरुष प्रधान ग्रामीण समाज में स्त्रियों का शक्ति संरचना में प्रदेश अकल्पनीय था। यह भी माना जाने लगा था कि महिलाओं का राजनीतिक सरलीकरण उनको शक्ति प्रदान करेगा और गाँव की निर्णय लेने की प्रक्रिया में उनका भी योगदान रहेगा। पंचायत अवस्था में जिला परिषद पंचायत समिति तथा पंचायत आदि सभी इकाइयों में साधारण अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और अन्य पिछडे वर्ग की महिलाओं का आरक्षण है। ग्रामीण शक्ति संरचना में स्त्रियों का प्रवेश बहुत बड़ा परिवर्तन है।

7.4.4 **राजनीतिक दल**

समाजशास्त्री दीपांकर गुप्ता (Deeppanker Gupta) ने शक्ति संरचना में राजनीतिक दलों के हस्तक्षेप का उल्लेख किया है। प्रजातांत्रिक व्यावस्था में राजनीतिक दलों की भूमिका कई अर्था में महत्वपूर्ण है। यद्यपि किये गये अध्ययनों ने इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि राजनीतिक दलों के औपचारिक संगठन बहुत कम हैं, पर राजनीतिक दलों की अनौपचारिक सम्बद्धता बहुत अधिक हैं। शक्ति संरचना को प्रभावित करने वाली जातियों के साथ राजनीतिक दलों ने शक्ति संरचना पर दबाव बनाए हैं। आज ग्राम स्तर तक के चुनाव राजनीतिक दलों के आधार पर होते हैं। पंचायतों के चुनाव में राजनीतिक दल अपनी ही गणना के अनुसार उम्मीदवार खडे करते हैं और चुनाव के लिए अधिक से अधिक समर्थन प्राप्त करने का प्रयास करते है। ग्रामीण शक्ति संरचनाओं में राजनीतिक दलों के प्रतिनिधि एक नया परिवेश है। यह रात जरूर है कि इन राजनीतिक दलों की स सम्बद्धता पहले से मौजूद पारंपरिक शक्ति संरचना से अधिक है। प्राय: ये राजनीतिक प्रभाव बड़ाने का प्रयास करते है। ये वे जातियाँ या व्यक्ति होते हैं जो ग्राम की शक्ति संरचना के अमिजन हैं और निर्णय लेने की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण

7.5 सारांश

ग्रामीण शक्ति संरचना के इस पाठ में - शक्ति संरचना से संबंधित सैद्धान्तिक तथा व्यवहारिक आधारों' दोनों पर ही चर्चा की गई है। वैधानिक शक्ति तथा अभिजन- शक्ति संरचना के महत्वपूर्ण आधार हैं जिनकी सैद्धान्तिक चर्चा की गई है। शक्ति संरचना क्या है- इसके अर्थ को मी स्पष्ट किया गया है और शक्ति संरचना कौन लोग मिलकर निर्मित करते हैं- उसके मापन आधारों की भी चर्चा की गई है। बाद में उन कारकों की चर्चा भी की गई है जो शक्ति संरचना में बदलाव के प्रतीक है।

ग्रामीण शक्ति संरचना पर जिन लोगों ने अध्ययन किये हैं, उनमें से कुछ लोगों ने ग्रामीण शक्ति संरचना में निहित सामाजिक तलों की चर्चा की है। ऊमैन (Oomen) ने अपने एक लेख में ग्रामीण शक्ति संरचना में निम्म निहित तत्वों की चर्चा की है।

1. ग्रामीण शक्ति संरचना में जाति का महत्वपूर्ण स्थान है। संस्कृतिकरण की प्रकिया नये जाति व्यक्तियों को इसमें प्रदेश दिला देती है।
2. ग्राम में व्यक्तियों का प्रभुत्व है। ऐसी व्यवस्था में जाति प्रभुत्व इतना महत्वपूर्ण नहीं है। व्यक्ति अपने ही गुणों से संरचना में शामिल हो जाता है। (दुबे)

3. बहुल शक्ति संरचना जो बहुजातीय ग्राम संरचना का प्रतिनिधित्व बहुजातीय ग्रामों में शक्ति का एकीकरण तथा फिर उसका वितरण दोनों ही की जाती है (ऊमैन्)

यद्यपि इन अध्ययनों में ग्रामीण शक्ति संरचना तथा जाति संरचना के पारस्परिक संबंधों पर अधिक जोर दिया गया है, पर पंचायती राज व्यवस्था दलितों के आरक्षण तथा राजनीतिक दलों के हस्तक्षेप ने इन संरचनाओं को प्रभावित किया है तथा इसी कारण ग्रामीण शक्ति संरचना में व्यापक परिवर्तन आये हैं।

7.6 शब्दावली

शक्ति : किसी सामाजिक संबंध में कोई व्यक्ति विरोध होने के बावजूद भी अपनी इच्छाओं को प्रभावी करें तो उस व्यक्ति के पास शक्ति है।

वैध शक्ति : वह शक्ति जिसके प्रयोग की समाज या संस्थागत व्यवस्था इजाजत प्रदान करती है।

अवैध शक्ति : वह शक्ति जिसका प्रयोग व्यक्ति अपने करिश्में के कारण करता है।

अभिजन : किसी सामाजिक क्षेत्र में कार्य की श्रेष्ठता के आधार पर उस क्षेत्र का शीर्षस्थ व्यक्ति। अभिजन की वैधता उसके समाज से होती है।

शक्ति संरचना : सामाजिक संबंधों की बह बनावट जिसमें सम्मिलित व्यक्ति को समुदाय / समाज के निर्णय को प्रभावी करने की क्षमता है।

प्रभुत्व जाति : वह जाति जिसका ग्रामीण स्तर सौपान में ऊँचा स्थान हो, जिसके पास अधिक भूमि हो और जो गाँव संबंधी फैसलों में निर्णायक स्थान रखती हो।

सबलीकरण: सामाजिक संरचना में निम्न, शोषित तथा निर्बल लोगों को बल तथा शक्ति प्रदान करने की प्रक्रिया।

7.7 सन्दर्भ ग्रंथ

1. श्यामाचरण दुबे (1958) : Indias Changing Villages, , नई दिल्ली, एलाइड पब्लिशर्स
2. सी. एल. शर्मा (1992) : Urban Communicaty Power Structure, उदयपुर, शिवा पब्लिकेशन्स,
3. दीपांकर गुप्ता (1995) :Political Sociology in India Comtemparay Trends, नई दिल्ली. ओरियण्ट लांगमैन्स
4. आर. देसाई (1968) : New Hypothesis, सेमीनार, जुलाई,
5. ब्रजराज चौहान (1988) : मै। At the TRural level, सेमीनार, जुलाई,
6. पी. सी. जोशी (1971) : Rural base and power , सेमीनार, जनवरी,
7. के. एल. शर्मा (1976) : Power Edit in Rural India, सोश्योलोजिकल बुलेटिन, मार्च,

इकाई 8

ग्रामीण समाज में धर्म

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य
8.1 प्रस्तावना
8.2 धर्म का अर्थ एवं परिभाषा
8.3 ग्रामीण धर्म के अध्ययन की आवश्यकता
8.4 ग्रामीण धर्म की विशेषताएँ
8.5 भारतीय ग्रामीण जीवन में धर्म का महत्व
8.6 ग्रामीण क्षेत्र में मन्दिर का महत्व
8.7 सारांश
8.8 सन्दर्भ ग्रंथ
8.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

8.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप

- धर्म का अर्थ समझ सकेंगे।
- ग्रामीण समाज में धर्म के अध्ययन की आवश्यकता के बारे में समझ सकेंगे।
- ग्रामीण क्षेत्रों में धर्म की विशेषताएं एक् महत्व के सरे में जान सकेंगे।
- ग्रामीण क्षेत्रों में मंदिर का महत्व समझ सकेंगे।

8.1 प्रस्तावना

ग्रामीण भारत में धर्म एक ऐसा सर्वव्यापक, स्थाई एवं शाश्वत तत्व है जिसको समझे बिना ग्रामीण समाज को समझना कठिन है। भारत की अधिकांश जनसंख्या ग्रामों में निवास करती है। ग्रामीण भारत धर्म-प्रधान है अत: ग्रामीण जनता शहरी लोगों की तुलना में धर्म से अधिक प्रभावित है। ग्रामीण जीवन पूरी तरह से कृषि एवं प्रकृति पर निर्भर होता है। कृषि कार्य की प्रधानता एवं प्रवृति पर निर्भरता ने ही ग्रामवसियों में अधिकाधिक धार्मिकता उत्पन्न कर दी है। अनेक धार्मिक कृत्य, उपासना आदि प्राकृतिक प्रकोपों जैसे बाढ़-अकाल को दूर करने के लिए किए जाते हैं। धर्म का उनके जीवन पर गहरा प्रभाव है।

8.2 धर्म का अर्थ एवं परिभाषा

धर्म शब्द की उत्पत्ति 'धृ' शब्द से मानी गई है जिसका अर्थ है धारण करना। धर्म शब्द का अर्थ बांधना भी है अर्थात् मनुष्य को ईश्वर से सम्बन्धित करना। दार्शनिक आधार पर धर्म को कर्तव्य-बोध के रूप में स्पष्ट किया जा सकता है लेकिन भारतीय ग्रामीण जीवन में धर्म प्राथमिक रूप से विश्वासों की एक व्यवस्था है।

सर जेम्स फ्रेजर धर्म को मनुष्य से श्रेष्ठ उन शक्तियों की सन्तुष्टि या आराधना मानते हैं जिनके सम्बन्ध में यह विश्वास किया जाता है कि वे प्रवृति और मानव को मार्ग दिखाती और नियंत्रित करती हैं।

मैलिनोस्की धर्म को साधन यह विश्वासों की एक व्यवस्था के साथ-साथ एक व्यक्तिगत अनुभव भी मानते है।

जॉनसन के अनुसार 'धर्म अलौकिक शक्तियों तत्वों तथा आत्मा से समानधित विश्वासों और आवरणों की एक संगठित व्यवस्था है।"

इन उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर धर्म को निम्न रूप में समझा जा सकता है -

1. धर्म किसी न किसी प्रकार की अतिमानवीय एवं अलौकिक शक्ति में विश्वास है जिसका आधार विश्वास और श्रद्धा माना जा सकता है और जिसकी अभिव्यक्ति पूजा अथवा आराधना द्वारा होती है।
2. धर्म विश्वास और श्रद्धा से परिपूर्ण होता है इसमें तर्क के लिए कोई स्थान नहीं होता।
3. धर्म विश्वासों और आबरणों की एक ऐसी व्यवस्था है जिसके द्वारा मनुष्य और अलौकिक शक्तियों को एक- दूसरे के समीप लाना होता है।
4. दुर्खीम के मत में धर्म का सम्बन्ध पवित्र वस्तुओं से है, इस रूप में प्रत्येक अपवित्र समझी जाने वाली वस्तु को पवित्र वस्तु से पृथक रखा जाता है।

इस आधार पर ग्रामीण जीवन में धर्म को कर्मकाण्डों, अनुष्ठानों विश्वासों की एक व्यवस्था के रूप में देखा जा सकता है।

8.3 ग्रामीण धर्म के अध्ययन की आवश्यकता

ए. आर. देसाई के अनुसार 'समाज के अध्ययन में ग्रामीण धर्म की महत्ता तथा जीवन प्रक्रियाओं को निर्धारित करने में इसकी भूमिका का अध्ययन करना एक आवश्यक अंग है। इसके चार कारण हैं :-

1. ग्रामीण व्यक्ति के जीवन पर धर्म का अत्यधिक प्रभाव है। कृषि व्यवसाय तथा वर्षा जैसी प्राकृतिक शक्तियाँ एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण की कमी के कारण ग्रामवासी धर्म पर ज्यादा आश्रित हैं।
2. ग्रामवासियों का बौद्धिक, भावनात्मक तथा व्यवहारिक जीवन पूर्णतया धार्मिक दृष्टि से प्रभावित है। धार्मिक दृष्टिकोण व मान्यताएँ ही उनके पारिवारिक, जातीय, आर्थिक तथा मनोरंजनात्मक जीवन निर्धारित करती है।
3. उन समाजों में जहाँ केवल जीवन-निर्वाह वाली अर्थव्यवस्था पाई जाती है, ग्रामीण नेतृत्व पुजारी बर्च के हाथ में रहा है जैसे- भारत में ब्राह्मण। यहाँ नेता तथा धार्मिक आदर्श एवं निषेध तथा धार्मिक संस्थाएँ ग्रामीण जीवन को नियंत्रित एवं निर्धारित करते हैं।
4. अंग्रेजी शासनकाल में सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक परिवर्तनों के कारण ग्रामीण धार्मिक जीवन भी प्रभावित हुआ तथा स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में एक

धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना की गई। इन धर्मनिरपेक्ष विचारधाराओं की दृष्टि से भी ग्रामीण धर्म का अध्ययन करना जरूरी है।

इसके अतिरिक्त ए. आर. देसाई ने ग्रामीण धर्म के अध्ययन की आवश्यकता के निम्न आधार प्रस्तुत किए हैं :-

1. संस्कृति के विकास की जानकारी :- ग्रामीण धर्म प्राचीन भारतीय संस्कृति के विकास को प्रकट करता है। भारत के विभिन्न भागों में पाए जाने बाले ग्रामीण धर्मो की समानता एवं असमानता का अध्ययन करके भारतीय संस्कृति की उत्पत्ति विकास और समूर्णता को समझ सकते हैं।
2. विभिन्न ग्रामों में पाए जाने वाले देवी-देवता पूजा की विधियाँ, विधि-विधान और पौराणिक कथाओं से प्रादेशिक भिन्नता का पता चलता है। वहीं दूसरी तरफ सभी ग्रामों में पाए जाने वाले समान देवी-देवता, विधि-विधान और पौराणिक कथाओं से भारतीय गाँवों की समानता का पता चलता है।
3. इन समानताओं व असमानताओं से दो बातें स्पष्ट होती हैं :- ग्रामीण धर्मो में सामान्य धार्मिक लक्षणों से उनकी समान उत्पत्ति के स्त्रोत का पता चलता है और प्रादेशिक भिन्नताओं के बावजूद भी वे भारतीय संस्कृति के प्रतीक हैं।
4. समान पूर्वज के होते हुए भी वे विभिन्न ग्रामीण क्षेत्रों के स्वतंत्र प्रतिनिधि हैं।
5. ग्रामीण धर्मो के समाजशास्त्रीय अध्ययन व विश्लेषण से हम उनकी उत्पत्ति एव विकास को ज्ञात कर सकेंगे जो ग्रामवासियों के देशान्तर गमन के साथ-साथ विभिन्न क्षेत्रों में फैलते रहे है।
6. भारतीय भौगोलिक दशाओं जैसे- महान नदियों पर्वतीय प्रदेशों आधारिक मांग ने भी धार्मिक लक्षणों को प्रभाबित किया। परन्तु आधुनिक रेलवे के प्रसार ने धर्म पर भौगोलिक प्रमांक को कम किया।
7. भारत के विभिन्न धार्मिक विश्वासों कर्मकाण्डों विधि-विधानों देवी-देवताओं का अध्ययन करके हम ग्रामीण संस्कृति के विकास और इतिहास को जान सकते है।
8. हिन्दू ग्रामीण धर्म के अध्ययन में समाजशास्त्रियों की बिशेष रूचि रही है क्योंकि इसमें धार्मिक विभिन्नता की प्रचुरता और सम्मिश्रण से मानव समाज के विकास की व्यवस्थाओं को ज्ञात किया जा सकता है।
9. देवी-देवताओं को दुष्ट या परोपकारी बताने, इनकी निन्दा या प्रशंसा करने वाली पौराणिक गाथाओं के आधार पर विभिन्न धर्मो के मध्य पाई जाने वाली कट्टरता एवं अनेक संघर्षो को ज्ञात किया जा सकता
10. देसाई ने हिन्दू धर्म की भाँति इस्लाम एवं ईसाई धर्म का भी अध्ययन करने का आहवान किया क्योंकि इनका भी प्रचलन ग्रामों में रहा है।

8.4 ग्रामीण धर्म की विशेषताएँ

भारतीय ग्रामीण जीवन में धर्म प्राथमिक रूप से विश्वासों की एक व्यवस्था है। डॉ. देसाई का कहना है कि, ग्रामीण धर्म की प्रकृति को समझने के लिए सर्वप्रथम यह जानना

आवश्यक है कि ग्रामीण अपने धार्मिक विश्वासों के अन्तर्गत विश्व की व्याख्या किस रूप में करते हैं। दूसरी बात यह है कि ग्रामीण धर्म में किस प्रकार के संस्कारों तथा विधि-विधानों का समादेश है तथा ग्रामीण धर्म का संस्थागत सरूप क्या है? देसाई के अनुसार वैज्ञानिक दृष्टिकोण का ग्रामीण जनता में अभाव होता है तथा आत्मावादी, जादू-टोना भूत-प्रेत में विश्वास आदि उनमें प्रबल रूप से व्याप्त है। अत: ग्रामीण धर्म की विशेषताओं को इस प्रकार समझा जा सकता है :-

1. विश्व के प्रति दृष्टिकोण - ग्रामीण धर्म में सृष्टि से सम्बन्धित सभी पक्षों की विवेचना विशेष दृष्टिकोण से की जाती है। उनका एक विश्वास यह है कि पृथ्वी के अतिरिक्त अनेक ऐसे दूसरे लोक है जिनमें व्यक्ति अपने कर्मो के अनुसार गीत प्राप्त कर सकता है जैसे- मृत व्याक्ति का स्थान पितृलोक में है और अशरीरी आत्माएँ प्रेत लोक में रहती हैं, देवलोक में देही-देवताओं का वास है और बैकुण्ठ एक ऐसा लोक है जहाँ जाकर व्यक्ति पुनर्जन्म के वचन से छुटकारा पाता है। बे प्राकृतिक शक्तियों की किसी न किसी देवी-देवता के रूप में कल्पना करते हैं जैसे वर्षा के लिए इन्द्र-देवता, धूप के लिए सूर्य देवता वनस्पति के लिए वन देवता गाँव की सुरक्षा के लिए भूमसेन (भौमिया) आदि देवता की मान्यता है जो सफलता और समृद्धि देने वाले हैं, अत: इन्हें प्रसन्न करके ही उन्हें समृद्धि मिल सकती है। इस प्रकार के अंधविश्वास के कारण ही दे ओझाओं और पण्डितों के चक्कर में पड कर इनके शोशण का शिकार बनते हैं।

2. धार्मिक संस्कार तथा विधि-विधान - ग्रामीण लोग अलौकिक शक्तियों को प्रसन्न करने के लिए विभिन्न संस्कारों और विधि-विधानों के द्वारा अपने विश्वास को प्रकट करते हैं। उनके द्वारा की जाने बाली धार्मिक क्रियाएँ इस प्रकार हैं :-

(i) प्रार्थनाएँ :- ग्रामीण अपने घर में और घर के व्यवहार भी विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा करते है। प्रत्येक परिवार के अपने-अपने देवी देवता होते हैं जिनकी पूजा उस परिवार के सदस्यों द्वारा घर के अन्दर ही की जाती है। इसी तरह प्रत्येक जाति, गाँव या गली मौहल्ले का भी अपना मन्दिर होता है जिसमें ग्राम-देवता की स्थापना करके उनसे रोगों की रोक-थाम, भूत-प्रेतों से रक्षा व फसलों की रक्षा किसी विपत्ति से रक्षा करने के लिए सामूहिक प्रार्थना की जाती है।

(ii) यज्ञ व बलि :- किसी विशेष संकट के समय गाँव वाले पण्डित या ओझा द्वारा यज्ञ करते हैं जैसे- गाँव में यदि पशुओं को कोई बीमारी लग जाती है तो उसके निवारण के लिए ओझाओं द्वारा बकरे आदि की बलि देकर देवताओं को प्रसन्न किया जाता है। संक्रामक बीमारी, अतिवृष्टि, या सूखे आदि के लिए यज्ञ करना ग्रामीण धर्म की विशेषता है।

(iii) विधि-विधान - अलौकिक शक्तियों के प्रति विश्वास प्रकट करने के लिए ग्रामीण लोग धार्मिक अनुष्ठान और व्रत करते हैं, जिसके लिए निश्चित तिथि व निश्चित प्रक्रिया होती है जैसे- सत्यनारायण की कथा व पूर्णिमा के दिन व्रत करने का प्रावधान सवर्ण जातियों में है जबकि निम्न जातियाँ यही क्या दूज अथवा किसी अन्य दिन करती हैं। फसल बोने व काटने,

नूतन ग्रह प्रवेश, शिक्षा प्रारम्म करने, जन्म-मृत्यु अथक विवाह के अवसर पर विभिन्न अनुष्ठानों द्वारा अलौकिक शक्तियों को प्रसन्न किया जाता है और जो इन निर्धारित विधि-विधानों का पालन नहीं करता उसे जाति-पंचायत द्वारा दण्डित भी किया जाता है।

3. ग्रामीण धर्म का संस्थागत स्वरूप :- गाँवों में धर्म से सम्बंधित अनेक संगठन पाए जाते हैं जिनके अपने-अपने मंदिर. मत, आश्रम व धर्मशालाएँ होती हैं जो इनके धर्म-प्रचारकों या पुरोहितों द्वारा संचालित होते हैं। जहाँ समय-समय पर अनेक धार्मिक कार्यक्रम आयोजित किए जाते हैं. जिनका उद्देश्य अपने-अपने धर्म का प्रचार करना होता है। ग्रामीण समाज में इन संगठनों की ग्रामवासियों में धार्मिक मनोवृत्तियाँ जागृत करने में विशेष भूमिका है। ग्रामीण क्षेत्रों में धर्म का संस्थात्मक स्वरूप अब कतिपय अन्य जातियों में भी स्पष्ट होने लगा है। जैसे- कबीर सम्प्रदाय के साधु हरिजन बस्ती में मन्दिर बनवा कर उन्हें उपदेश देना शुरू कर देते हैं। इस प्रकार सभी समूहों तथा जातियों के अन्तर्गत ग्रामीण धर्म ने एक विशेष संस्थात्मक स्वरूप ग्रहण कर लिया है।

ग्रामीण क्षेत्रों में धर्म का एक विशिष्ट लक्षण यह दिखाई देता है कि प्रत्येक गाँव में एक विशेष कुएँ, वृक्ष अथवा बाग के समीप पाए गए देवी-देवता के प्रति ग्रामीणों की आस्था अधिक प्रबल होती है क्योंकि उनका विश्वास है कि यह स्थानीय देवी-देवता उनकी सफलता या असफलता का कारण है।

1. धर्म में जादुई क्रियाओं का समावेश -

ग्रामीण लोग अनेक प्रकार की प्रेतात्माओं हो चुडैलों तथा इसी प्रकार की अन अपवित्र शक्तियों को झाड़-फूंक, टोने-टोटके तथा ओझाओं द्वारा बलि अथवा भेंट की मदद से सन्तुष्ट करने का भी प्रयास किया जाता

2. भाग्यवादिता में विश्वास -

गाँवों में लोग भाग्य में अत्यधिक विश्वास करते हैं। प्रत्येक ग्रामीण की इस विश्वास में दृढ़ आस्था है कि व्यक्ति की वर्तमान स्थिति उसके कर्मफल का परिणाम है तथा उसे प्राप्त होने वाली सभी सफलताएँ और असफलताएँ भाग्य के अधीन है। पर लोक तथा ईश्वरीय न्याय की अवधारणा ग्रामीणों के प्रत्येक व्यवहार को प्रभावित करती है। धर्म की इस विशेषता का परिणाम है कि अपने अभाव ग्रस्त जीवन में भी हर स्थिति में सन्तुष्ट रहता है।

3. धर्म एक जीवन-विधि -

धार्मिक विश्वास ग्रामीणों के लिए एक जीवन-विधि की तरह है। उनके जीवन की प्रत्येक गति विधि का निर्धारण धार्मिक विश्वासों से ही होता है। किस परिस्थिति में व्यक्ति किस प्रकार का व्यवहार करे, किन-किन निषेधों का पालन करे। खान-पान, सामाजिक संपर्क मौखिक व समाजिक संपर्क से संबन्धित व्यवहारों का निर्धारण भी धार्मिक नियमों से होता है।

देसाई का मानना है कि पुरोहितों व साधुओं ने भी ग्रामीणों के धार्मिक लौकिक जीवन पर अत्यधिक प्रभाव डाला है। ये लोग गाँव में घूम-घूम कर धर्म का प्रचार करते हैं। इस प्रकार ग्रामीण धर्म का प्रभाव ग्रामीणों पर प्रारम से लेकर मृत्युपर्यन्त बना रहता है।

8.5 भारतीय ग्रामीण जीवन में धर्म का महत्व

भारतीयों का सर्च जीवन धर्म के इर्द-गिर्द घूमता है। भारतीय ग्रामवासियों का मुख्य व्यवसाय कृषि है और कृषि प्रकृति पर निर्भर है अत प्राकृतिक शक्तियों में ग्रामवासियों का अटूट विश्वास है और वे इनकी पूजा आराधना में ही अपना हित समझते हैं। दैनिक जीवन में आने वाली विपत्तियों निराशाओं और कुण्ठाओं से व्यक्ति को सुरक्षा दिलाने में धर्म महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। ग्रामीणों के जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में धर्म की भूमिका को निम्न प्रकार से आँका जा सकता है :-

1. सामाजिक जीवन का आधार :- ग्रामों में धर्म सामाजिक जीवन को आधार प्रदान करता है। जिसकी पूर्णता के लिए 16 संस्कारों जैसे- हवन-यज्ञ, धार्मिक पूजा-पाठ आदि को महत्वपूर्ण माना गया है। धार्मिक उत्सवों में एक ही धर्म के लोगों के सम्मिलित होने से परस्पर संगठन एवं एकता बनी रहती है।

2. नैतिक जीवन का आधार - धार्मिक क्रियाओं में भौतिक क्रियाओं का समावेश है। समाज-वैज्ञानिकों का मानना है कि भारतीयों के लिए धर्म ही नैतिकता है। जीवों पर दया करना सत्य बोलना, चोरी न करना आदि नैतिक नियम धर्म के ही अंग है जिनके पालन की सभी से अपेक्षा की जाती है।

3. सामाजिक नियंत्रण का आधार :- ग्रामीण लोग धर्म-परायण होते हैं। पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, पुनर्जन्म, कर्म के सिद्धान्त आदि मूल्य उन्हें समाज के नियमों का पालन करने के लिए प्रेरित करते हैं। साथ ही अपराध और दुराचरण से भी रोकते है। जो कार्य शहरों में पुलिस तथा कानून द्वारा किया जाता है वही कार्य ग्रामों में धार्मिक नियमों व निषेधों द्वारा आसानी से हो जाता है क्योंकि ग्रामों में व्यक्ति को समाज विरोधी कार्य करने पर सामाजिक बहिष्कार का भय होता है साथ ही ईश्वरीय दण्ड का भी भय रहता है।

4. व्यक्तित्व निर्माण में सहायक - धार्मिक विश्वास ग्रामीणों को निराशा तनाव, भय व चिन्ता से मुक्त रखते हैं। समय-समय पर पड़ने वाली विपत्तियों को वे ईश्वर की इच्छा समझ कर अपने व्यक्तित्व को सन्तुलित बनाए रखते हैं। धार्मिक आदर्श ग्रामीणों के जीवन का आदर्श होते हैं। धार्मिक नियम लोगों में दया सहानुभूति, प्रेम, सहिष्णुता, अहिंसा और सहयोग आदि सद्गुणों का विकास करते हैं।

5. शुद्ध आचरण के लिए उत्तरदायी - धर्म व्यक्ति के आचरण में शुद्धता एवं पवित्रता लाता है। धर्म का प्रभाव ग्रामीणों पर इतना अधिक होता है कि वे कोई भी धर्म विरोधी कार्य, अपराध या पाप या अनैतिक आचरण करने से डरते है और यदि उनसे कोई अपराध हो ही जाए तो विभिन्न प्रकार के संस्कारों व धार्मिक कृत्यों द्वारा प्रायश्चित कर अपना शुद्धिकरण करने का प्रयास करते है।

6. भावनात्मक सुरक्षा प्रदान करना - ग्रामीण जीवन प्राय: असुरक्षित होता है क्योंकि उसे हमेशा प्राकृतिक शक्तियों जैसे- वर्षा, बाढ़, अकाल जैसी अनिश्चितताओं से जूझना पडता है, ये सब उसके नियंत्रण से परे होती है जो उसे व्यथित करती है। इस तरह जब वह चारों ओर से

निराश हो जाता है तो ईश्वर की शरण में जाता है। इस प्रकार धर्म उसे संकट की स्थिति में संबल प्रदान करता है।

7. आर्थिक जीवन पर प्रभाव - ग्रामीणों में धर्म का प्रभाव इतना अधिक होता है कि वे अपनी दैनिक जीवन की आर्थिक क्रियाओं का शुभारम्भ गणेशजी, लक्ष्मी अथवा अपने इष्टदेव की आराधना से करते हैं और यह आशा करते हैं कि इष्टदेव उन्हें आर्थिक कार्यों में सफलता व लाभ प्रदान करेंगे।

8. दैनिक जीवन की समस्याओं के समाधान में सहायक - धर्म ग्रामीणों के रोजमर्रा के जीवन की समस्याओं का समाधान करने में भी मदद करता है। जैसा कि थॉमस ओडिया ने अपनी पुस्तक Sociology and Religion में लिखा है, ''धर्म व्यक्ति का अपने समूह से एकीकरण करता है, अनिश्चितता की स्थिति में सहायता करता है, निराशा के क्षणों में ढाँढस बँधाता है, जागरूकता लाता है, आत्मबल में वृद्धि करता है और सबको एक-दूसरे के समीप आने की प्रेरणा देता है।"

8.6 ग्रामीण क्षेत्र में मन्दिर का महत्व

देसाई ने ग्रामीण जनता के जीवन में मन्दिर को महत्वपूर्ण बताया है। जो केवल पूजा और प्रार्थना का स्थान ही नहीं है बल्कि ये ग्राम की गतिविधियों के प्रमुख केन्द्र भी हैं, जैसे-

1. शिक्षा का केन्द्र :- मन्दिरों में ग्रामीण लोगों के लिए धार्मिक प्रवचन, सत्संग व कथाओं का आयोजन होता है जिससे उन्हें प्राचीन इतिहास की जानकारी मिलती है।
2. समाज कल्याण :- मन्दिर परोपकार तथा समाज कल्याण का कार्य भी करते हैं। ग्रामवासियों को संकट के समय रुपया-पैसा व वस्तुएँ एकत्र करके सहायता भी मन्दिरों के माध्यम से की जाती है।
3. मनोरंजन का केन्द्र :- मन्दिरों में आयोजित होने वाले धार्मिक उत्सव, सम्मेलन, समारोहों आदि से लोगों का मनोरंजन होता है। इन उत्सवों में दिए जाने बाले सहभोज या प्रसादी से उनमें सामूहिक एकता व संगठन की भावना प्रबल होती है।
4. परम्पराओं के केन्द्र - मन्दिर समस्त परम्परागत, साहित्यिक तथा कलात्मक संस्कृति के केन्द्र भी हैं। प्रत्येक मन्दिर के अपने पुरोहित, पुजारी या महंत तथा भजन गायक, नर्तक व संगीतज्ञ होते है।
5. न्यायिक कार्य :- ग्रामों में मन्दिर कभी-कभी न्याय का कार्य भी करते रहे हैं। मन्दिरों के चबूतरों पर लगने वाली बैठकों में आपसी विवाद या झगडे आदि भी ईश्वर या धर्म की आड़ व साक्ष्य में निपटाए जाते रहे हैं। अपराध होने की स्थिति में प्रायश्चित के धार्मिक तरीके भी सुझाए जाते रहे हैं। मन्दिर का मुखिया ग्रामवासियों का कठोर नैतिक आलोचक और उनके कार्यों का नियंत्रक भी होता है।
6. भविष्यवाणी व शुभ मुहूर्त आदि का निर्धारण :- मन्दिरों के पुजारी आदि भावी घटनाओं के सम्बन्ध में भविष्यवाणियाँ करते हैं। किसी कार्य को करने के लिए शुभ-अशुभ दिन व समय के बारे में भी बताने का कार्य करते हैं।

इस प्रकार ग्रामों में मन्दिर अनेक सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक व साहित्यिक गतिविधियों का केन्द्र रहे हैं।

8.7 सारांश

धर्म का शब्दिक अर्थ है धारण करना, बाँधना। धर्म व्यक्ति को ईश्वर से जोडता है। धर्म अलोकिक शक्तियों तत्वों तथा आत्मा से संबंधित विश्वासों एवं धारणाओं की एक संगठित व्यवस्था है। ग्रामीण शक्ति के पारिवारिक जातीय, आर्थिक तथा मनोरंजनात्मक जीवन को धार्मिक मान्यताएँ बहुत प्रभावित करती हैं। यहाँ पर प्राकृतिक शक्तियों की किसी न किसी देवता के रूप में पूजा की जाती है जैसे इन्द्र देवता को वर्षा का देवता, सूर्य को प्रकाश का, पेडों के लिए वन देवता, भूमिया जी भूमि के देवता आदि। अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए देवी-देवताओं की प्रार्थना करते हैं, बलि चढ़ाते है, पूजा-पाठ करते हैं और प्रसाद चढ़ाते है। गाँवों में स्थित मंदिरों में समय-समय पर धार्मिक अनुष्ठानों का, कथा प्रवचनों का, रामलिला, रासलिला आदि का मनोरंजनार्थ आयोजन भी किया जाता है। धर्म व्यक्ति को झूठ बोलने से, दूराचरण करने से, अन्याय करने से अपराध करने से कुछ हद तक रोकने का कार्य भी करते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में मंदिर सामाजिक, आर्थिक साहित्यिक गतिविधियों के केन्द्र रहते है।

8.8 सन्दर्भ ग्रंथ

1. ग्रामीण समाजशास्त्र : वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा
2. ग्रामीण समाजशास्त्र : लवानिया एवं जैन
3. भारतीय ग्रामीण समाजशास्त्र : ए. आर. देसाई
4. ग्रामीण समाजशास्त्र : डी. संजीव महाजन

8.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. धर्म की परिभाषा दीजिए तथा ग्रामीण धर्म की विशेषताएँ बताइए।
2. ग्रामीण जीवन में धर्म के महत्त्व पर प्रकाश डालिए।

इकाई 9

जजमानी व्यवस्था

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 जजमानी व्यवस्था

9.3 जजमानों के प्रकार

9.3.1 सेवादार एवं कमीन जातियों की प्रस्थिति

9.3.2 आधुनिक तकनीकी विकास का धर्म एवं जजमानी प्रथा पर प्रभाव

9.4 जजमानी प्रथा की विशेषताएँ

9.5 सारांश

9.6 सन्दर्भ ग्रंथ

9.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

9.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप-

- जजमानी व्यवस्था के बारे में जान सकेंगे।
- जजमानी व्यवस्था की विशेषताएँ समझ सकेंगे।
- जजमानी व्यवस्था के कमजोर होने के कारण जान सकेगे।

9.1 प्रस्तावना

भारत की तीन-चौथाई आबादी गाँवों में निवास करती है। गत छः दशकों में आजाद भारत ने इतना विकास तो किया है कि अब ग्रामीण समुदाय अलग-थलग नहीं रहे हैनरी मैन जिन गाँवों को पृथक प्रजातंत्र समझते थे, वे आज आत्मनिर्भर नहीं है अन्त निर्भर है। वे नगरीय समुदायों के साथ जुडे हैं तथा इन पर नगरीय प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। इस इकाई में हम ग्रामीण समुदायों में विद्यमान जजमानी व्यवस्था के स्वरूपों की विवेचना प्रस्तुत करेंगे। जजमानी व्यवस्था आर्थिक सम्बन्धो में सेवाओं का आदान-प्रदान है। जाति एवं जजमानी संस्थाएँ एक-दूसरे में घुली-मिली है क्योंकि हर जाति अपनी पहचान उसके जातिगत धर्म, जो कि प्रायः कर्मकाण्ड, मुख्य व्यवसाय एवं पैतृक व्यवसाय से सम्बन्ध रखता है, के आधार पर स्थापित करती हैं। इन दोनो ही संस्थाओं को सदियों से जमींदारी/जागीरदारी व्यवस्था से संरक्षण मिला है। प्रत्येक के अपने पैतृक व्यवसाय को पालन कराने में भी जागीरदार महत्वपूर्ण भूमिका निभाता था। अब चूंकि जागीरदारी/जमींदारी व्यवस्था का उन्मूलन हो चुका है जजमानी प्रथा समाप्त होने की अवस्था में है। यह संस्था ग्रामीण भारत में किन विशेषताओं को लिए हुए है तथा इसमें बदलाव क्या आ रहे हैं, इन्हीं दो पहलुओं पर यह संपूर्ण इकाई केन्द्रित है।

9.2 जजमानी व्यवस्था

भारतीय ग्रामीण समाज यदि परंपरागत धार्मिक - आर्थिक संस्थागत व्यवस्था है। तो हमें जजमानी व्यवस्था को समझना होगा। जजमानी व्यवस्था जो वर्तमान समय में समाप्त होने के कगार पर है, संदियों तक विविध जातियों के बीच पारिवारिक स्तर पर आर्थिक अंतर्सम्बन्धों के प्रतिमान एवं धार्मिक मान्यताओं से ओत-प्रोत अवस्था में सेवाओं के बदले वस्तु या नकद उपहार प्राप्त करके चलती रही। जजमानी व्यवस्था में जजमान शब्द की व्याख्या करना उचित होगा। यह "यजमान'' शब्द का अपभ्रंश है। प्रारंभ में ब्राह्मण लोग सवर्ण जातियों के यहां यज्ञ-अनुष्ठान, कथा- प्रवचन, विवाह तथा अन्य धार्मिक कार्य सम्पन्न कराते थे जिसके बदले में दान-दक्षिणा के रूप में अनाज, सोना-चांदी, भूमि, गाय आदि दिये जाते थे। ये सभी देने वाले परिवार यजमान/जजमान कहलाते थे जो ब्राह्मणों को अपने कल्याण के लिये देव-पूजन आदि के लिये ससम्मान बुलाते थे। ब्राह्मणों को विप्र, पण्डित, श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ पुरोहित या राजगुरू अथवा गुरूवर के रूप में मान्यताएं थी। ये ब्राह्मण लोग निम्नलिखित छः कर्मों के लिये निमित थे -

यज्ञ करना, यज्ञ करवाना
दान लेना, दान देना
वेद पढ़ना, वेद पढ़ाना

जो ब्राह्मण उक्त लिखित कर्मो की अन्य किसी भी वर्ण (शूद्र वर्ण को छोड़ कर) के लोगों के लिये सम्पन्न करता था वह दान, उपहार भेंट इत्यादि लेने का अधिकारी बनता था। जो देने वाला व्यक्ति या परिवार होता था वही यजमान या जजमान कहलाता है। जो "यज्ञ" कराकर उसका दान /उपहार आदि देकर सम्मान करे वही यजमान होता था। इस क्रिया में ब्राह्मण स्वंय भी अन्य ब्राह्मण के लिये जजमान होते थे जिनसे वे यज्ञ आदि करवाते। यही जजमानी अवस्था मूल रूप में विकसित थी। कालांतर में जजमानी व्यवस्था का दायरा बढ़ा। सेवा करने वाली जातियों के पैतृक व्यवसाय बनते गये। सेवा के बदले उपहार, भेंट इत्यादि ही दिये जाते थे। वे लोग जो सेवा करते थे उनमें ब्राह्मणों के अलावा जीवन की अन्य आवश्यकताओं के लिये कई लोग आ गये थे। उन सबके लिये सेवाओं के बदले में उपहार या भेंट इत्यादि देने वाले 'जजमान कहलाने लगे तथा सेवा करने वाली श्रेणी के लोगों के लिये एक शब्द नया प्रयुक्त होने लगा वह था " कमीन-कारु "। यह कमीन शब्द ब्राह्मणों की सेवा पर कभी भी लागू नहीं हुआ क्योंकि ब्राह्मण केबल शुद्ध कर्मों - यज्ञ, पूजा-पाठ, कथा प्रसंग, विवाह आदि में ही अपनी भूमिका निभाते थे। जबकि अन्य लोग, जिनकी बाद में जाति श्रेणियां उनके कर्मो/धंधों की प्रकृति के आधार पर विकसित हो गई, ऐसे कार्यो में संलग्न थे जिन्हें हेय, अशुद्ध एवं अपवित्र माना जाता रहा। चर्मकार, धोबी, नाई, कुम्हार सुथार, दर्जी, लौहार इत्यादि धंधेगत जातियां स्थाई रूप से अपनी सेवाएं सवर्ण जातियों को देने के लिये बाध्य हो गई थी। इनकी धंधेगत बाध्यता को धार्मिक मान्यताएं थी तथा जमींदारी/ जागीरदारी व्यवस्था के द्वारा इन्हें अपनी सेवा/धंधा इत्यादि को छोड़ने की आजादी नहीं थी। इन सेवादार जातियों को अपनी

सेवाओं के बदले में उपहार नकद या वस्तु के रूप में दिया जाता था। उपहार लेने बाले बे सभी लोग जो सेवाएं देते रहे उन्हें " कमीन " शब्द के द्वारा संबोधित किया जाने लगा। " कमीन " संबोधन के विपरीत " जजमान " शब्द बना जिसकी व्याख्या यहां की जा रही है।

9.3 जजमानी व्यवस्था में जजमानों के प्रकार

जजमानी व्यवस्था एक ऐसी जटिल परंपरागत व्यवस्था है जिसमें जजमान का सामाजिक स्तर एक समान नहीं है और न जजमान द्वारा प्राप्त की गई सेवाएं देने वाले परिवारों /जातियों की प्रस्थिति एक समान होती है। पहले हम जजमानों के प्रकार समझ लें :

(अ) ब्राह्मण जजमान : वे ब्राह्मण लोग जिनके यहां यज्ञ, संस्कार, यज्ञोपवित - नामकरण संस्कार, विवाह संस्कार कराने के लिये पंडित, पुरोहित आदि आकर अपनी सेवाऐ देते है। ये जजमान अपने यहां आने वाले पंडित का पूरा सम्मान करके आशीर्वाद लेते हैं और बदले में गोदान, भूमिदान, रजत- स्वर्णदान, वस्त्र दान एबं द्रव्य दान, अनाज आदि देकर सम्मानपूर्वक विदा किया जाता है।

(ब) वैश्य या राजपूत जजमान : जिनके यहां पंडित, पुरोहित, राजगुरू आदि यज्ञ अनुष्ठान, जन्म-मृत्यु-विवाह आदि संस्कारों के समय हवन, यज्ञ, अनुष्ठान आदि कराने जाते हैं। इन जजमानों की सामाजिक प्रस्थिति एक पण्डित से नीची होती है तथा ये पंडितों को दान-दक्षिणा इत्यादि देकर ससम्मान विदा करते हैं। इन्हें भी पंडितों द्वारा आर्शीवाद ही मिलता है तथा धार्मिक यज्ञ आदि कराने के बदले में द्रव्य, मुद्रा, वस्त्र आदि के उपहार जजमानों द्वारा पंडितों को दिये जाते हैं।

(स) कृषक जजमान : कृषि कार्यो में संलग्न विविध सवर्ण जातियों के यहां भी दो प्रकार की सेवाएं दी जाती है - (i) धार्मिक कृत्य एवं जन्म, विवाह, मृत्यु के संस्कार सम्पन्न कराने की सेवाएं जिनमें ब्राह्मण / पुरोहित ही सेवाएं देते हैं। यहां भी जजमान द्वारा विविध प्रकार से दान / दक्षिणा दी जाती है ;। (ii) कृषि से संबंधित सेवाएं जैसे लकडी के औजार बनाना - हल, जुआ आदि, लोहे के औजार बनाना, चमड़े के उपकरण एवं वस्तुएं बनाना एवं मरे पशुओं को उठा कर ले जाना आदि। कृषक जजमान अपने यहां ये सेवाएं देने वालों को निर्धारित अनाज एवं अन्य वस्तुएं, वस्त्र आदि उपहार में देते हैं।

(द) सभी प्रकार के जजमानों के यहां सामान्य पारिवारिक सेवाएं देने वालों के कार्य एवं उनके बदले प्राप्त द्रव्य या अन्य वस्तुएं या नकद प्राप्ति के नियम कुछ अलग होते हैं। सेवाएं देने वाले दो प्रकार की जातियों के होते हैं - (अ) गैर अछूत सेवादार जातियां - कुम्हार (मिट्टी के बर्तन लाना) नाई (परिवार जनों की हजामत बनाना) धोबी (कपडे धोना), तथा (ब) अछूत या अस्पृश्य सेवादार जातियां - चमार, मेघालय, मोची, मेहतर आदि। उक्त दोनों प्रकार के सेवादार जातियों को ब्राह्मण वैश्य, राजपूत, कृषक इत्यादि सभी जातियों के जजमानों के यहां अपनी सेवाएं देनी होती है। विवाह, जन्म, मृत्यु आदि पारिवारिक अवसरों पर विशेष सेवाएं लेने पर इन्हें विशेष पारिश्रमिक- वस्तु-वस्त्र, आदि - तथा नकद, पारिश्रमिक भी दिया जाता है। इन सभी

सेवादार जातियों को " कमीन " कहा जाता है जिनकी सामाजिक प्रस्थिति निम्न या पिछडी हुई मानी जाती है।

9.3.1 **सेवादार या " कमीन " जातियों की प्रस्थिति** :

जजमानी प्रथा जब तक ब्राह्मणों, पंडितों, पुरोहितों के द्वारा श्रोत्रिय या ब्रह्मनिष्ठ पंडित बनने एवं जजमान से दान-दक्षिणा (उपहार आदि) लेने की परंपरा तक सीमित थी तब तक इसमें निम्न सामाजिक की प्रस्थिति का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। जब सामाजिक श्रम विभाजन में कुछ जातियों एवं परिवारों के लिये विशिष्ठ प्रकार के कार्यो या सेवाओं में दृढ़ता एवं स्थाईत्व आया तथा हेय या निकृष्ठ समझे जाने बाले धंधों / सेवाओं के लिये विशेष जाति समूहों को ही नामजद कर दिया गया तो जजमानी प्रथा में " कमीन " की प्रस्थिति उन निम्न-स्तरीय जातियों के लिये निर्धारित हुई जिनके पास कृषि योग्य अपनी निजी भूमि नहीं थी तथा जिनका संपूर्ण जीवन सवर्ण जातियों / जमींदारों / जागीरदारों या भूस्वामी कृषकों की सेवा करके उनसे सेवा के बदले विविध प्रकार के उपहार आदि प्राप्त करके चलने लगा। इनमें भी उन कमीन जातियों की प्रस्थिति अति दयनीय एवं सामाजिक दूरी या पृथक्कता की शिकार थी जिन्हें कई नागरिक अधिकारों से भी वंचित रहना पडता था। वे हर तरह से अपने जजमानों पर निर्भर थे। जजमानी व्यवस्था को एक सारणी में इस प्रकार दर्शाया जा सकता है।

सारणी - 9.1

जजमानी व्यवस्था में जाति-समूह एवं सेवाओं की प्रकृति

परिवार या जाति समूह जो सेवाएं देते हैं/ प्रस्थिति	सेवाओं की प्रकृति	सेवा देने वाले की पहचान	सेवा लेने वालों का जाति समूह	उपहार की प्रकृति
1. ब्राह्मण उच्च प्रस्थिति	यज्ञ-अनुष्ठान, संस्कार निर्वहन, पूजा-पाठ, कथा-प्रवचन	पंडित, पुरोहित ब्राह्मणों के(समान प्रस्थिति तथा वैश्य एवं राजपूतों से उच्च प्रस्थिति)	सवर्ण जातियां, (जजमान) (ब्राह्मण)	भूमिदान, द्रव्य दान, नकद या अनाज दान
2. कुम्हार-मध्यम प्रस्थिति	मिट्टी के बर्तन लाकर देना, दावतों एवं प्रीति भोजों में पानी की व्यवस्था करना	प्रजापत(निम्न स्थिति सभी सवर्ण जातियों से)	सभी सवर्ण जातियां(जजमान)	बना हुआ भोजन, वस्त्र, द्रव्य आदि
3. नाई(बार्बर) मध्यम प्रस्थिति	हजामत करना, समूहिक कार्यों के समय आवश्यक	कवास की भूमिका, जन्म, मृत्यु, विवाह के समय विशेष	सभी सवर्ण जातियां(जजमान)	उक्त सभी स्वीकार्य

	सेवाऐं देना महिलाएं डिलीवरी करवाने में मदद (दाई की भूमिका)	सेवा(निम्न प्रस्थिति)		
4. सुथार/ लौहार- मध्यम प्रस्थिति	लकड़ी/लोहे के औजार बनाना या उनकी मरम्मत करना विशेष रूप से कृषकों के लिये	कारीगर- बढ़ई या मिस्त्री की भूमिका	सभी सवर्ण जातियां जजमान	नकद या वस्तु के रूप में सेवा का भुगतान
5. .धोबी- निम्न प्रस्थिति	शुद्ध करने हेतु वस्त्रों की धुलाई करना	धोबी- निम्नस्थिति	सभी उच्च जातियां	नकद या वस्तु में उपहार/ भुगतान
6. चर्मकार- निम्न प्रस्थिति	चमड़े के सभी कार्य	चमार, मेघवाल, मोची, रेगर, बोला- अस्पृश्यता के शिकार	सभी जातियां	वस्तु या नकद, उपहार/ भुगतान
7. मेहतर- निम्नतम प्रस्थिति	सफाई कार्य	मेहतर या भंगी- अस्पृश्यता के शिकार	सभी जातियां	वस्तु/नकद उपहार/ भुगतान

9.3.2 **आधुनिक तकनीकी विकास का धर्म एवं जजमानी व्यवस्था पर प्रभाव** :

आजादी के बाद भारत में तीव्र गति से विकास हुआ है, इसमें तकनीकी विस्तार भी शामिल है। इससे धर्म एवं जजमानी व्यवस्थाएं अलग-अलग तरह से प्रभावित हुए हैं। जहां धर्म का पुनरूद्वार हुआ है तथा धार्मिक रूझान लोगों में अधिक दिखाई देने लगा है वहीं जजमानी व्यवस्था को तो अलविदा कहा जा रहा है। धर्म की विविध विधाएं - कथा-प्रसंग, भक्ति संध्या, हवन-पूजन, मंदिर-मस्जिद निर्माण या जीर्णाद्धार, त्यौहार- उत्सव, शोभा- यात्राएं आदि को मीडिया के माध्यमों से जनता में अधिक पहुंचाया जाने लगा है। कई नये-नये आध्यात्मिक गुरु एवं संतों को भी मीडिया में अधिक कवरेज मिलने से धार्मिक माहौल में वृद्धि हुई है। ग्रामीण क्षेत्रों में भी आये दिन धार्मिक प्रदर्शन आयोजित होने लगे हैं। हर धार्मिक संप्रदाय अपनी-अपनी पहचान के प्रति अधिक सजग हुआ है। साथ ही, विविध धार्मिक संप्रदायों के प्रति सहिष्णुता एवं सह-अस्तित्व या सर्व धर्म समभाव की दृष्टि से अन्य संप्रदायों का निरादर करने के बजाय उनसे प्रतिस्पर्धा में भाग लेते हैं। अत: धार्मिक आयोजनों में वृद्धि हुई है। किन्तु पंडितों, पुरोहितों, संतों, मौलवियों की जजमानी अवस्था भी अब बदली है। अब स्थाई एवं परंपरागत जजमानों के

यहां ही पुरोहित / पंडित नहीं जाते हैं बल्कि उन्हें बाजार में प्रतिस्पर्धा के आधार नकद राशि धार्मिक कर्मकाण्डों या कथा-प्रवचनों के लिये तय करके दी जाती है।

धंधेगत सेवाओं को अर्पित करने की जजमानी प्रथा अब आर्थिक विकास, शिक्षा प्रसार, तकनीकी विकास आदि के कारण लगभग समाप्त ही होती जा रही है। पूर्व - अस्पृश्य जातियों तथा अन्य पिछडे वर्गों की पिछडी जातियों पर अब किसी प्रकार का दबाव अपने परंपरागत पैतृक व्यवसाय को सम्पन्न करने एवं उसी के अनुरूप जजमानों के यहां सेवाएं देने की अब कोई बाध्यता नहीं दिखाई देती है। खेती के उपकरण भी बदल गये हैं। पंप सेट, ट्रेक्टर, मशीनें आदि के आ जाने से परंपरागत उपकरण बहुत ही कम प्रयुक्त हो रहे हैं। अत: दस्तकारी एवं सेवादार " कमीन " जातियों ने अपने परंपरागत धंधों में क्रांतिकारी परिवर्तन कर लिये हैं। उन्हें आरक्षण के आधार पर शिक्षा, नौकरियां एवं राजनैतिक पदों पर नियुक्तियां मिल रही हैं। अब कोई भी ग्रामीण परिवार स्थाई रूप से किसी को अपना "जजमान" नहीं मानता है और न जजमानों का भी दबाव उस पर रहता है। मुद्रा के प्रचलन, धंधों में नवीनताएं, प्रतिस्पर्धाएं एवं शिक्षा ने पैतृक व्यवसायों में अभूतपूर्व गतिशीलताएं ला दी है। अत: जजमानी प्रथा समाप्त होने के कगार पर है।

9.4 जजमानी प्रथा की विशेषताएं

1. जजमानी प्रथा एक धार्मिक - आर्थिक व्यवस्था थी जिसमें सेवाएं लेने वाली जातियां " सेवित " तथा जजमान की प्रस्थिति से पहचानी जाती है।
2. सेवाएं देने वाली जातियां दो स्तरों की थी -
   (अ) सर्वोच्च स्तर पुरोहित / पंडित
   (ब) निम्न स्तर कमीन या सेवादार
3. सेवाओं के बदले में द्रव्य, वस्त्र, नकद या अन्य अनाज, भूमि, स्वर्ण- रजत, पशु आदि का दिया जाना।
4. पुरोहित/पंडित के द्वारा अपनी सेवाओं के बदले में केवल द्रव्य या भूमि दान-दक्षिणा के रूप में जबकि गैर-ब्राह्मण सेवादारों के द्वारा बना हुआ भोजन, पहने हुए वस्त्र, नकद, अनाज आदि ग्रहण कर लिया जाता था।
5. जजमानी अवस्था तक परंपरागत अंतर्जातीय सम्बन्धों के अंतर्गत विविध सेवाएं देने और बदले में वस्तुएं या नकद लेने के प्रतिमान थे जो पारिवारिक स्तर पर निभाए जाते रहे हैं।
6. इसमें पैतृक धंधों / सेवाओं को सम्पन्न करने की बाध्यता दिखाई देती थी।
7. जमीदारी - जागीरदारी व्यवस्था ने इसको पोषण एवं संरक्षण दिया था।
8. इसे धार्मिक मान्यता मिली हुई थी तथा इसमें धंधों की पवित्रता / अपवित्रता की धारणाएं भी अंतर्निहित थी।
9. जातिगत ऊँच-नीचता पदसोपान आदि से यह अवस्था पूर्ण प्रभावित रही है।
10. यह हिन्दू जाति व्यवस्था की ही एक विशिष्ठता है।

9.5 सारांश

जजमानी अवस्था में प्रत्येक जाति अपने पैतृक जाति से सम्बन्ध रखती है। जैसे बाह्मण पूजा पाठ, धार्मिक कर्मकाण्ड आदि, नाई बाल बनाने (काटने)का कार्य अपने जजमानों के यहाँ कोई भी उत्सव होने पर घर के कार्य भी करते हैं। चर्मकार चमडे के कार्य करते हैं लौहार लोहे के औजार बनाने के कार्य खाती लकडी के कार्य करते हैं जैसे घर के किवाड़ बनाना, हल बनाना आदि, कुम्हार मिटटी के बर्तन बनाने एवं अपने जजमानों के यहाँ पहुचाने का कार्य करते हैं। जजमानी अवस्था में सभी जातियाँ अपने अपने व्यवसाय से दूसरी जातियों की सेवा करती हैं। अर्थात् सभी जातियों के लिए खाती का कार्य, लौहार के कार्य, कुम्हार मिट्टी के कार्य नाई बाल बनाने एवं उत्सव पर घर के कार्य ,धोबी कपडे धोने के कार्य करते हैं। कार्य करने के उपलक्ष में उनको अनाज, नकद राशि, गहने, वस्त्र साथ ही मिठाई आदि मिलता है। इसमें कार्य की कीमत नहीं आंकी जाती है। ये सभी उपहार स्वरूप दिये जाते हैं। यह व्यवस्था आधारभूत रूप में अर्थव्यवस्था से जुडी हुई है। इस व्यवस्था में वस्तु विनिमय होता था। वर्तमान में मुद्रा चलन से यह व्यवस्था समाज प्राय हो गयी है। प्रत्येक कार्य की कीमत आंकी जाती है और उसी के अनुसार उसका मूल्य वसूल किया जाता है।

9.6 सन्दर्भ ग्रंथ

Harold A Gould, " A Jajmani System of North India ", in his book **The Hindu Caste System, New** Delhi, Chanakya Publication, 1987.

A.B. Bose and N.S. Jodha, " The Jajmani System in a Desent Village, **Man in India,** Vol. 45, 1965.

William H. Wiser, **The Hindu Jajmani System**, Lucknow: Lucknow Publication House,1936.

B.R. Chauhan, **A Rajasthan Village**, New Delhi: Vikas Publication, 1965.

Ram Ahuja, **Bhartiya Samajik Vyavastha** (in Hindi), Jaipur: Rawat Publication,1995

B.R. Chouhan, **Bharat Me Grameen Samaj** (in Hindi), A.C. Brothers Itawa,1988

A Barth, **Religion of India**, Delhi, Low Price Publication,1990.

T.N. Madan, **Religion in India,**Delhi: Oxford University Press, 1971.

M.N. Srinivas, **Religion and Society among the Coorgs of South India,** OUP,1952.

M.N. Srinivas, **The Remembered Village**, Bombay: Oxford University Press, 1976.

9.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. ग्रामीण भारत में धार्मिक संस्थाओं की विवेचना कीजिये।
2. भारत के गांवों में धर्म जाति एवं राजनीति के परस्पर सम्बन्धों की व्याख्या कीजिये।
3. जजमानी प्रथा के परंपरागत एवं बदले हुए स्वरूप की विवेचना कीजिये।
4. जजमानी व्यवस्था पर आधुनिकीकरण के प्रभाव को स्पष्ट कीजिये।

इकाई 10

भारत में कृषक आन्दोलन

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य
10.1 प्रस्तावना
10.2 कृषक आन्दोलन : अवधारणात्मक व्याख्या
10.3 कृषक आन्दोलन व किसान आन्दोलन में अन्तर
10.4 स्वतन्त्रता पूर्व के कृषक आन्दोलन
10.5 तेभाग आन्दोलन
10.6 नक्सलबाडी आन्दोलन
10.7 समसामयिक कृषक आन्दोलन
10.8 उत्तर प्रदेश व महाराष्ट्र के कृषक आन्दोलन
10.9 राजस्थान में कृषक आन्दोलन: एक रूपरेखा
10.10 सारांश
10.11 सन्दर्भ ग्रन्थ
10.12 अभ्यासार्थ प्रश्न

10.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप -

- आजादी से पूर्व की कृषि अवस्था के बारे में समझ सकेंगे
- कृषक आन्दोलन के महत्वपूर्ण लक्षणों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे
- कृषक आन्दोलन के कारण जान सकेंगे
- भारत में हुए कृषक आन्दोलनों के बारे में जान सकेंगे
- राजस्थान में कृषक आन्दोलनों की स्थिति के बारे में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे

10.1 प्रस्तावना

भारत में किसान आन्दोलन पिछले कई वर्षों से निरन्तर रूप से चल रहे हैं। आन्दोलन तो अब इस देश की दैनिक दिनचर्या में शामिल हो गये हैं, कभी छात्र आन्दोलन करते है, तो कभी राजनैतिक दल और सरकारी कर्मचारी। समाज का हर वर्ग जो संगठित और सचेत है, अधिक से अधिक सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए आन्दोलन करता है. फिर चाहे वह शिक्षक वर्ग ही क्यों न हो।

भारतीय समाज के कुछ वर्ग ऐसे भी हैं जो असंगठित हैं और अपने अधिकारों के प्रति कम जागरूक है। वह है भारत का किसान। परन्तु किसानों पर जब जुल्म हुए तब उन्होंने संगठित होकर आन्दोलन किया। किसान आन्दोलन के उदभाव के बारे में रजनी पामदत्त का

कहना है: "जब से भारत में अंग्रेजी राज कायम हुआ, तभी से किसानों में बार-बार बेचेनी पैदा हुई और किसानों के विद्रोह हुए तथा उनकी संख्या और तेजी से बराबर बढ़ती ही गई। शुरु-शुरु में किसानों का गुस्सा और बेचेनी अलग-अलग साहूकारों व जमींदारों से बदला लेने और हिंसा का प्रयोग करने की इक्की-दुक्की कार्यवाहियों का स्वयं स्फूर्त रूप लेती थी।"

इस प्रकार अंग्रेजी राज के प्रारंभ से आज तक सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक दशाओं ने किसान आन्दोलनों को जन्म दिया। अंग्रेजी शासन की स्थापना के बाद पहले दशक से ही किसान विरोधी आदेश जारी हुए, जिनका मूल उद्देश्य भारत से अधिक से अधिक सम्पत्ति एकत्रित कर अपने देश को भेजना था।

इसका परिणाम यह हुआ कि सन् 1720 में बंगाल में भयंकर अकाल पड़ गया, जिसमें एक-तिहाई आबादी भूख से मर गई, लेकिन सन् 1793 में पुन: लगान की भारी रकम वसूली हेतु आदेश जारी किये गये। इससे किसानों में असंतोष फूट पडा। बाद में ब्रिटिश शासन ने किसानों की स्थिति को समझा और उन्हें राहत पहुँचाने हेतु लगान वसूली में भारी कमी की। फिर भी वार्षिक रूप से किसानों को बिल्कुल राहत नहीं मिली, क्योंकि ब्रिटिश कम्पनी ने नये मध्यम वर्ग को खड़ा कर दिया जिसने किसानों की दशा को अत्यधिक दयनीय बना दिया। इस संदर्भ में रामशास्त्री का कहना है:

"लेकिन लगान वसूली ने मध्यम वर्ग को जन्म दिया है। ये साहूकार, जमींदार, व्यापारी और वकील आदि थे। इस प्रकार खाद्यान्न के अतिरिक्त घरेलू वाणिज्य बिचौलियों को सौंप दिया गया। भू-प्रबन्ध के नाम पर ब्रिटिश राज ने पहली बार खेती की जमीन को निजी मिल्कियत बनाने का कानून लागू किया। इस कानून को मुगल काल तक भू-राजस्व इकट्ठा करने वाले साहूकारों, बडे काश्तकारों को राज्य की जमीन पर खातेदारी के अधिकार मिल गये। नये कानून ने सूबेदार और देशी राजाओं की पैरवी करने बाले एक बडे तबके को अपने में मिला लिया। नतीजन नये कानून के अमल में आते ही बडे काश्तकार या जमींदारों ने सभी किसानों को बे-दखल कर दिया।"

इससे किसानों की हालत बिगड़ने लगी। कृषि उत्पादन का बड़ा हिस्सा लगान व भूमि किराये में जाने लगा। इस संदर्भ में ए.आर. देसाई ने कहा कि "अंग्रेजों द्वारा लागू की गई भूमि कर व्यवस्था कृषक समुदाय की ऋणग्रस्तता और कृषक समुदाय की गरीबी का कारण सिद्ध हुई।

इससे किसान असहाय हो गये क्योंकि वे संगठित नहीं थे। अत: कुछ ठोस कदम उठाने में भी असमर्थ थे। उन पर लगातार भूमिकर बढ़ता ही जा रहा था। इस संदर्भ में राधाकमल मुखर्जी ने अपनी पुस्तक लेण्ड प्रॉब्लम्स इन इण्डिया में लिखा है कि "मद्रास, बंगाल और संयुक्त प्रान्तों में लगान की राशि दिन दूनी-रात चौगुनी बढ़ती रही है।" इस प्रकार किसान लगान भुगतान करने में असमर्थ था और वह अधिक से अधिक गरीब और ऋणग्रस्त होता चला गया। तब जाकर किसानों ने आन्दोलन करने प्रारंभ किये, जिनमें सबसे महत्वपूर्ण सन् 1855 का संथाल विद्रोह और सन् 1875 का दक्कन विद्रोह था। तत्पश्चात् सन् 1870 और सन् 1897 के बीच भारत में कई बहुत बडे अकाल पडे, जिनमें 1870, 1896 व 1897 के अकाल भयंकर विनाशकारी थे। इन क्षेत्रों में किसानों को काफी मुसीबतों का सामना करना पडा।

फलस्वरूप समय-समय पर किसानों ने जमींदारों, साहूकारों और सरकार के विरुद्ध आन्दोलन किये।

सर्वप्रथम सन् 1870 में बंगाल में किसानों ने आन्दोलन किया। ऐसी दशा में उन्होंने चार कार्य किये:

1. बँटाईदारों ने जानबूझकर लगान देने से इंकार कर दिया।
2. कचहरियों के हुक्मनामों का उल्लंघन किया।
3. भूमि से बे-दखली का बिरोध किया।
4. जो हथियार प्राप्त थे उन्हीं से संघर्ष किया।

इसके पश्चात् भारत के अन्य प्रान्तों बंगाल, पंजाब, दक्कन में भी इसी प्रकार के विद्रोह आरम्म हुए, तब जाकर सरकार ने किसानों की दशा सुधारने व उन्हें राहत पहुँचाने हेतु अनेक अधिनियम पारित किये, जैसे बंगाल टेनेन्सी एक्ट, 1855, दक्कन एग्रीकल्चरिस्ट रिलिफ एक्ट, 1897 व पंजाब एलियनेशन एक्ट 1902-1923 पारित किये।

इस प्रकार 1918 से पूर्व जो भी किसान आन्दोलन हुए, उनका स्वरूप अराजनैतिक था। किसी भी राजनैतिक दल का इन आन्दोलनों से कोई सरोकार नहीं था। वे केवल भारत की स्वाधीनता हेतु आन्दोलन कर रहे थे और यही उनका अन्तिम लक्ष्य था, लेकिन जब समाज के एक बड़े तबके (किसान) ने अपनी माँगों हेतु आवाज उठायी तब सरकार ने उन्हें कुचलना प्रारंभ किया। तब कहीं जाकर राष्ट्रीय नेताओं ने इसमें भाग लेना प्रारंभ किया। अत: किसानों में राजनैतिक चेतना की शुरुआत हुई। किसान संगठित होकर राष्ट्रीय संघर्षो में भाग लेने लगे और बाद में राजनैतिक दलों के निर्देशन में अपनी माँगों की पूर्ति के लिए संघर्ष करने लगे। उनमें भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस प्रमुख थी।

1918 ई. से पहले जो भी किसान आन्दोलन हुए सभी स्वत: स्फूर्त व स्थानीय थे। इनके उद्देश्य सीमित थे और ये कुछ सुविधाएँ व राहत प्राप्त करना चाहते थे। लेकिन इसके बाद कांग्रेस ने किसान आन्दोलन के प्रति रुचि दिखाई और गाँधीजी के नेतृत्व में बिहार के चम्पारन जिले में किसानों ने नील बागानों के मालिकों के खिलाफ संघर्ष किया। इसके पश्चात् गाँधीजी ने कर वसूली के विरुद्ध कैरा के किसानों का सत्याग्रह आन्दोलन संगठित किया। ये किसान फसल नष्ट हो जाने के कारण लगान नहीं दे सकते थे। इसी प्रकार 1921 में गंटूर (कर्नाटक) जिले में भी किसान विद्रोह हुआ, तब अवध रैन्ट एक्ट पारित हुआ, जिससे किसानों की माँगे पूरी हुई। सन् 1922 में मोपला विद्रोह केरल में हुआ, बंगाल में तेलंगाना आन्दोलन व आन्ध्रप्रदेश में तेलंगाना आन्दोलन प्रमुख हैं। इस प्रकार निरन्तर किसान आन्दोलन होते रहे।

देशी राज्यों में भी किसान अपने अधिकारों के प्रति सचेत होने लगे थे। विशेषकर राजस्थान में जहाँ देशी रियासतें थी, उनमें मेवाड में साधु सीताराम दास की प्रेरणा से विजयसिंह पथिक के नेतृत्व में किसान आन्दोलन हुआ और दूसरा महत्वपूर्ण आन्दोलन मोतीलाल तेजावत ने चलाया जो विशेष रूप से आदिवासियों के साथ जुडा हुआ था। बाद में कांग्रेस ने इन आन्दोलनों में अपनी रुचि दिखाई और समझौता करवाया परिणामस्वरूप सामन्तों व जागीरदारों के शोषण से कुछ हद तक राहत मिली।

सरकार ने किसानों को राहत देने हेतु अनेक अधिनियम पारित किये, फिर भी किसानों में असंतोष व्याप्त रहा। किसानों की मूल माँगे दो थी :

1. बिचौलियों व मध्यस्थों को हटाया जाये, और
2. भूमि का समुचित बँटवारा हो या भूमि सुधार हो।

स्वतंत्रता के बाद सरकार ने मध्यस्थों को हटा दिया। जागीरदारों व जमींदारों को समाप्त कर दिया लेकिन भूमि सुधार का ठोस कार्यक्रम नहीं आ पाया। अब हम यहाँ कुछ प्रमुख किसान आन्दोलनों का विस्तार से समाजशास्त्रीय विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे। ये आन्दोलन हैं:

1. तेभाग आन्दोलन
2. तेलंगाना आन्दोलन
3. नक्सलबाड़ी आन्दोलन
4. सम-सामयिक किसान आन्दोलन, और
5. राजस्थान में किसान आन्दोलन

10.2 कृषक आन्दोलन : अवधारणात्मक व्याख्या

हरबर्ट ब्लूमर ने तीन प्रकार के सामाजिक आन्दोलनों का उल्लेख किया है, वे हैं: सामान्य सामाजिक आन्दोलन, विशिष्ट सामाजिक आन्दोलन तथा अभिव्यंजक सामाजिक आन्दोलन। सामान्य सामाजिक आन्दोलन से ब्लूमर का अभिप्राय ऐसे आन्दोलनों से है जो हमें सामाजिक -सांस्कृतिक परिवर्तन के परिणामस्वरूप देखने को मिलते हैं। ऐसे आन्दोलनों में ब्लूमर ने श्रम आन्दोलन, युवा आन्दोलन. महिला आन्दोलन, शांति आन्दोलन इत्यादि को रखा है। जब लोगों के सामान्य जीवन में मूल्यों का उतार-चढाव आता है, यानी एक प्रकार सांस्कृतिक परिवर्तन देखने को मिलता है तो यह सामान्य आन्दोलन की पृष्ठभूमि है। इन आन्दोलनों का केन्द्रीय आधार सांस्कृतिक झुकाव होता है।

इसी प्रकार विशिष्ट सामाजिक आन्दोलन वे होते हैं, जिसका एक सुनिश्चित उद्देश्य होता है, जिसे पाने का प्रयत्न आन्दोलनकारी करते हैं। लक्ष्य प्राप्ति की अवधि में यह विशिष्ट आन्दोलन एक संगठन और संरचना को बना लेता है और इस तरह यह स्थापित हो जाता है। इस आन्दोलन का एक निश्चित नेतृत्व होता है, निश्चित सदस्यता होती है। इसमें हम भावना या भाईचारे की भावना सशक्त होती है। विशिष्ट आन्दोलन की अपनी परम्पराएँ होती है, मार्गदर्शक मूल्य होते हैं, एक दर्शन होता है, नियम-उपनियम होते हैं और अभिलाषाएं होती है।

तीसरे प्रकार का आन्दोलन अभिव्यंजक होते है। ऐसे आन्दोलन समाज की संस्थाओं को बदलना नहीं चाहते हैं। ये आन्दोलन तो केवल उन व्यक्तियों की अभिव्यक्ति है, जो समाज की विकृतियों और कुरीतियों से तनाव में तो है, लेकिन शान्त स्वभाव से इसे सहन कर लेते हैं। इन आन्दोलनों में केवल व्यक्तियों के विचारों की अभिव्यक्ति ही होती है। ये आन्दोलनकारी अपने तनाव से छुटकारा अन्य अभिव्यक्तियों से करते हैं। ऐसा करने से अभिव्यंजनात्मक मूलक आन्दोलनकारियों का जीवन जीने योग्य बन जाता है।

इस प्रकार ब्लूमर ने मूल रूप से तीन प्रकार के आन्दोलनों का उल्लेख किया है। कृषक आन्दोलन को हम ब्लूमर द्वारा बताये गये दूसरे प्रकार यानी विशिष्ट सामाजिक आन्दोलन का प्रकार है, क्योंकि कृषक आन्दोलन सामाजिक आन्दोलन का एक विशिष्ट रूप है।

हम कृषक आन्दोलनों को समझें, उससे पूर्व यह जानना आवश्यक है कि सामाजिक आन्दोलन से हमारा क्या अभिप्राय है? यहाँ हम कुछ परिभाषाओं का उल्लेख करेंगे, जिनके आधार पर सामाजिक आन्दोलन को समझ सकें। हरबर्ट ब्लूमर के अनुसार :

सामाजिक आन्दोलन एक ऐसा सामूहिक प्रयत्न है, जिससे जीवन की नई अवस्था निर्मित होती है। इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि सामाजिक आन्दोलन एक ऐसा गतिशील सामूहिक व्यवहार है जो सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन की माँग के साथ जुडा हुआ है। यह परिवर्तन सम्पूर्ण व आंशिक भी हो सकता है। इसी प्रकार एम.एस.ए. राव ने अपनी पुस्तक सोशल मूवमेन्ट्स इन इण्डिया में सामाजिक आन्दोलन को परिभाषित करते हुए लिखा है कि :

सामाजिक आन्दोलन समाज के एक भाग द्वारा किये जाने वाला ऐसा संगठित प्रयास है जो सामाजिक गतिविधियों के माध्यम से समाज में आंशिक और सम्पूर्ण परिवर्तन लाना चाहता है और यह प्राप्ति किसी न किसी वैचारिकी पर आधारित होती है।

इस प्रकार हम सामाजिक आन्दोलन के कुछ लक्षणों की चर्चा करें तो कह सकते हैं कि सामाजिक आन्दोलन:

1. एक सामूहिक क्रिया है।
2. इसमें सदस्यों के बीच चैतन्यता पायी जाती है।
3. ये सामाजिक अवस्था में आंशिक या सम्पूर्ण परिवर्तन के साथ जुडी होती है।
4. ये अनिवार्यत: किसी न किसी वैचारिकी पर आधारित होते हैं।

सामाजिक आन्दोलन के उपर्युक्त परिभाषाओं और लक्षणों के आधार पर हम कृषक आन्दोलन को कृषक सामाजिक संरचना में परिवर्तन लाने या परिवर्तन का प्रतिरोध करने के लिए कृषक आबादी के एक सामूहिक और संगठित प्रयासों के रूप में परिभाषित कर सकते हैं। भारत में कृषक समाज बहुत अधिक स्तरीकृत रहा है, इसलिए देश के विभिन्न भागों में विभिन्न प्रकार के कृषक सम्बन्धों और आन्दोलनों में इसकी अभिव्यक्ति हुई है।

10.3 क्या कृषक आन्दोलन व किसान आन्दोलन में कोई अन्तर है ?

यहाँ पर इस प्रश्न को उठाना आवश्यक है क्योंकि कई बार कृषक आन्दोलन व किसान आन्दोलन को समान समझ लिया जाता है, जबकि दोनों ही आन्दोलन में कुछ भिन्नताएँ हैं। अगर हम भारत के कृषक समाज की गतिशीलता का मूल्यांकन करें तो हम मुख्यत: दो प्रकार के आन्दोलनों को पाते हैं, वे हैं : कृषक आन्दोलन व किसान आन्दोलन। कृषक आन्दोलनों का उदभव उन क्षेत्रों में हुआ है जो आर्थिक दृष्टि से काफी पिछडे हुए हैं, यानी देश के पिछड़े कृषि क्षेत्रों में इनका जन्म हुआ। जबकि किसान आन्दोलनों का उदय विकसित कृषि क्षेत्रों में हुआ है। कृषक आन्दोलन को हम कृषक समुदाय (लघु व सीमान्त कृषक, , काश्तकार और कृषि श्रमिक) द्वारा किये गये संगठित और सामूहिक प्रयासों के रूप में

परिभाषित कर सकते है। जिनके द्वारा वे भूमि के उपयोग, नियंत्रण और स्वामित्व की प्रणाली, कृषि उत्पादों की बटाई, पारिश्रमिक संरचना, ऋण और संस्थागत सहायक अवस्था और सामाजिक-आर्थिक जीवन के अन्य पहलुओं में परिवर्तन की आकांक्षा रखते हैं।

दूसरी तरफ अगर हम किसान आन्दोलन की व्याख्या करें तो हम कह सकते हैं कि किसान आन्दोलनों को किसानों और व्यापारिक फसल उत्पादकों के अपेक्षाकृत सम्पन्न हिस्से द्वारा किये गये संगठित प्रयासों के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। आन्दोलन के द्वारा वे उन आधिकारिक संरचनाओं और संस्थाओं में परिवर्तन लाना चाहते हैं, जिनकी कमी या उपस्थिति किसानों के आर्थिक हितों की पूर्ति में बाधक होती है। वे सरकार से बिजली तथा ऊर्जा के अन्य साधनों, खाद व कीटनाशकों तथा उन्नत किस्मों के बीज आदि अनुदानित मूल्यों पर प्राप्त करने की माँग करते हैं।

10.4 स्वतन्त्रता प्राप्ति पूर्व के कृषक आन्दोलन

स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व भारत में अनेक कृषक आंदोलन हुए। इस काल में भारत में बदलते कृषक सम्बन्धों और कृषक आन्दोलन को हम यहाँ प्रस्तुत करेंगे। अगर हम भारत के कृषकों के इतिहास को देखें तो पायेंगे कि स्वतन्त्रता पूर्व ऐसे अनेक कृषक आन्दोलन हुए हैं, जो संगठित रूप से उभरे। उन्होंने उनके खिलाफ होने वाले शोषण, अन्याय और गैर-बराबरी के विरुद्ध प्रतिरोध और विद्रोह किया है।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो 17वीं व 18वीं शताब्दी में महाराष्ट्र में मराठों ने, राजस्थान, दिल्ली व पश्चिमी उत्तर प्रदेश में जाटों व राजपूतों ने और पंजाब में सिक्खों ने मुगलों के विरुद्ध आन्दोलन किये। ये सभी जातियाँ मुख्यत: कृषक थी। इनका विद्रोह इन मुद्दों को लेकर था : भू-राजस्व की वसूली, कृषि सम्बन्धित समस्याएँ, राजनीतिक शक्ति व धार्मिक उत्पीड़न इत्यादि। 18वीं शताब्दी के अन्त में बंगाल में सन्यासी आन्दोलन हुआ। भू-राजस्व व अधिक लगान वसूली से परेशान होकर यहाँ के किसान जंगलों में चले गये और सन्यासी का रूप धारण कर ब्रिटिश राज के खिलाफ आन्दोलन किया। आगे हम कुछ प्रमुख कृषक आन्दोलनों का अध्ययन करेंगे।

10.5 तेभाग आन्दोलन -1946-47

डी.एन. धनागरे ने अपनी पुस्तक पीजेन्ट मूवमेन्ट इन इण्डिया में इन आन्दोलनों का विस्तार से विवेचन किया है। तेभाग आन्दोलन 1946-47 में चला और तेलंगाना आन्दोलन 1946-51 तक।

इन आन्दोलनों से पूर्व 1942 से 1945 का काल किसानों के आन्दोलन का अग्नि परीक्षा का काल था। इस समय संगठित किसान आन्दोलन पर बहुत बड़ी जिम्मेदारी आ गई। इस जिम्मेदारी को पूरा करने के लिए अखिल भारतीय किसान सभा और उसकी प्रान्तीय शाखाओं ने राष्ट्रीय नेताओं की रिहाई और एक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के लिए दृढ़तापूर्वक आन्दोलन चलाया। उन्होंने सरकारी दमन का मुकाबला किया। युद्धकोष के लिए किसानों से

जबरदस्ती पैसा वसूल करने का विरोध किया। अधिक अन्न पैदा करने के लिए एक आत्म सहायता आन्दोलन संगठित किया और हर गाँव में नौकरशाहों व अनाज-चोरों को शिकस्त दी।

यह पूरी अवधि भारतीय किसानों की सफलताओं की है। आन्ध्रप्रदेश में लाखों एकड़ पड़त भूमि जोती गई। जब बंगाल की जनता को अकाल ने अपनी गिरफ्त में ले लिया तो अखिल भारतीय किसान सभा के नेतृत्व में सारे देश में बंगाल की सहायता के लिए आन्दोलन चलाया गया।

सन् 1945 के बाद अनाज संकट अधिक बढ़ गया। जीवन की आवश्यक वस्तुओं की कमी हो गई। उनकी कीमत बढ़ गई। गाँवों में सरकार की क्रूरता व जमीदारों का अत्याचार बढ़ गया। इन सभी कारणों से किसानों ने संगठित होकर आन्दोलन किया। एक ओर वे माँग कर रहे थे कि जमींदारी प्रथा को खत्म करने के लिए तुरन्त कानून बनाया जाये और दूसरी ओर वे स्वयं पहल कर रहे थे और किसान सभा के नेतृत्व में जमींदारों की पड़त जमीन पर कब्जा कर रहे थे। उन्हें बे-दखल करने व लगान बढ़ाने की कोशिशों का जबर्दस्त विरोध कर रहे थे। तत्पश्चात् किसान आन्दोलन तीव्र हुआ, इसका एक उदाहरण बंगाल का तेभाग आन्दोलन और दूसरा हैदराबाद का तेलंगाना आन्दोलन है।

तेभाग आन्दोलन का उदय बंगाल में हुआ। मूल रूप से इस आन्दोलन से प्रभावित इलाका वर्तमान में बांग्लादेश है अर्थात् पूर्वी बंगाल के निम्न जिलों में यह आन्दोलन उभरा :

1. दिनाजपुर
2. रंगपुर
3. मैमनसिंह
4. शुशान

तेभाग आन्दोलन को समझने से पूर्व वहाँ की कृषक व्यवस्था समझना आवश्यक है। वहाँ किसानों के पाँच वर्ग थे :

1. जमींदार या तालुकदार,
2. जोतेदार यानी भू-स्वामी,
3. कम जोत वाले किसान,
4. बँटाईदार और
5. भूमिहीन कृषक मजदूर।

इस इलाके के किसानों की मुख्य माँग यह थी कि बँटाईदार उत्पादन का 2/3 भाग अपने पास रखेंगे व 1/3 भाग जोतेदार यानी भू-स्वामी को देंगे। पहले जोतेदार उत्पादन का 1/2 भाग लेते थे। तब किसानों ने संगठित होकर आन्दोलन चलाया उन्होंने कहा कि :

1. जमींदारी प्रथा को समाप्त किया जाये।
2. जो भूमि जोतेगा, जमीन उसी की होगी।
3. किसानों की बे-दखली को रोका जाये।
4. गरीब किसानों पर अत्याचारों को कम किया जाये।

उपरोक्त माँगों को लेकर यह आन्दोलन चला। प्रमुख रूप से किसानों ने जमींदारों का विरोध किया। इसके साथ ही यह भी कहा गया कि जोतेदारों को जमींदारों को एक निश्चित भू-कर ही देना चाहिए। काफी समय तक जो निश्चित भू-कर जमींदारों को दिया जाता था, वह फसल की कीमत का एक छोटा हिस्सा होता था। इस प्रकार जोतेदार वे थे जिन्होंने फसल का एक बडा हिस्सा प्राप्त कर लिया था। जोतेदारों की भूमि में खेती बँटाईदारों या अधियार या बरर्गादार द्वारा की जाती थी जो साझे में खेती करते थे।

यह आन्दोलन सन् 1943 से ही चला था लेकिन वास्तविक रूप में यह 1946 में उभरा, क्योंकि बंगाला में भीषण अकाल पड़ा। इस अकाल का प्रभाव लगभग 3.5 करोड़ किसानों पर पड़ा तथा लाखों लोग जो गरीब थे, अकाल के कारण बेसहारा हो गये थे। जब इन्हें किसी ने सहायता नहीं दी तब किसान संगठित हुए व जमीदारों के विरुद्ध आन्दोलन चलाया।

इस आन्दोलन का नेतृत्व समाजवादी नेता कर रहे थे। इसके खास समर्थक साझे में खेती करने वाले काश्तकार थे। इसके नेता किसानों की दयनीय अवस्था से दुःखी थे और इन्होंने किसानों को संगठित करने का प्रयास किया।

वास्तव में इस आन्दोलन ने सन् 1948 के बाद ही अपना स्वरूप ग्रहण किया। स्थानीय साम्यवादियों व किसान सभा ने इसमें भाग लिया लेकिन साम्यवादी दल ने उस समय तक भाग नहीं लिया जब तक जापान से युद्ध चल रहा था। बाद में जब 1946 में किसान सभा ग्रामीण स्तर पर थी तब साम्यवादी नेता इसका नेतृत्व करने लगे तब यह आन्दोलन तीव्रगति से आगे बढ़ा। इस प्रकार इन स्थितियों के कारण किसानों की आर्थिक सौदेबाजी को, धनिक किसानों के विरुद्ध और अधिक मजबूत कर दिया। बँटाईदार की जोतेदारों पर आर्थिक निर्भरता उन्हें नौकरी मिलने के कारण कम हो गई।

तेभाग आन्दोलन फसल काटने के समय अपनी चरम सीमा पर था, लेकिन यह आन्दोलन इतना सफल नहीं हुआ, क्योंकि जोतेदार को पुलिस समर्थन प्राप्त था। अब किसान समा द्वारा यह संघर्ष निरन्तर जारी रहा जो विस्तृत रूप से फैल चुका था। इन किसान सभाओं ने ग्रामीण मसलों व न्याय व्यवस्था को चलाया। बंगाल की मुस्लिम लीग सरकार ने जनवरी, 1947 में एक बिल पास किया जो बँटाईदार को दो-तिहाई फसल का हिस्सा देने से सम्बन्धित था, लेकिन यह बिल कानून नहीं बन सका। जोतेदार जो मुस्लिम लीग व कांग्रेस में थे नेताओं पर दबाव डालकर किसान आन्दोलन को दबाने लगे। मार्च, 1947 में यह आन्दोलन समाप्त हो गया, क्योंकि उस समय भारत का विभाजन हो गया था। सब मिलाकर, यह आन्दोलन असफल रहा।

इस आन्दोलन को समाज के सभी वर्गों का समर्थन प्राप्त नहीं था। केबल बँटाईदार ही थे जो भूमिदारों, जमींदारों व जोतेदारों के शोषण तथा अधिक लगान से मुक्ति प्राप्त करना चाहते थे। इसके अतिरिक्त गरीब व असहाय किसान काफी हद तक जमींदारों पर निर्भर थे। इनके पास जीवन निर्वाह का कोई साधन नहीं था। मध्यमवर्गीय किसान शोषण से अधिक प्रमावित नहीं हुआ, अतः वे इसमें पूर्ण सहयोग नहीं दे रहे थे। ग्रामीण स्तर पर अकाल का मुकाबला करने के लिए किसान तैयार नहीं थे एवं मुनाफाखोरी व जमाखोरी के विरुद्ध उनमें

बोलने की हिम्मत भी नहीं थी। ज्यादातर खाने की चीजें या तो शहरों को भेज दी जाती थी या गोदामों में रख दी जाती थी। फिर तेभाग आन्दोलन का प्रारंभ अकाल के परिणाम से ही हुआ। पहले यह आन्दोलन अकाल के कारण असंगठित व कमजोर था। किसानों को भरपेट भोजन प्राप्त नहीं था और भूखमरी की स्थिति थी।

इस आन्दोलन में गति आने के तीन मुख्य कारण थे :

1. अकाल पीडितों को सहायता मिलने के कारण उन्हें राहत मिली व नये सिरे से संगठित होने प्रारंम हुए।
2. मध्यम वर्ग काफी बडी संख्या में शिक्षित था और इस वर्ग के युवकों ने अकाल पीडितों की सहायता की। उन्हें विस्तृत स्तर पर चिकित्सा सहायता प्रदान की। इससे एक नया सम्बन्ध शिक्षित युवकों और किसानों के बीच स्थापित हुआ, दोनों को सामाजिक शिक्षा प्रदान की और किसान सभा के कमुनिस्ट पार्टी में नये सम्बन्ध स्थापित हुए।
3. कालाबाजारियों व मुनाफाखोरों के विरुद्ध ये किसान संगठित हो गये।

सन् 1944 में जापान का असम पूर्वी बंगाल के कुछ भागों पर अधिकार होने से यह आन्दोलन और अधिक शक्तिशाली हो गया। जो धनी किसान थे जिनके पास जमा करने व कालाबाजारी में बेचने के लिए अनाज था, उन्हें भी कोई समर्थन प्राप्त नहीं हुआ। इसके विरुद्ध किसान सभा ने एकजुट होकर एक नये आत्म-विश्वास के साथ विरोध किया। इसके अलावा संथाल आदिवासियों व मैमनसिंह जिले में हरिजनों ने भी इस आन्दोलन में भाग लिया, लेकिन अन्त में साझे की खेती करने बाले काश्तकारों की आर्थिक सौदेबाजी में दो कारणों से परिवर्तन आया :

1. अकाल के समय सबसे अधिक मृत्यु बँटाईदारों की हुई क्योंकि ये दूसरों की तुलना में शारीरिक रूप से कमजोर थे तथा गरीबी के कारण इस वर्ग के लोग शहरों में नौकरी हेतु चले गये थे या अन्य धन्धों को अपनाने लगे थे। बँटाईदारों की संख्या में कमी आई और जो बँटाईदार शहर चला गया, वह वापस गाँव नहीं आया।
2. जापानियों का पूर्वी बंगाल व असम पर आक्रमण होने से यहाँ के लोगों के लिए नौकरी के द्वार खुल गये। यद्यपि किसान सभा इनका सहयोग कर रही थी, लेकिन अन्य वर्गों का समर्थन नहीं मिलने से यह आन्दोलन असफल हो गया।

कांग्रेसी नेताओं द्वारा कम्यूनिस्ट पार्टी व अन्य किसानों को यह आश्वासन दिया गया कि उनकी माँगों की पूर्ति शीघ्र की जायेगी और उनका शोषण रोका जायेगा। तब इस आन्दोलन के नेताओं ने कांग्रेस पर भरोसा करके इस आन्दोलन की गति को कम कर दिया।

आन्दोलन की असफलता के दो मुख्य कारण थे :

1. जापान से युद्ध के पश्चात् सरकार का दृष्टिकोण गरीब किसानों के प्रति बदल गया। सरकार ने इन्हें निरूत्साहित किया। जमाखोरों के विरुद्ध कोई महत्वपूर्ण समर्थन प्रकट नहीं किया, क्योंकि युद्ध के कारण धन की कमी हो गई थी। गाँव में सीमित संख्याके कारण यह आन्दोलन प्रभावशाली रूप से नहीं चल सका।

2. इस आन्दोलन का नेतश्त्व अधिकतर हिन्दुओं के पास था जबकि बँटाईदार अधिकतर मुसलमान थे। विभाजन के बाद यह इलाका पाकिस्तान में चला गया।

यह आन्दोलन काफी समय तक चला फिर भी सफल नहीं हुआ।

तेभाग आन्दोलन स्पष्टत: सामंतवाद का विरोधी था, लेकिन इसका तात्कालिक उद्देश्य काश्तकारी प्रणाली में बदलाव लाना नहीं, बल्कि इसी प्रणाली के लगान बाले ढाँचे के तहत खेतिहरों को उत्पादन में ज्यादा हिस्सा दिलाना था। इस तरह यह एक अधूरा आन्दोलन था लेकिन इसके व्यापक रूप, हिंसक वारदातों तथा जोतने वाले को भूमि देने के नारों में काश्त प्रणाली की समाप्ति के बीज निहित थे। इसलिए राज्य को इस हिंसक आन्दोलन को दबाने में ज्यादा शक्ति लगानी पडी। यह आन्दोलन अहिंसा और सत्याग्रह के गाँधीवादी तरीकों से चलाए गए कृषक आन्दोलनों से अलग था लेकिन गाँधी जी ने तेभाग की माँग का समर्थन किया था।

10.6 तेलंगाना आन्दोलन 1948-52

यह भारत के किसानों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण आन्दोलन है। यह आन्दोलन 1946 में हैदराबाद राज्य के नलगौड़ा जिले में प्रारंभ हुआ था। इस पर हैदराबाद के निजाम का शासन (अंग्रेजी सरकार के तहत) था। इसके बाद यह आन्दोलन राज्य के वारंगल तथा बिहार के जिलों में भी फैल गया। बाद में यह आन्दोलन संमूर्ण तेलंगाना क्षेत्र में फैल गया। इस क्षेत्र के किसानों की सबसे बडी माँग यह थी कि उनके ऊपर जो कर्ज थे, उनसे उन्हें मुक्त कर दिया जाये। इस आन्दोलन के समर्थक पिछड़ी जातियों के किसान थे तथा ये कुलीन वर्ग के खिलाफ थे जिसमें नवाब व देशमुख प्रमुख थे जो इन किसानों का बराबर शोषण करते थे। किसान इस शोषण की समाप्ति हेतु आन्दोलन कर रहे थे। नवाब व देशमुखों द्वारा अकाल के समय किसानों को ऋण दिया गया था। अकाल के कारण किसान ब्याज व ऋण वापस नहीं दे सकते थे। आन्दोलन के सूत्रपात का यही कारण था कि अकाल में किसानों को ऋणमुक्त कर दिया जाये।

हमजा अल्वी ने तेलंगाना आन्दोलन को भारत का एक बहुत बडा आन्दोलन कहा है। इस संदर्भ में उन्होंने कहा है कि अपनी प्रकृति और राजनैतिक उद्देश्यों में यह आन्दोलन क्रांतिकारी था।

1947 के इस आन्दोलन में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने भाग लेना प्रारंभ किया। कमुनिस्टों की सहायता से किसानों ने अपने पृथक् राज्य की स्थापना की और 15000 वर्गमील के क्षेत्र पर लगभग 40 लाख लोगों पर किसानों के संगठन ने राज्य किया। हथियारबन्द किसानों की यह सरकार 1950 तक बनी रही। अभी भी यह क्षेत्र कमुनिस्ट पार्टी का गढ़ समझा जाता है।

इस आन्दोलन में करीब 5000 किसानों की गुरिल्ला सेना थी। किसानों ने भू-स्वामियों और स्थानीय अधिकारियों को या तो जान से मार डाला या भूमि से खदेड़ दिया तथा इस पर कब्जा करके उसका पुन: वितरण किया और अपना (किसानों का) शासन कायम किया, जिसे सोवियत कहा गया।

तेलंगाना में इतने बडे किसान आन्दोलन के पीछे कुछ विशेष कारण थे, जिनकी वजह से यह आन्दोलन क्रांतिकारी बना:

1. सबसे पहले 1946 में हैदराबाद राज्य की राजनीतिक स्थिति बडी खराब थी। स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ-साथ हैदराबाद राज्य का अस्तित्व खतरे में पड़ गया था क्योंकि इस राज्य का विलीनीकरण 'भारतीय संघ' में नहीं हुआ था। इसलिए यह राज्य एक प्रभुत्वशाली राजनीतिक मामला बन गया।
2. हैदराबाद सबसे अधिक विशाल व धनी राज्य था। इसका शासक निजाम था। इस राज्य की बहुसंख्यक आबादी हिन्दु थी। हिन्दु स्वाभाविक रूप से भारत के साथ मिलना चाहते थे जबकि हैदराबाद के सामन्त जिनमें हिन्दू व मुसलमान दोनों ही थे एक स्वतंत्र हैदराबाद की कामना करते थे। इसी प्रकार हैदराबाद के मुसलमानों का मध्यम वर्ग भी भारत के साथ नहीं मिलना चाहता था। इन्होंने अपनी संगठित सेना 'रजाकार' बनाई ताकि वे निजाम के नेतृत्व में हैदराबाद की पृथक्ता के लिए लड़ सके, लेकिन जब तेलंगाना किसान आन्दोलन प्रारंभ हुआ तो निजाम ने 'रजाकारों' का उपयोग किसानों के वीरुद्ध किया।

तेलंगाना आन्दोलन के नेतृत्व ने हैदराबाद को भारत में मिलाये जाने का समर्थन किया। इस कारण सम्पूर्ण राष्ट्र की सहानुभूति इस आन्दोलन को प्राप्त हो गई, लेकिन बाद में किसानों को यह अहसास हुआ कि हैदराबाद यदि भारत में मिल गया तो भारत इस किसान आन्दोलन को दबा देगा। इस परिस्थिति में किसानों ने निजाम को समर्थन दिया और कहा कि हैदराबाद को एक स्वतंत्र राज्य की तरह काम करना चाहिए। अब कमुनिस्ट पार्टी व किसान दोनों ही भारतीय सेना से लडने लगे। अब इस आन्दोलन का सम्बन्ध उन शक्तियों के विरुद्ध नहीं रहा जो पहले था। धीरे-धीरे इस आन्दोलन ने राष्ट्रव्यापी आन्दोलन का रूप धारण कर लिया। इसने एक बहुत बड़ा राजनीतिक भ्रम उत्पन्न किया व आन्दोलन के प्रारंभ होने से राष्ट्रीय भावना जो कि एक शक्तिशाली कारक थी, अब इसके पतन का कारण बन गई।

यह किसान आन्दोलन पहले तो सफलतापूर्वक चला, क्योंकि इसने सामन्तों का विरोध किया लेकिन जब किसान भारत के खिलाफ हो गये, तब उसे जो समर्थन व सहानुभूति प्राप्त थी, वह भी कम हो गई। यह आन्दोलन बड़े किसानों की गिरफ्त में आ गया। अब इस आन्दोलन में बिखराव आ गया। इस आन्दोलन की बुनियाद स्थानीय थी और इसको संगठित करने में कम्यूनिस्ट पार्टी का बहुत बडा हाथ था।

इस आन्दोलन ने प्रारंभ में समर्थन प्राप्त किया क्योंकि इसकी माँगे विस्तृत आधार पर थी तथा इसने अपना ध्यान मध्यमवर्गीय किसानों के साथ-साथ निम्नवर्गीय किसानों की तरफ भी दिया लेकिन जब किसानों ने सोवियत स्थापित किये तथा भूमि का पुनर्वितरण किया तब किसानों के विभिन्न वर्गों में संघर्ष उभरकर सामने आया। कुछ साम्यवादियों ने यह तर्क दिया कि तेलंगाना आन्दोलन के आधार या नींव को सावधानी से तैयार नहीं किया गया था। यह एक बिना विचार के की गई अनियोजित योजना थी, अत: बिखर गया।

जिन कारणों ने गुरिल्ला युद्ध का समर्थन किया इन्हीं कारणों ने तेलंगाना आन्दोलन के उदय का समर्थन भी किया। तेलंगाना में ऐसी जनजातियाँ हैं, जिनमें एकता की भावना व लडने की आकांक्षा पाई जाती है। इन्होंने तेलंगाना आन्दोलन में अपनी पूरी भागीदारी दी।

तेलंगाना आन्दोलन में क्रांतिकारी उद्देश्यों वाले सामाजिक आन्दोलन के सभी लक्षण थे। इसने सामंती जागीरदारी प्रथा को मिटाने का प्रयास किया। साथ ही इस आन्दोलन ने जनता के अधिकारों वाले ग्रामीण सोवियत जैसे संगठन बनाने का भी प्रयास किया। इसने सामंती निरंकुश तंत्र के प्रतीक निजाम के राज के खिलाफ भी हथियार उठाये। रजाकारों और जागीरदारों की हिंसक कार्यवाहियों का मुकाबला करने के लिए इस आन्दोलन द्वारा गैर-संस्थागत उपाय भी अपनाए गए। अन्ततोगत्वा यह आन्दोलन असफल हुआ जिसके कई कारण थे, वे हैं:

1. यह आन्दोलन किसानों द्वारा संचालित नहीं था। साथ ही प्रारंभ से ही इस आन्दोलन ने हिंसात्मक गतिविधियों का सहारा लिया जिससे जनसमर्थन कम हो गया और हम्जा अल्वी ने लिखा कि कम्यूनिस्ट पार्टी का रजाकार से गठबन्धन होने के कारण तेलंगाना आन्दोलन को अन्ततोगत्वा समाप्त होना पड़ा।
2. इस आन्दोलन से मध्यमवर्गीय किसानों ने अपना समर्थन वापस ले लिया। प्रारंभ में मध्यमवर्गीय किसानों व मजदूरों ने मिलकर यह आन्दोलन चलाया था लेकिन जब किसान सोवियत की स्थापना हुई तो इससे किसानों में बिखराव आ गया। हड़पी गयी जमीनों का बँटवारा भी न्यायोचित तरीके से नहीं हुआ। इससे किसानों में नाराजगी आ गयी और आन्दोलन असफल हो गया।

तेभाग और तेलेंगाना, दोनों ही सामंतवादी विरोधी आन्दोलन थे, परन्तु तेलंगाना आन्दोलन ने सामंती सत्ता का ही नहीं, बल्कि राज्य सत्ता का भी मुकाबला किया।

10.7 नक्सलबाड़ी आन्दोलन : 1967-71

1967 में पश्चिमी बंगाल के उत्तरी छोर पर नक्सलबाड़ी से शुरु हुई खूनी क्रांति ने एक नये विचार, नई राजनीति की शुरूआत की। बाद के सालों में इसे नक्सलबाड़ी कहा गया। यह आन्दोलन दार्जिलिंग जिले के सिलीगुड़ी सब-डिवीजन में परिपक्व रूप में सामने आया। यह आन्दोलन सामन्ती शोषण, अन्याय और भूमि सुधारों को लागू न किये जाने के खिलाफ ही था। पचास के दशक में कम्यूनिस्ट पार्टी की कृषक समिति जमींदार वर्ग के खिलाफ निरन्तर संघर्षरत थी। इस समिति ने किसानों के विरुद्ध हो रहे अत्याचारों के खिलाफ आवाज उठाई, जिसमें जमींदार कभी भी किसानों को बे-दखल कर सकता था और उनसे गैर-कानूनी कर वसूल किया जाता था। समिति ने किसानों को सलाह दी कि वे लगान नहीं जमा करवायें।

पश्चिमी बंगाल की उस समय मुख्य समस्या सामन्ती व्यवस्था थी, क्योंकि भूमि का स्वामित्व कुछ ही लोगों के हाथ में केन्द्रित था। जमींदार मनमाना कर व लगान वसूल करते थे। इस संदर्भ में माओ ने अपनी लाल किताब में लिखा है कि "अगर देहातों को शोषण व अत्याचार से मुक्त करना है तो स्थानीय आधार पर संगठित होकर वहाँ सशस्त्र क्रांति करनी होगी।" गाँव के कुछ मझले किसानों के सिर काटकर क्रांति का प्रारंभ किया गया। तेलंगाना में विफल कम्यूनिस्ट क्रांति की पीडा भोग रहे आन्ध्र प्रदेश के आदिवासी-बहुल श्री काकुलम जिले में नक्सलवाद तेजी से फैला।

1969 में भारत के 40 वर्ष के इतिहास में (1) केन्द्र तथा राज्यों में भारी अनिश्चितता थी। (2) राजनैतिक दलों की विश्वसनीयता कम हो रही थी। उन दिनों पलकुल्ली (आन्ध्र प्रदेश)

में एक महत्वपूर्ण दस्तावेज पर सहमति हुई, जिसमें कहा गया कि क्रांति के लिए व्यक्ति-हत्या आवश्यक है लेकिन कुछ लोग इस तर्क से असहमत थे।

बंगाल में नौजवानों को बेकारी, बिहार में जाति तथा भूमि के नाम पर कमजोर वर्ग के लोगों का दमन तथा आन्ध्र प्रदेश में आदिवासियों के शोषण से नक्सलवाद की उत्पत्ति में अपना योगदान दिया।

एक ओर मार्क्सवादी विचारधारा वाली सरकारें संहार कर रही थी तथा दूसरी ओर उनके नेता नक्सली रोष के शिकार बन रहे थे। चीन ने नये आंदोलन को समर्थन दिया। उसकी राय में भारत में जनवादी शासन लाने के लिए नक्सलवादी आन्दोलन आवश्यक है। बंगाल में कई निर्दोष लोग नक्सली हिंसा के शिकार हुए। 1974 में नक्सली आन्दोलन धीमा पड़ा: क्योंकि बहुत से अहिंसक आन्दोलन प्रारंभ हो गये थे। आपातकाल की समाप्ति के बाद अनेक नक्सलवादी नेताओं ने हिंसा त्यागने का फैसला किया।

देश के कई इलाकों में नक्सलवादियों ने अपहरण तथा हिंसा की। बिहार के जहानाबाद हत्याकाण्ड का विवाद चल ही रहा था। 1987 में नक्सलवादियों ने 400 से ज्यादा वारदातें की जिनमें से दो-तिहाई सिर्फ बिहार व आन्ध्र प्रदेश में हुई। अकेले आन्ध्र प्रदेश में 50 से ज्यादा नक्सली तथा 20 पुलिसकर्मी मारे गये तथा कई आई.ए.एस. अफसरों का अपहरण हुआ।

उपुर्यक्त व्याख्या के बाद यह प्रश्न उठता है कि नक्सलवादी आन्दोलन का उद्भाव व विकास किस प्रकार हुआ। इस संदर्भ में भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी के उप-महासचिव इन्द्रजीत गुप्त का मानना है कि : "यह कम्यूनिस्ट पार्टियों की दूर की उपज है।" जब मार्क्सवादियों में से ही निकले ऐसे लोगों की नीतियाँ व कार्यक्रम स्वीकार नहीं थे। मार्क्सवादियों में से ही निकले ऐसे लोगों को नक्सलवादी कहा जाता है। उस वक्त उनका नाम था, मार्क्सवादी-लेनिनवादी। उन्होंने सोचा था कि भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी से अलग होकर वे अस्तित्व में आ रहे हैं कि वे शायद कोई क्रांतिकारी रास्ता अपनाएंगे, लेकिन उनका भ्रम दूर हो गया।

नक्सलवाद का मूल स्रोत साम्यवादी दलों की असफलता और साम्यवादी दलों में अति विचार वाले युवा लोगों के संदर्भ में देखा जा सकता है। नक्सलवादी आन्दोलन पश्चिमी बंगाल के एक छोटे से इलाके में प्रारंभ हुआ। बाद में नक्सलवादी तरीकों से जो अन्य आन्दोलन हुए, उन्हें भी नक्सलवादी आन्दोलन के नाम से पुकारा गया। नक्सलवादी आन्दोलन से सम्बन्धित प्रारंभिक घटनाएँ पश्चिमी बंगाल के एक छोटे से क्षेत्र में घटीं। इन घटनाओं का सारा संदर्भ इस क्षेत्र की विशिष्ट सामाजिक आर्थिक समस्याओं से था। इस क्षेत्र में बहुत प्राचीनकाल से जमीन जोतदार लोगों के हाथों में थी। ये जोतदार छोटी-छोटी जमीनों के मालिक थे। इन्होंने अपनी जमीन को बँटाई पर लोगों को दे रखी थी जिसे बर्गादार, अधियार या बँटाईदार कहा जाता था। इन दोनों के बीच सामाजिक आर्थिक सम्बन्ध शोषण और धोखाधड़ी पर आधारित थे। अवस्था कुछ इस प्रकार की थी जिसमें जोतेदार चाहे जब जमीन को एक से हटाकर दूसरों को दे सकता था यानी किसानों को बे-दखल कर सकता था। इसी अवस्था में राजनीतिक दृष्टि से कम्यूनिस्ट पार्टी का बहुत जोर था और बहुत पहले से किसान सभा के माध्यम से साम्यवादियों ने अपना प्रभाव स्थापित कर रखा था। नक्सलवादी क्षेत्र विशेष रूप से आदिवासी क्षेत्र हैं और इस क्षेत्र में चाय के बागान होने के कारण उसमें बाहर से आये लोग भी काम करते थे।

साम्यवादियों के लिए सशस्त्र संघर्ष कोई नई बात नहीं है। 1939 में इसी क्षेत्र में जोतेदारों के विरुद्ध बहुत बड़ा संघर्ष हुआ। भारत की आजादी के बाद आन्ध्र प्रदेश के तेलंगाना क्षेत्र में 1950 में साम्यवादियों द्वारा सशस्त्र संघर्ष प्रारंभ किया गया था। इसी संघर्ष के परिणामस्वरूप भू-दान, ग्रामदान तथा सर्वोदय की विचारधारा विकसित हुई थी। 1959 में जब पश्चिमी बंगाल के मुख्यमंत्री डॉ. बी.एस. राय थे, तब भी बँटाईदारों, जिसमें अधिकांशत: आदिवासी थे, ने व्यवस्था के विरुद्ध संषर्घ छेड़ा था। यह सारा संघर्ष भूमि की जोत तथा उसकी सीमा में बेईमानियों से सम्बन्धित था, लेकिन 1907 में जो संघर्ष का स्वरूप उभरकर आया, वह इस आन्दोलन का विकटतम स्वरूप था और इसे इस क्षेत्र की सामाजिक आर्थिक पृष्ठभूमि में विस्फोटक स्थिति कहा जा सकता है।

इस आन्दोलन के उभरने के कई कारण थे :

1. इस क्षेत्र की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में शोषण बहुत अधिक था और लोगों में इस शोषण के विरुद्ध संघर्ष करने की चेतना भी व्याप्त थी।
2. इस क्षेत्र में साम्यवादियों का प्रभाव बहुत पहले था और साम्यवादी यह सोचते थे कि यहाँ की स्थितियों में वे प्रभावशाली ढंग से क्रांति की ऐसी संरचना कर सकते हैं, जिससे साम्यवादी समाज की स्थापना संभव हो सकेगी।
3. साम्यवादी दलों के लिए 1953 में रूस ने एक परिपत्र भेजा था जिसमें कहा गया था कि भारत जैसे देश में क्रांति के लिए कृषक-मजदूरों का एक ऐसा संगठन बनाना पड़ेगा जो क्रांति की संरचना में सहयोग दे सके। ग्रामीण क्षेत्रों में उग्रवादी शक्तियों को संगठित करना पड़ेगा और कृषकों की भलाई के लिए जमीन प्राप्त कर उन्हें वितरित करना पडेगा।
4. साम्यवादी दलों को और विशेष रूप से साम्यवादी दलों के उग्रवादी युवा लोगों को यह विश्वास हो गया था कि इस देश में क्रांति का समय आ गया है तथा तत्काल क्रांति कर देनी चाहिए।
5. भारतीय स्वाधीनता के 25 बर्ष बाद तक भी यद्यपि भूमि-सुधार की बात चलती रही पर ठोस रूप से कोई निकर्ष सामने नही आया। परिणामस्वरूप जितने लोग प्रभावित थे, उन सब ने इस अव्यवस्था के विरुद्ध असंतोष के कारण इस आन्दोलन में भाग लेना स्वीकार कर लिया था।

इस प्रकार यह नक्सली आन्दोलन मुख्य रूप से तीन मान्यताओं पर आधारित था :

1. जब किसानों पर अत्याचार, अन्याय व दमन होता है तो उनमें हिंसात्मक विद्रोह की चेतना जाग्रत हो जाती है।
2. किसानों का कोई भी विद्रोह सशस्त्र छापामार युद्ध की रणनीति से ही सफल हो सकता है।
3. किसान आन्दोलन का एक लक्ष्य यह भी था कि किसानों के अपने नेतृत्व द्वारा देश की सत्ता पर अपना कब्जा स्थापित करना।

इन तीन मान्यताओं को लेकर किसानों के इस आन्दोलन में मनोबल का विकास हुआ। सभी किसान इस आन्दोलन के साथ अपने-आप को जोड़ने लगे।

आन्दोलन के चरण

इस सम्पूर्ण आन्दोलन को हम तीन चरणों में समझ सकते हैं :

1. प्रथम चरण : प्रथम चरण में आन्दोलनकर्ताओं ने लोगों को संगठित करना प्रारंभ किया और जुलूस आदि के माध्यम से प्रदर्शन करने प्रारंभ किये। ये लोग माओ समर्थक नारे लगाते थे और जनता के सामने प्रजातंत्र की स्थापना को प्रस्तुत करते थे। इस आन्दोलन ने भूमिहीन किसानों की चेतना को जाग्रत करने का प्रयास किया।
2. दूसरा चरण : इसमें इन्होंने भूमि पर किसान सभा के नाम से कब्जा करना प्रारंभ किया। किसान सभा की जनसमितियों ने अन्य के भण्डारों को लूटना प्रारंभ किया। इस संदर्भ में बार-बार यह कहा जाता था कि यह एक ग्रामीण समस्या है, जिसका निदान स्वयं ग्रामीण संगठन कर रहे हैं। इस अवधि में किसान सभा के कार्यकर्ताओं ने बहुत से जोतेदारों की हत्याएँ भी की। अत: यह आन्दोलन निम्न वर्ग द्वारा व्यवस्था में परिवर्तन करने का प्रयास था।
3. तीसरा चरण : इस अवधि में पश्चिमी बंगाल में शासन कम्यूनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) के हाथों में था और कानून के तोड़ने से इस दल की समस्या विचित्र हो गई थी। इसी कारण समर्थक होते हुए भी सरकार ने नक्सलवादी आन्दोलन दबाने की कोशिश की। इसीलिए नक्सलवादी समर्थकों ने अपना सम्बन्ध कम्यूनिस्ट पार्टी से तोड दिया और एक तीसरे कम्यूनिस्ट दल की स्थापना की, जिसका नाम कमुनिस्ट पार्टी ऑफ इण्डिया रखा गया।

नक्सलवादी आन्दोलनकर्ताओं ने आन्दोलन चलाने के लिए अपना अलग अस्तित्व स्थापित कर लिया और सारे भारत में जहाँ भी उन्हें अवसर मिला, इस प्रकार के आन्दोलन को चलाने की चेष्टा की। इसलिए इस आन्दोलन के संदर्भ में जो एक मुख्य बात कही जा सकती है,वह है, नई कम्यूनिस्ट पार्टी की स्थापना।

सारे आन्दोलन के लिए नक्सलवादियों ने चार प्रमुख उद्देश्यों को सामने रखा :

1. भूमिपतियों के आर्थिक-सामाजिक और राजनैतिक अस्तित्व को समाप्त करना और उनके स्थान पर साम्यवादियों व गरीब किसानों का अधिकार करना।
2. भूमिपतियों का भय स्थापित करना, जिससे निम्न वर्ग के शत्रुओं का हौसला कम हो सके।
3. सशस्त्र संघर्ष का नेतृत्व किसानों के सबसे गरीब वर्ग को प्रदान करना, जिसके बारे में यह कहा जाता था कि उनके हृदय में उच्च वर्ग के लिए सबसे अधिक घृणा है।

आन्दोलन की रणनीति

1. गाँव के मामले में सारे निर्णयों के लिए कृषक समितियों का निर्माण।
2. संगठन बनाना और जोतेदारों के एकाधिकार की समाप्ति तथा कृषक समिति द्वारा भूमि का पुनर्वितरण।

नक्सलवादी आन्दोलन की कमजोरियाँ

1. संभवत नक्सलवादियों का यह विश्वास गलत सिद्ध हुआ कि जैसे ही वे संघर्ष प्रारंभ करेंगे, वैसे ही भारी संख्या में लोग उनका समर्थन करेंगे। यद्यपि उन्हें कुछ वर्गों से समर्थन प्राप्त हुआ पर वे समस्त शोषित वर्गों का समर्थन प्राप्त नहीं कर पाये।

2. जिस तरह से हिंसात्मक स्वरूप नक्सलवादी आन्दोलन ने लिया, वह भारतीय समाज के मूल्यों के विरुद्ध था और इसलिए लोगों का जनसमर्थन इस आन्दोलन को प्राप्त नहीं हुआ।
3. यद्यपि इस आन्दोलन में जमीन के पुनर्वितरण को तो ध्यान में रखा गया, लेकिन तात्कालिक आर्थिक आवश्यकताओं की ओर इस आन्दोलन ने ध्यान नहीं दिया। फलस्वरूप जो जनसमर्थन इस आन्दोलन को प्राप्त होना चाहिए था वह प्राप्त नहीं हुआ।
4. आन्दोलन कुछ ही क्षेत्र में सिमट कर रह गया।
5. नक्सलवादी आन्दोलनकर्ताओं ने राज्य की शक्तियों को बहुत क्षीण समझ लिया और अपनी ताकत को बहुत बड़ी समझा, परिणामस्वरूप इस गलत चिन्तन ने उनकी स्थिति को बिगाड़ दिया।
6. अपनी उग्रवादिता के कारण साम्यवादी दलों का जो समर्थन उन्हें पहले प्राप्त था, बाद में उसी समर्थन ने नक्सलवादी आन्दोलन का विरोध करना प्रारंभ कर दिया।

नक्सलवादी आन्दोलन की उपलब्धियाँ

इस आन्दोलन के फलस्वरूप किसानों की समस्याओं की तरफ सरकार का ध्यान आकर्षित हुआ तथा भूमिहीन किसानों व जमीदारों के बीच जो खाई उभरकर सामने आयी, उसे पाटने का प्रयास प्रारंभ हुआ।

इस आन्दोलन ने शोषित वर्गों में अपने अधिकारों के प्रति चैतन्यता ला दी और वे अपने न्यायोचित अधिकारों की माँग करने लगे। अधिकार नहीं मिलने की स्थिति में हिंसात्मक विद्रोह का रास्ता अपनाया।

10.8 सम-सामयिक कृषक आंदोलन

आजादी के बाद भारत में कई किसान आन्दोलन हुए। पिछले तीन दशकों से भारतीय किसान सारे देश में आन्दोलनों के साथ जुडे हुए हैं। इन आन्दोलनों का स्वरूप मुख्यरूप से क्षेत्रीय है। राष्ट्रीय स्तर पर कोई भी किसान आन्दोलन अभी तक उभरकर नहीं आया है, जो सम्पूर्ण राष्ट्र के किसानों की समस्याओं का प्रतिनिधित्व कर सके। तमिलनाडु के कोयम्बटूर जिले में सन् 1969-70 में राज्य-स्तरीय किसान संगठन बना, जिसका नाम तमिलनाडु विवासैयगल संगम था। इस आन्दोलन के नेता सी. नारायणस्वामी नायडू थे। इस संगठन के माध्यम से किसानों ने भूख हड़ताल व धरना दिया, जिनकी मुख्य माँगे बिजली की दरें घटाना तथा ऋण वसूली स्थगित करने के साथ जुड़ी हुई थी। सन् 1972 में विवासैयगल संगम ने निम्न माँगों को लेकर आन्दोलन चलाया। ये माँगे थी - (1) बिजली शुल्क में कमी की जाये, (2) संस्थागत ऋणों को माफ किया जाये. (3) नये ऋणों का विस्तार किया जाये, (4) कृषि उत्पादन मूल्यों का निर्धारण लागत के आधार पर किया जाये, (5) किसानों को डीजल की आपूर्ति की जाये, (8) बिजली की आपूर्ति, तथा (7) फसल व पशु बीमा किया जाये।

इन माँगों के समर्थन में किसानों ने हिंसात्मक गतिविधियों का सहारा लिया, लेकिन आगे चलकर सरकार ने पुलिस बल का प्रयोग किया और अनेक कार्यकर्ताओं को गिरफ्तार किया। अन्त में सरकार ने किसानों की समस्याओं को समझते हुए कुछ फैसले लिये वे हैं: बिजली शुल्क में कमी की गयी और नगदी फसलों पर अधिभार की समाप्ति की गयी।

इसी प्रकार पंजाब में सन् 1972 में गेहूँ के लाभकारी मूल्य को लेकर आन्दोलन शुरु हुआ। सन् 1980 में भारतीय किसान यूनियन का जन्म हुआ, जिसने इस माँग को जोरदार तरीके से उठाया। सन् 1979 में महाराष्ट्र में प्याज उत्पादकों का आन्दोलन शरद जोशी के नेतृत्व में शेतकारी संगठन के नाम से शुरु हुआ। आन्दोलनों की श्रृंखला कर्नाटक में भी देखी जा सकती है, जहाँ कर्नाटक राज्य रैयत संघ का उदय हुआ। सन् 1980 में इस आन्दोलन का नेतृत्व प्रो. एम.डी. नन्जूदा स्वामी ने किया। इधर उत्तर भारत के हरियाणा राज्य में सन् 1980 में भी भारतीय किसान यूनियन का गठन हुआ जो किसानों की समस्याओं हेतु संघर्षरत रहा। बिहार में भी बोधगया आन्दोलन संघर्षवाहिनी द्वारा चलाया गया जो थोड़े समय के लिए काफी प्रभावशाली रहा। पश्चिमी उत्तर प्रदेश में महेन्द्र सिंह टिकैत द्वारा भी आन्दोलन चलाया गया।

10.8.1 **उत्तर प्रदेश व महाराष्ट्र में कृषक आन्दोलन**

वर्तमान समय में महाराष्ट्र में शरद जोशी व उत्तर प्रदेश में महेन्द्र सिंह टिकैत किसानों का नेतृत्व कर रहे हैं। टिकैत ने फरबरी, 1988 में जो जन आन्दोलन छेडा, उसने समूचे देश में किसानों को अपनी ओर आकृष्ट किया। इन्होंने किसानों के हितों की रक्षा हेतु 35 माँगों को प्रस्तुत किया। इनमें से 11 माँगे तो बिजली से ही सम्बन्धित थी, उन्हें राज्य सरकार को प्रेषित कर दिया लेकिन निर्धारित समय तक राज्य सरकार ने कोई जवाब नहीं दिया, तब टिकैत ने 27 जनवरी, 1988 से मेरठ कमिश्नरी के घेराव की योजना बना ली। लेकिन इन माँगों में किसानों की सबसे प्रमुख माँगे 'बिजली व पानी की तमाम देय बकाया राशि रद्द की जाये, गन्ने का मूल 35 रूपये प्रति क्विंटल निश्चित किया जाये, बिजली व खाद कम दरों पर नियमित रूप से मुहैया कराई जाये।

किसान अपनी माँगों को मनवाने हेतु दिल्ली गये, जहाँ 25 से 31 अक्टूबर तक वोट क्लब पर उत्तर प्रदेश हरियाणा व पंजाब के किसानों ने धरना दिया। सरकार ने किसानों को वोट क्लब से हटाने का प्रयास किया लेकिन सरकार सफल नहीं हुई। अन्त में कोई समझौता किसानों से नहीं हो पाया, तब टिकैत ने स्वत: धरना वापस ले लिया और फैसला किया कि बकाया सरकारी राशि का भुगतान नहीं किया जाये।

टिकैत ने किसानों को अपने अधिकारों के प्रति सचेत किया तथा सभी राजनैतिक दलों व अन्य संगठनों को अपनी ओर आकृष्ट किया, उससे उन्हें कई राजनैतिक दलों का समर्थन भी प्राप्त हुआ। टिकैत द्वारा संचालित आन्दोलन की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि इसने देश की राजनीति से छुआछूत का बर्ताव किया। यद्यपि इस आन्दोलन ने किसानों की ताकत को तो प्रदर्शित किया, लेकिन पूँजीवादी व्यवस्था ने अपने पाँव पसारने प्रारंभ किये। इसने एक ओर सरकार को नियंत्रित करना शुरू किया और दूसरी ओर कृषि को अपने अधीन करने का प्रयास किया। इसलिए किसानों ने पूँजीवाद को समाप्त करने के लिए विद्रोह का रास्ता अपनाया तथा लाभकारी मूल्य प्राप्त करने के लिए कदम आगे बढाये।

महाराष्ट्र में भी शरद जोशी के नेतृत्व में किसान आन्दोलन चल रहा है। इन्होंने शेतकारी संगठन के माध्यम से आन्दोलन का परिचालन किया। महाराष्ट्र में किसान आन्दोलन को लेकर पिछले वर्षों में काफी हाय-तौबा मचती रही और महाराष्ट्र की राजनीति में किसानों को एक ताकत के रूप में देखा जाने लगा। शरद जोशी ने किसानों को एक शक्ति के रूप में स्थापित ही नहीं किया, अपितु टुकडों में बिखरे दलों को किसानों की माँगों पर एक मंच पर लाने का कार्य भी किया। इस आन्दोलन की प्रमुख माँग है : किसानों को उत्पादन की उचित कीमत मिले। सरकार उत्पादन को स्वयं खरीदे। महाराष्ट्र में कपास का जो कुल उत्पादन होता है, उसमें से सिर्फ 20 प्रतिशत ही सरकार खरीदती है, बकाया 60 प्रतिशत कपास निजी व्यापारी खरीदते हैं, अपने हिसाब से उसकी कीमत देते हैं और बेचने के भी उनके अपने तरीके होते हैं।

इस प्रकार असंतोष इन किसानों में मौजूद था। बाद में शेतकारी संगठन ने बकाया राशियों की वसूली रद्द करने की माँग को लेकर आन्दोलन चलाया। "महाराष्ट्र, गुजरात व मध्य प्रदेश के हजारों किसानों ने 18 अप्रैल, 1988 को जलगाँव में शेतकारी संगठन द्वारा आयोजित एक विशाल रैली में कर्जदारी से अपनी मुक्ति की घोषणा की। यह फैसला किया गया कि कर्ज वसूली के लिए गाँवों में आने वाले अधिकारियों का घेराव करके उनकी कार्यवाहियों का प्रतिरोध किया जाये।" ये बकाया कर्ज माफ कराने का मुख्य आधार पिछले बार वर्षा से पड़ रहा सूखा था। यह ऐसा मुद्दा बन गया जो टाला नहीं जा सकता था। इस संदर्भ में शरद जोशी का कहना है कि करीब दो लाख किसान दिवालिया होने के कगार पर हैं। शरद जोशी ने महाराष्ट्र के कोल्हापुर में 2 अक्ट्रबर 1988 को विशाल रैली का आयोजन किया और सरकारी चीनी मिल के दरवाजे पर सरकार के द्वारा वितरण के लिए वसूली की चीनी की निकासी को रोकने के लिए सत्याग्रह और किसानों के द्वारा कपास उगाने के हितों के विरुद्ध सरकार द्वारा घोषित कपड़ा नीति का विरोध किया गया। इसके लिए दो सूत्रीय कार्यक्रम की घोषणा की। इसके साथ ही ऋण मुक्ति के लिए भी आन्दोलन को तीव्र करने की घोषणा की। इसका परिणाम यह हुआ कि महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री ने 217 करोड रुपये के ऋण माफ कर दिये जाने की घोषणा की। इससे करीब 37 लाख किसानों को लाभ मिल रहा है।

इसी प्रकार सिंचाई कर में रियायतें और सिंचाई योजनाओं से अवैध पानी लेने के जुर्माने और देरी शुल्क से मुक्ति की घोषणा की गई है।

अत: वर्तमान परिप्रेक्ष्य में किसानों को संगठित करने और उन्हें उनके वाजिब हक दिलाने के लिये उक्त दो प्रमुख आन्दोलन चल रहे हैं, लेकिन इन आन्दोलनों के नेताओं की कार्य शैली व वैचारिकी में काफी मतभेद है। इन दो बडे समकालीन किसान नेताओं की सोच में जमीन-आसमान का अन्तर है। एक समय था जब दोनों नेताओं ने एक ही मंच पर खड़े होकर आन्दोलन का बिगुल बजाया। महेन्द्र सिंह टिकैत यह चाहते हैं कि किसान आन्दोलन में किसी प्रकार की राजनैतिक दखल न हो। शरद जोशी नेहरुवादी आर्थिक ढाँचे के हिमायती हैं। इनका मानना है कि इसी के माध्यम से खेती को आधुनिक और व्यावसायिक स्तर पर सफल बनाया जा सकता है। शरद जोशी कृषि उत्पादों के लाभकारी मूल्य के साथ-साथ सत्ता में भागीदारी भी चाहते हैं। तभी किसानों की माँगों को सत्ता समझेगी। टिकैत का कहना है कि किसान

आन्दोलन को राजनीति से अलग-अलग रखना चाहिए। साथ ही सरकार भी किसान की फसल का उचित मूल्य दे। वरीयता के आधार पर पानी व बिजली की सुविधाएँ दे। सूखे व अकाल में लगान वसूली रोके। यद्यपि इन मतभेदों के होते हुए भी ये संगठन किसान को एक शक्ति के रूप में उभारने में सफल हुए।

आज किसानों की माँगे परिवर्तित हो गई है। वे अपने साथ न्याय की अपेक्षा चाहते हैं। वे फसल के उचित मूल्य की माँग करते हैं और पानी, बिजली, खाद, बीज को सुविधायुक्त तरीके से चाहते हैं तो उन्हें अवश्य मिलने चाहिए। तभी राष्ट्र चहुमुँखी प्रगति करेगा। औद्योगीकरण के साथ-साथ किसानों की माँगों को नजरअंदाज करना उचित नहीं रहेगा।

10.9 राजस्थान में कृषक आन्दोलन : एक रूपरेखा

भारत की आजादी से पूर्व राजस्थान का समाज सामन्तवादी व्यवस्था के साथ जुडा हुआ था जिसमें राजाओं का निरंकुश शासन था। हालांकि उस समय आधुनिकीकरण की प्रक्रिया प्रारंभ हो गई थी, लेकिन यह प्रक्रिया काफी धीमी गति से चल रही थी तथा आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का प्रभाव केवल नगरीय क्षेत्रों तक ही सीमित था। उस समय सारा राजस्थान 25 रियासतों में बँटा हुआ था। हर रियासत में एक राजा था। इन रियासतों में राजा एक सर्वशक्तिमान अधिकार वाला था तथा साथ ही बहुत से राजाओं के सम्बन्ध अंग्रेजों से भी थे। इस कारण सम्पूर्ण शासन व्यवस्था निरंकुश प्रशासन के साथ जुडी हुई थी और सम्पूर्ण कृषक समाज राजाओं तथा जागीरदारों के मध्य बँटा हुआ था। इस कृषक समाज में शासन की दो व्यवस्थाएँ थी:

1. खालसा प्रशासन

यह प्रशासन सीधे ही राजा के अधिकार में था। राजा ही भूमि की लगान वसूल करता था।

2. जागीरदारी व्यवस्था

इसमें राजा का सीधा अधिकार नहीं था, बल्कि भूमि जागीरदारों के अधिकार में थी। ये जागीरदार अपने-अपने इलाकों में पूर्ण रूप से स्वतंत्र थे। वस्तुत: इन जागीरदारी व्यवस्थाओं में जो भी सामाजिक व्यवस्था थी, बह बहुत खराब थी। इस काल में जागीरदारी शासन को सबसे खराब माना जाता था न कोई उत्तरदायी सरकार थी और न ही कोई ऐसी व्यवस्था थी जिससे लोग न्याय प्राप्त कर पाते। जागीरदारों का आदेश अंतिम होता था अर्थात् जागीरदारी व्यवस्था में पूर्ण रूप से अव्यवस्था व अराजकता थी। दूसरे शब्दों में जहाँ एक ओर जागीरदार को सब अधिकार प्राप्त थे वही दूसरी ओर सामान्य प्रजा को कोई अधिकार प्राप्त नहीं था। जागीरदार एक प्रकार से तानाशाह था। ये लोग कभी-कमी किसानों से ऐसे कर भी वसूलते थे जो न्यायोचित नहीं थे। इन करों को ये लोग जबरदस्ती वसूल करते थे। इन करों का कोई व्याक्ति विरोध नहीं कर सकता था। ये लोग अपनी प्रजा से बेगार जबरन लेते थे। यहाँ तक कि किसानों की जमीन झूठे बहाने बनाकर छीन लेते थे। इस कारण जागीरदारी प्रथा में सम्पूर्ण प्रजा की हालत दयनीय हो गई थी।

इन सभी परिस्थितियों ने प्रजा को जागीरदारों के विरुद्ध संगठित होने तथा कुछ रियायत प्राप्त करने के लिए संघर्ष के माध्यम से प्रेरित किया।

राजस्थान में आन्दोलन का स्वरूप

राजस्थान में जितने भी किसान आन्दोलन हुए, वे सभी 1910 के बाद ही हुए। इससे पूर्व किसी प्रकार के किसान आन्दोलन नहीं हुए। इन सभी आन्दोलनों को दो भागों में बाँट सकते हैं:

1. वे आन्दोलन जो नगरीय क्षेत्रों में प्रारम्भ हुए,
2. वे आन्दोलन जो ग्रामीण क्षेत्रों अथवा कृषक समस्याओं में प्रारंभ हुए।

1. नगरीय क्षेत्रों में प्रारंभ हुए आन्दोलन

ये आन्दोलन 1920 के आस-पास प्रारंभ हुए। ये ऐसे स्थानों पर प्रारंभ हुए, जिनका ब्रिटिश भारत के साथ सम्पर्क था' जैसे अजमेर, अलवर, सिरोही इत्यादि। इन आन्दोलनों का नेतृत्व उन लोगों के हाथों में था जो या तो सुधारवादी थे अथवा भारत में अन्य स्थानों पर चल रहे राष्ट्रवादी व क्रांतिकारी आन्दोलनों के साथ जुडे हुए थे। अजमेर में हरिभाऊ उपाध्याय थे इनका सम्बन्ध महात्मा गाँधी से था और इनका कार्य क्षेत्र केवल नगरों तक ही सीमित था और जो भी आन्दोलन थे वे ऐसे मुद्दों के साथ आयोजित किये गये, जिनका सम्बन्ध जनहित के साथ ज्यादा था जैसे जयपुर में एक आन्दोलन था उसमें यह माँग की गई थी कि गेहूँ में आयात पर जो टेक्स लगाया गया वह समाप्त होना चाहिए अर्थात् सर्वप्रथम उन्होंने कर विरोधी माँगों को प्रस्तुत किया, तत्पश्चात् जयपुर' जोधपुर बीकानेर व अलवर ऐसी रियासतें थी, जिसमें यह माँग उठी कि नौकरियाँ उसी रियासत के लोगों को ही दी जाये तथा समाज के सभी वर्गों के लोगों को मिलनी चाहिए।

सन् 1930 में इस प्रकार की माँगों का स्वरूप बदलने लगा क्योंकि देश में जो स्वाधीनता आन्दोलन चल रहा था, उसका प्रभाव राजस्थान में भी पडने लगा। इससे राजस्थान में जो छोटी-छोटी माँगों को लेकर आन्दोलन चल रहे थे उनका स्वरूप बदलने लगा। इनमें से कुछ माँगे इस प्रकार थीं -

- सारे राज्य में प्राथमिक शिक्षा का प्रबन्ध हो।
- चिकित्सा की उचित अवस्था हो।
- जल वितरण की व्यवस्था हो।
- नगरपालिकाएँ बनाई जायें।
- स्वायत्त शासन की व्यवस्था हो।

इस प्रकार की माँगें प्रस्तुत होने लगीं। इसी समय देशी रियासतों में प्रजामण्डल भी स्थापित होने शुरु हुए। ये कांग्रेस का ही रूप थे। ये अपने आन्दोलन संगठित रूप से चलाते थे एवं राजनैतिक दलों के रूप में कार्य करते थे। इस प्रकार देशी रियासतें इनकी माँगों को प्राथमिकता देने लगी। इनकी मुख्य माँगे यह थी कि देशी रियासतों में एक उत्तरदायी सरकार बननी चाहिए। राजनैतिक संगठन बनाने का अधिकार होना चाहिए। बोलने की स्वतंत्रता तथा राष्ट्रवादी विचारों को प्रस्तुत करने का अधिकार होना चाहिए।

2. वे आन्दोलन जो ग्रामीण क्षेत्रों व कृषक अवस्था के साथ जुडे हुए थे

इसके अन्तर्गत जो भी आन्दोलन थे, वे मुख्य रूप से कृषक व्यवस्था के साथ में जुडे हुए थे। इनका मुख्य उद्देश्य जागीरदारी अव्यवस्था के खिलाफ था। हालांकि ये जितने भी कृषक आन्दोलन हुए, वे सभी बिखरे हुए थे। राजस्थान में भू-प्रबन्ध की व्यवस्था देश के अन्य भागों की तुलना में भिन्न थी। जिस व्यवस्था के अन्तर्गत किसान भूमि का स्वामी न होकर केवल खेतिहर मजदूर ही था। इस दृष्टि से मेवाड की स्थिति और अधिक दयनीय थी। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के पश्चात् भी मेवाड संवैधानिक व प्रशासनिक दृष्टि से काफी पिछडा रूप था। इन सुधारों के अभाव में सामान्य किसानों को अनेक असहनीय करों के बोझ को ढोना पड रहा था, जिसके फलस्वरूप कृषक समुदाय में अत्यन्त उत्तेजना व असंतोष भरा हुआ था, जिसकी वजह से 19वीं शताब्दी में अनेक विद्रोह व आन्दोलन हुए।

देश के अन्य भागों की तरह ही राजस्थान में भी बिजौलिया के किसानों ने वहाँ के ठाकुर के खिलाफ आन्दोलन किया। बिजौलिया भूतपूर्व मेवाड की एक जागीर था। यहाँ का जागीरदार किसानों पर अधिक राजस्व लगाने के अतिरिक्त कई अन्य कर व बेगार भी लेता था। ठाकुर खेतों पर दैनिक कार्य के लिए तथा शादी, मौत आदि अवसरों पर बेगार लेता था। किसान इस उत्तपीडन को सहन नहीं कर सकते थे। अत: उन्होंने आन्दोलन किया।

10.10 सारांश

भारतीय समाज के औद्योगिक समाज बन जाने के उपरान्त भी, यह आज भी कृषक समाज है। जनसंख्या का बहुत बडा भाग कृषक है, कृषक मजदूर है और कृषि से जुडे हुए उद्योगों में काम करता है। हाल में कृषक आन्दोलन ने नई माँगों को रखा है। स्वतन्त्रता से पहले जो कृषक आन्दोलन हुए थे उनकी माँगें कुछ दूसरी थी। इन माँगों में मुख्य माँग बराबर वढ़ते हुए लगान की थी। सरकार ने लगान को निश्चित करने के लिए कोई कानून नहीं बनाया था। लगान तो अपनी जगह पर था ही, इससे जुड़ी हुई बंधुआ मजदूर, सागडी प्रथा और बेगार जैसी व्यवस्था भी थी। साहूकार और सरकार दोनों ही किसानों का शोषण करते थे। सरकार ने भूमि सुधार के लिए कोई कानून नहीं बनाया था। इसके परिणामस्वरूप जमींदार और जागीरदार किसानों का शोषण करते थे। स्वतन्त्रता से पहले के आन्दोलन मुख्य रूप से लगान के खिलाफ थे शोषण के खिलाफ थे। एक और महत्वपूर्ण बात इन आन्दोलनों के बारे में अवश्य कहनी चाहिए. ये आन्दोलन किसानों के तो थे ही, लेकिन इसके अतिरिक्त ये विशाल स्वतन्त्रता प्राप्ति के आन्दोलन का एक भाग भी थे। रुचिकर बात यह है कि प्रारंभ से लेकर आज तक इन आन्दोलनों को मुख्य रूप से कम्युनिस्ट पार्टी ने चलाया है। ए॰आर. देसाई, डी.एन. धनागरे और केथलीन गफ ने आन्दोलन का जो ब्यौरा दिया है, स्पष्ट रूप से बताता है कि किसानों को नेतृत्व हमेशा वामपंथी दलों ने दिया है। इसके लिए हम चाहे तेलंगाना आन्दोलन देखें या कोई और आन्दोलन।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद जो आन्दोलन हुए हैं, उनकी माँगें बदल गयी हैं। कहीं पर कोई भी आन्दोलन लगान कम करने की बात नहीं करता। बँटाईदारों की चर्चा नहीं करता। देखा जाये तो ये आन्दोलन बडे किसानों के आन्दोलन हैं। महेन्द्र सिंह टिकैत और शरद जोशी बडे किसानों की बात ही करते हैं। इन किसानों की समस्याएँ और तरह की है। इनकी कृषि पूँजीवादी

कृषि है। ये आन्दोलन चाहते है कि कृषि में जो निवेश है उसकी दर नीची होनी चाहिए। बिजली की दर नीची हो जाएँ, सिंचाई की दर नीची हो जाएँ, उर्वरक सस्ते दामों पर मिलें और खेत की उपज को ऊँचा समर्थन मूल मिले। ये सब नई माँगें है। इन नये किसान आन्दोलन की एक और विशेषता है। किसान आत्महत्या करने पर उतारू हो जाते है और रास्ता बंद करना इनके विरोध का मुख्य साधन है। किसान आन्दोलन बराबर हो रहे हैं, ऐसा नहीं है। कभी ये उग्र हो जाते है और कभी सामान्य। किसान आन्दोलन का मुख्य मसला कृषि उत्पादन और कृषि बिक्री से जुडा है।

10.11 संदर्भ ग्रन्थ

1. bardhan, Pronab, "Agrarian Class Formation in India", in **Journal of Peasant Studies**, Vol. 10, No.1,October, 1982.
2. Bannerji, Sumanta, 'Naxalbari' In A.R. Desai's (ed.), **Agrarian Struggles in India after Independence,** Oxford University Press, Delhi, 1986.
3. Dhanagare , D.N., **Peasent Movement in India 1920-1950,** Oxford university Press, Delhi, 1983.
4. Sahasrabudhe, Sunil, **The Peasent Movement Today** (ed.),Asia Publishing House,New Delhi, 1983 .
5. Sarkar, Sumit, **Modear India 1885-1947**, Macmillian India Limited, New Delhi, 1983.
6. Desai, A.R., **Peasent Struggles in India**, Oxford university press, New Delhi, 1979.

10.12 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. कृषक आन्दोलन की अवधारणात्मक व्याख्या कीजिए।
2. संक्षेप में कृषक आन्दोलन व किसान आन्दोलन में अन्तर समझाइये।
3. स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व हुए कृषक आन्दोलनों की व्याख्या कीजिए।
4. तेभाग व तेलंगाना आन्दोलन के प्रमुख मुद्दे बताइये।
5. नक्सलबाड़ी आन्दोलन की उत्पत्ति के कारणों की व्यख्या कीजिए।
6. राजस्थान के प्रमुख कृषक आन्दोलनों के मुख्य कारण बताइये।

इकाई 11

कृषक वर्ग संरचना : उत्पादन की पद्धति और कृषक सम्बन्ध

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 वर्ग की अवधारणा

11.3 कृषक संरचना और उत्पादन पद्धति

11.3.1 कृषक वर्ग और कृषक संबंध

11.4 ब्रिटिश काल में वर्ग संरचना

11.4.1 कृषक वर्ग के स्वरूप

11.4.2 ब्रिटिश शासन में कृषक वर्ग संबंध

11.5 स्वतन्त्रता के पश्चात् कृषक वर्ग संरचना

11.6 कृषक वर्ग संरचना में परिवर्तन

11.7 जाति और कृषक वर्ग

11.8 सारांश

11.9 संदर्भ ग्रन्थ

11.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

11.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप-

- कृषक वर्ग की अवधारणा को समझ सकेंगे,
- आप यह भी जान पायेंगे कि आजादी से पूर्व तथा आजादी के पश्चात् कृषक समाज में किस प्रकार विभिन्न वर्गो का उदय हुआ,
- जाति और कृषक वर्ग के अन्तर्सम्बधों का विश्लेषण कर पायेंगे, उत्पादन के तरीकों को समझा पायेंगे,
- कृषक सम्बन्ध तथा कृषक सामाजिक संरचना में परिवर्तन की व्यख्या भी आप कर सकेंगे।

11.1 प्रस्तावना

हम सभी इस तथ्य से अवगत है कि भारत की अधिकांश जनसंख्या आज भी गाँवों में निवास करती है। इसी कारण भारत को कृषि प्रधान समाज के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है।

ई. 1991 के पश्चात् जब वैश्वीकरण और उदारीकरण का दौर शुरू हुआ तर से भारतीय समाज के सभी वर्गों में परिवर्तन की प्रक्रिया तीव्र हो गयी। पहले ग्रामीण अर्थव्यवस्था आत्मनिर्भर हुआ करती थी, लेकिन आगे चलकर इस आत्मनिर्मरता में कमी आयी और नई व्यवस्था के रूप में स्तरीकृत भूमि पट्टेदारी व्यवस्था ने स्थान ग्रहण कर लिया। इस अवस्था को ब्रिटिश शासन ने प्रारंभ किया था। ब्रिटिश शासन ने पट्टेदारी की जमींदारी, महलबाडी और रैयतबाडी व्यवस्थाएँ प्रारंभ की। पट्टेदारी की इस स्तरीकृत व्यववस्था ने भूमि वास्तविक स्वामी और सरकार के बीच एक नया वर्ग पैदा कर दिया वह था बिचौलिया वर्ग। दूसरी तरफ एक उच्च वर्ग पैदा हो गया जो भू-स्वामी थे, जो भूमि बँटाई पर व किराये पर देते थे जिनका भूमि से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं था और कई बार इस वर्ग के लोग अपनी भूमि से दूर भी निवास करते थे। ऐसे वर्ग को जमींदार वर्ग कहने लगे। तीसरी तरफ एक ऐसा वर्ग था जो भूमिहीन था निर्धन था, बंटाईदारी के आधार पर कृषि से जुडा था, कृषि श्रमिक था और पूर्ण रूप से असुरक्षित था।

जब देश को स्वतंत्रता प्राप्त हुई तो किसानों की स्थिति में सुधार लाने के लिए भू-सुधार कार्यक्रम चलाये गये। साथ ही इस गत पर जोर दिया जाने लगा कि रिचौलियों को समाप्त कर दिया जाये। इस हेतु अनेक कानून भी पारित हुए भूमि सुधार कानूनों के कारण जमीदारों से अतिरिक्त भूमि प्राप्त हुई और इस प्राप्त भूमि को ग्रामीण निर्धनों में वितीरत कर दी गयी। बिभिन्न राज्य सरकारों ने भी ऐसे भूमि सुधार कानून पारित किये, जिससे भूमि की उत्पादकता में वृद्धि हो और बँटाईदारों को पट्टा प्रदान करने का प्रयास किया।

कृषक समाज में परिवर्तन लाने के लिए अनेक भूमि सुधार व विकास कार्यक्रम प्रारंभ किये गये। विकास की नई रणनीति अपनायी गयी। इसका लाभ तो कृषक समाज को मिला, लेकिन इसके कुछ दुष्परिणाम भी सामने आये। इन विकास कार्यक्रमों का लाभ उच्च कृषक वर्ग ने उठाया और उनकी आर्थिक स्थिति और अधिक सुदृढ़ हो गयी और निर्धन किसानों की स्थिति बदतर होती चली गयी। इससे क्षेत्रीय विषमताओं और अत्यधिक वर्ग असमानताओं का जन्म हो गया।

इस इकाई में हम कृषक वर्ग संरचना की अवधारणा का समाजशास्त्रीय विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे। इसके साथ ही ऐतिहासिक संदर्भ में कृषक वर्ग को समझेगे। कृषक उत्पादन तरीकों तथा कृषक वर्गों के बीच संभन्धों की व्यख्या इस इकाई में करेंगे।

11.2 वर्ग की अवधारणा

जब हम किसी समाज में वर्ग को समझने का प्रयास करते हैं तो स्पष्ट है कि वर्ग के माध्यम से समाज में स्तरीकरण पाया जाता है। हम कृषक वर्ग संरचना को जाने उससे पूर्व यह जानना आवश्यक हो जाता है कि वर्ग किसे कहते हैं? अथवा वर्ग से हमारा क्या अभिप्राय है? योगेन्द्र सिंह का कहना है कि भारत में वर्ग के तत्व सावयी दृष्टि से जाति स्तरीकरण से जुडे हुए हैं। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि भारत में जो वर्ग की संरचना है वह सर्वभौमिक यानी विशव के समाजों से मिलती जुलती है अथवा जाति व्यवस्था के साथ मिलकर एक विशेष स्वरूप ग्रहण कर लिया है। सिद्धान्त रूप से इस संबंध में मार्क्सवादी और गैर-मार्क्सबादी समाजशास्त्री यह

कहते हैं कि वर्ग तो वर्ग ही है चाहे वह यूरोप में हो या भारत में। इस संबंध में योगेन्द्र सिंह कहते हैं कि:

वर्ग का तल यह माना जाता है कि सांकृतिक बिमिन्नताओं के होते हुए भी ऐतिहासिक रूप से सभी समाजों में समान है।

योगेन्द्र सिंह इस धारणा से सहमत होते हुए भी यह स्वीकार करते हैं कि भारत में कहीं-कहीं जातियों के साथ मिलकर वर्ग का स्वरूप मी बदल जाता है।

इस प्रकार वर्ग सामाजिक स्तरीकरण की एक व्यवस्था है। वर्ग का मुख्य आधार आर्थिक है। वर्ग बिना किसी धार्मिक अथवा कानूनी अनुमोदन में एक ठोस यथार्थपरक संरचना है। वर्ग की सामाजिक प्रस्थिति का निर्धारण धन, सम्पत्ति, शक्ति, निजी उपलब्धि और व्यक्तिगत क्षमता से होता है। वर्ग के अन्तर्गत प्रतिस्पर्धा एवं वैयक्तिकता पायी जाती है। एंथोनी गिडेन्स ने वर्ग की पारिभाषिक व्याख्या करते हुए कहा है कि :

वर्ग एक वृहद् स्तर पर लोगों का समूह है, जिनकी आर्थिक संसाधनों में समान भागीदारी होती है. वे लोग दृढ़ता से बिशेष प्रकार की जीवन पद्धति को प्रभावित करते हैं। वर्ग दिभेदीकरण के दो मुख्य आधार हैं -

(1) घर का स्वामित्व और (2) इससे जुड़ा हुआ व्यवसाय।

इस प्रकार वर्ग एक सार्वभौमिक प्रघटना है जो सभी समाजों में अनिवार्य रूप से पायी जाती है। चाहे यह नगरीय समाज हो या ग्रामीण अथवा कृषक। हम आगे कृषक समाज में वर्ग संरचना की व्याख्या करेंगे।

11.3 कृषक संरचना और उत्पादन पद्धति

कृषक संरचना से तात्पर्य यह है कि इसका संबंध कृषि के संस्थागत ढाँचे से होता है। इस संस्थागत ढाँचे के अन्तर्गत भू-वितरण नियंत्रण और उपयोग समिलित हैं। दूसरे शब्दो में हम यह कह सकते हैं कि संस्थागत कृषक ढाँचा वह है जिसका संबंध भूमि की पट्टेदारी, कृषि में रोजगार के रूप सामाजिक संगठन, श्रमिक संघ ऋण तथा परामर्श जैसी सेवाओं से होता है। डेनियल थार्नर ने कृषक सामाजिक संरचना के संदर्भ में कहा है कि कृषि से जुडे विभिन्न समूहों के बीच अन्त:सम्बन्धों को सम्मिलित किया जाता है। यह उन सभी प्रणालियों का कुल योग है, जिसके आधार पर एक समूह दूसरे समूह के प्रति सक्रिय होता है।

वर्ग संरचना में उत्पादन पद्धति का महत्वपूर्ण योगदान होता है। जिस तरह की उत्पादन पद्धति होगी, वैसे ही वर्ग सचल होंगे। मार्क्स ने कहा कि भारत में 19वीं शताब्दी में व्यक्तिगत सम्पत्ति की कोई अवधारणा नही थी। दूसरे शब्दों में यहाँ किसान भूमि को जोतता था, पर वह उसका मालिक नहीं था। मालिकाना हक के अभाव में वह खेत में उतना ही पैदा करता था जिससे वह अपना पेट भर सके और जमींदार जागीरदार को राजस्व दे सके। उसे खेती को विकसित करने की कोई प्रेरणा नहीं थी क्योंकि न तो जमीन उसकी थी और न ही वह उसका मालिक था। जमीन के किरायेदार की तरह उसे जमीन सुधारने, सिंचाई व्यवस्था करने और समुचित खाद देने की कोई चिन्ता नहीं थी। इसका परिणाम यह हुआ कि कृषि क्षेत्र में एक

प्रकार का ठहराव आ गया। कृषि में यह ठहराव ही यानी रूढ़िगत उत्पादन पद्धति ने सामन्तवादी व्यवस्था को जन्म दिया। सामन्तवाद आने के कारण शोषण की प्रक्रिया तेज हो गयी।

कृषि क्षेत्र में ठहराव की स्थिति पर हेनरीमेन कहते हैं कि भारतीय गाँव अपने आप में एक लोकतंत्र था। अपनी दिन-प्रतिदिन की आवश्यकताओं के लिए यहाँ के गाँव स्वालम्बन थे। मार्क्स ने कहा कि भारतीय गाँव कृषि और दस्तकारों में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति एवं कर लेते थे। देश में कहीं भी राज्य में सिंचाई सुविधाओं को उपलब्ध नहीं कराया।

रेमण्ड एरों ने उत्पादन पद्धतियों के संबंध में कहा कि जितनी उत्पादन पद्धतियाँ भिन्न होगी, इतिहास भी भिन्न होगें। इन्होंने कहा कि एशिया की उत्पादन पद्धति (AMP) यूरोप से इसलिए भिन्न हैं कि यहाँ सभी कामगार,विज्ञान , किसान और दस्तकार राज्य के अधीन हो जाते है। जबकि यूरोप में भू-स्वामी और काश्तकार के बीच राज्य कहीं नहीं आता। हमारे देश में उत्सा पटनायक, अमित भादुडी आदि ने कहा कि भारतीय कृषि की उत्पादन पद्धति अर्द्ध सामन्तवादी थी। कृषि में अर्द्ध सामन्तवाद के लक्षण निम्नलिखित हैं - 1. कानून मुक्त बटाईदारी कृषि 2. छोटे किसान- निरन्तर ऋण ग्रस्तता में 3. ग्रामीण क्षेत्रों में शोषण करने वाले और 4. किसानों का बाजार में सीमित संबंध।

उत्सा पटनायक भारत की उत्पादन पद्धति के बारे में कहती है कि यहाँ पर सामन्तवाद के स्थान पर पूर्व पूँजीवादी उत्पादन पद्धति थी। कैथलिन गफ ने भी एक अध्ययन तमिलनाडु के धंजाबुर जिले में किया। इन्होंने उत्पादन पद्धति के तीन लक्षणों का उल्लेख किया है - 1. उत्पादन शक्तियाँ, 2. उत्पादन सम्बंध और 3. इन उत्पादन पद्धतियों का राजनीति कानून' कला धर्म और दर्शन से सम्बन्ध।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उत्पादन पद्धतियों के आधार पर वर्ग का निर्माण होता है। इस इकाई के अगले भाग में हम वर्ग संरचना का विस्तृत अध्ययन करेंगे।

11.3.1 **कृषक वर्ग और कृषक सम्बन्ध**

कार्ल मार्क्स ने जब पूँजीपति व श्रमिक वर्गों की व्याख्या की तो उनका सारा ध्यान औद्योगिक समाज की तरफ ही था और वे कृषक समाज को क्रांति के लिए महत्वपूर्ण नहीं मानता था। आगे चलकर उसने यह माना कि रूस तथाचीन में क्रांति के महत्वपूर्ण आधार के रूप में किसान ही उभकर सामने आये। लेनिन ने कृषक संरचना को समझने का प्रयास किया और उसने पाया कि सारी संरचना में किसानों को तीन कोटियों में बांटा जा सकता है। वे हैं :

1. कुलक या अमीर किसान
2. मध्यम वर्गीय किसान, और
3. निम्न वर्गीय या गरीब किसान।

भारतीय संदर्भ में हम देखें तो पायेंगे कि कृषक संरचना में अनेक वर्ग समाहित हैं और ये वर्ग अपने-अपने हितों की पूर्ति के लिए संघर्षरत हैं। इन संघर्षो का मूल कारण भूमि के स्वामित्व को लेकर हैं। आन्द्रे बैतई ने कृषक वर्ग के तीन प्रकार बताये हैं। वे हैं :

1. वे कृषक जो भूमि के स्वयं मालिक हैं और उस पर कृषि मी स्वयं ही करते है ।

2. ऐसे कृषक जो भूमि को किराये पर लेकर, बंटाई पर लेकर कृषि करते हैं और उन्हें इस समाज में कानूनी सुरक्षा प्राप्त होती है।
3. ऐसे कृषक जिनके पास जमीन नहीं है या एक एकड से भी कम जमीन है, जिन्हें कृषि श्रमिक कहते हैं। इस तरह बैतई ने कृषक वर्ग संरचना को बताया है। एक अन्य समाजशास्त्री डेनियल थार्नर ने कृषक वर्ग संरचना को बतलाते हुए तीन प्रकार के वर्गो का उल्लेख किया हैं। वे हैं :

1. मालिक : जिनका भू सम्पत्ति पर कानूनी अधिकार है। ये भूमि से जो आय अर्जित करते हैं,

   उसे और अधिक बढ़ाने में प्रयत्नशील होते हैं। साथ ही श्रम मूल्य को कम से कम रखने की कोशिश करते हैं। इस वर्ग को भी दो भागों में बांटा जा सकता है :

   (अ) बडे जमींदार,

   (ब) अमीर भुमिपति
2. किसान - इस श्रेणी में वे किसान सम्मिलित हैं जो स्वयं अपनी जमीन पर खेती करते हैं, लेकिन इनके पास लघु जोत होती है। जब ये बडे किसानों की जमीन पर खेती करते हैं तो बंटाई का आधार मुख्य होता है। ऐसे किसान भी दो प्रकार के होते हैं :

   (अ) लघु जोत के किसान,

   (ब) सीमान्त किसान।
3. श्रमिक - ये वे कृषक हैं जो कृषि कार्यो हेतु अपने श्रम को बेचते हैं। यही उनके आजीविका का साधन होता है। इन्हें हम तीन श्रेणियों में बांट सकते हैं :

   (अ) गरीब कृषक,

   (ब) बँटाईदार,

   (स) भूमिहीन श्रमिक।

   इससे यह स्पष्ट होता है कि समाजशास्त्रियों ने उन कृषकों को भी श्रमिक की श्रेणी में रखा है जिनकी कृषि से कम आय होती है। हम यह कह सकते हैं कि जो भूमि हीन श्रमिक हैं. उनकी स्थिति हर हाल में निम्न होती है।

11.4 ब्रिटिश काल में वर्ग संरचना

अंग्रेजों के आने से पहले ग्रामीण भारत में भूमि के स्वामित्व को लेकर कोई वर्ग नहीं थे। भूमि का स्वामित्व तो जैसा ए.आर. देसाई कहते हैं संपुण गाँव का था, जो चाहे जितनी भूमि को जोत ले राज्य का कोई प्रतिबिंध नहीं था। इसी कारण हेनरी मेन ने कहा था कि भारत का प्रत्येक गाँव एक गणतंत्र है। इसके बाद ब्रिटिश सरकार ने भूमि बंदोबस्त किया। सरकार ने भूमि को जोतने के लिए संमूर्ण ठेका कुछ ऐसे लोगों को दे दिया जो जमींदार बन गये। इस नई व्यवस्था के अनुसार भूमि का स्वामित्व गाँव से हटकर सरकार का हो गया और सरकार ने इस स्वामित्व को जमींदारों को सौंप दिया। इस बंदोबस्त के बाद भूमि के वे जमींदार वंशानुगत स्वामी हो गये। जमींदारों का यह कर्तव्य था कि वे अंग्रेजी सरकार को निश्चित लगान चुका दे।

नये प्रकार के भू-स्वामी सभी व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए भू-पतियों के समान थे। इस व्यवस्था के फलस्वरूप, एक ही दिन में अपनी ही भूमि के किसान खातेदार बन गये। जमींदारी अवस्था का यह सूत्रपात 1793 ई. में लार्ड कार्नवालिस ने बंगाल, बिहार, उड़ीसा तथा मद्रास के कुछ जिलों में की थी। बाद में इसका विस्तार बम्बई, पंजाब, सिंध आदि के भागों में भी लागू कर दिया गया। इस अवस्था के परिणामस्वरूप भारत में पहली बार जमींदारों का एक वर्ग पैदा किया जो रैयत का शोषण करता था।

देशी रियासतों में जमींदारी व्यवस्था नहीं थी। वहाँ जागीरदारी व्यवस्था थी। ठाकुर या सामन्त कतिपय गाँवों को जागीरदारों को देता था। ये जागीरदार किसानों से लगान लेते थे। इस तरह रियासतों में जो नया वर्ग पैदा हुआ वह जागीरदारी का था। जमींदार और जागीरदार उच्च वर्ग के थे और रैयत अर्थात् किसान निम्न वर्ग के। यहीं वर्ग व्यवस्था ने एक स्थानीय विशेषता ग्रहण कर ली। यहाँ यूरोप में वर्ग आदमी की अर्जित योग्यता पर था, वहाँ जमींदार और जागीरदार प्रदत्त वर्ग के हो गये थे। इस अन्तर के होते हुए भी यह निश्चित है कि गाँवों में पहली बार जमींदारों और जागीरदारों का एक नया वर्ग पैदा हुआ। इस वर्ग को दोहरे रूप में इस तरह रख सकते हैं- एक ओर भू-पति था और दूसरी ओर खातेदार।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ब्रिटिश काल में भारत का कृषक समाज अधिक स्तरीकृत हो गया। भूमि संबंधी बंदोबस्त के परिणामस्परूप भारत में नवीन वर्गों का अभ्युदय हुआ। इसका मूल कारण ब्रिटिश शासन की भूमि संबंधी नीति रही' जिसके निम्न मुख्य उद्देश्य थे :

1. अधिक से अधिक भू-राजस्व (लगान) वसूल करना,'
2. भारतीय कृषक अर्थथवस्था को नकद अर्थव्यवस्था के साथ जोड़ना ताकि ब्रिटिश शासन अपने हितों की पूर्ति कर सको,
3. कृषि में मुक्त व्यापार आरंभ करना,
4. भारतीय कृषक अर्थव्यवस्था को अपने औपनिवेशिक बाजार के साथ जोडना।

उपरोक्त सभी व्यवस्थाएँ ब्रिटिश शासन ने अपने हितों की पूर्ति के लिए की। ब्रिटिश शासन ने अपनी स्वाथों व हितों की पूर्ति के लिए न केवल नई पट्टेदारी व्यवस्था लागू की बल्कि रेल व सड़क जैसी सुविधाओं को भी मुहैया कराया ताकि कृषि उत्पाद को बढ़ावा दिया जा सके।

अब हम इस अध्याय के अगले भाग में भूमि पट्टेदारी व्यवस्था से जुडी व्यवस्थाओं को प्रस्तुत करेंगे जो भूमि से संबंधित है और जिसे ब्रिटिश शासन ने प्रारंभ किया। वे हैं : जमींदारी व्यवस्था रैयतबाडी व्यवस्था और महलवारी व्यवस्था।

जमींदारी व्यवस्था को 1973 में स्थायी बंदोबस्त अधिनियम के अन्तर्गत बंगाल सूबे में प्रारंभ किया गया। बाद में इसका विस्तार देश के अन्य सूबों में भी किया गया जिनमें उत्तर प्रदेश विहार उड़ीसा तथा मद्रास के कुछ हिस्से सम्मिलित है।

रैयतवाडी व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक कृषक के साथ अलग-अलग बंदोबस्त किया गया। कृषक को बटाई पर देने, बंधक रखने या हस्तान्तरित करने के अधिकारों के साथ भूमि

पर स्वामित्व का अधिकार भी दिया गया। यह अवस्था मद्रास से प्रारंभ हुई, फिर आगे चलकर बम्बई, मध्य प्रदेश व असम के कुछ हिस्सों में लागू की गयी।

महलवाढ़ी व्यवस्था के अन्तर्गत पूरे गाँव के साथ बंदोबस्त किया गया। गाँव पर लगे कुल मालगुजारी को पूरा करने में कृषक अपने अपने जोत के अनुसार योगदान करते थे। इस व्यवस्था को संयुक्त प्रान्त के कुछ हिस्सों में लागू किया गया। बाद में पंजाब के कुछ हिस्सों में इसका विस्तार किया गया।

11.4.1 **कृषक वर्ग के स्वरूप**

ब्रिटिश शासन काल में कृषक समाज बहुत अधिक स्तरीकृत हो गया। विभिन्न कृषक वर्गों के बीच सम्बन्धों में तनाव पैदा हो गया। जमींदारी क्षेत्र में जमींदार तथा बिचौलियों का वर्ग सम्पन्न हो गया जिसका प्रभुत्व सम्पूर्ण ग्रामीण समाज पर था। इस व्यवस्था के अन्तर्गत वास्तविक जोतदारों को पट्टेदारी सुरक्षा के पारम्परिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया और ये धीरे-धीरे बटाईदार व कृषि श्रमिक के रूप में सामने आने लगे। जहाँ रैयतवाड़ी व्यवस्था थी वहाँ पर बडे भू-स्वामी अपनी जमीनों को किराये पर दे देते थे और इस तरह रैयत विशाल भूखण्डों के गैर जोतदार स्वामी रन गये। महलवाडी क्षेत्रों में भी बडे भू-स्वामी व बड़े जोत के कृषकों ने कृषक समाज पर अपनी प्रभुत्ता स्थापित कर ली। ब्रिटिश काल में मुख्य रूप से जो नवीन कृषक वर्ग उभर कर सामने आये, वे हैं

1. जमींदार, 2. पट्टेदार, 3. कृषक-भू-स्वामी और
4. कृषक श्रमिक वर्ग।

इन वर्गों के उद्भव का हमने ऊपर विवरण प्रस्तुत किया है। संक्षेप में हम यहाँ इन वर्गों को समझेंगे:

1. जमींदार वर्ग - इस वर्ग में वे लोग या कृषक सम्मिलित होते हैं जो बडे भू खण्डों के स्वामी हैं। इसमें कुछ अन्य वर्ग हैं जैसे बिचौलिये, भू-स्वामी, जमींदार, तालुकदार तथा धनी किसान भी सम्मिलित हैं। इन सभी वर्गों का आर्थिक हित समान था। वे कृषक श्रमिकों का उपयोग अपने भूखण्डों पर करते थे। वास्तविक रूप से इस वर्ग के लोग गैर-जोतदार थे।
2. पट्टेदार - इस वर्ग में वे कृषक सम्मिलित थे जो विभिन्न तरह के भू स्वामियों से जमीन पट्टे पर लेते थे। कई पट्टेदार अपने जमीन के कुछ हिस्से पर खेती करवाने के लिए उप-पट्टेदारों का उपयोग कर लिया करते थे।
3. कृषक भू-स्वामी - इन कृषक भू-स्वामियों के पास भूखण्डों का आकार छोटा होता था। जिस पर इन्हें दखल अधिकार भी था और नहीं भी था। ये ऐसे किसान थे जो अपना जीवन निर्वाह कृषि से ही करते थे। अपनी स्वयं की भूमि पर परिवार के सदस्य मिलकर कृषि करते थे। इस वर्ग में छोटे किसान व उप-पट्टेदार भी आते हैं।
4. कृषि श्रमिक वर्ग - ये अपने जीवन निर्वाह के लिए दूसरों की खेती पर कार्य करते थे। कृषि श्रमिक और बँटाईदार इस वर्ग में आते थे। अपने जीवन-यापन के लिए कई बार बँटाईदार कुछ समय के लिए कृषि श्रमिकों की तरह अपना श्रम बेचते थे।

11.4.2 **ब्रिटिश शासन में कृषक वर्ग सबन्ध**

ब्रिटिश शासन ने जो भूमि व्यवस्था का निर्माण किया उसमें बडे किसानों व जमींदारों द्वारा निर्धन कृषकों का शोषण करने की व्यवस्था बना दी। कृषि को बाजारोमुख बनाने का प्रयास किया। मध्यम व गरीब किसानों ने अपनी भूमि एक नये वर्ग को सौप दी। इस प्रकार जब गरीब किसानों का पतन हुआ तो एक नये भू-स्वामी वर्ग का उदय हुआ। इस नये वर्ग ने गरीब किसानों को ऋण देने का कार्य भी किया और सूदखोरी भी की। इन्होंने गरीब किसानों की गरीबी का भरपूर फायदा उठाया। बाज की दर इतनी ऊँची रखी जाती थी कि वे कई पीढ़ियों तक अपना ऋण नहीं चुका पाते थे। धीरे-धीरे उनकी भूमि इन सूदखोरों के पास चली गयी।

ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत जमींदारी व रैयतबाडी दोनों क्षेत्रों में बंटाई पर खेती दिये जाने की प्रथा का विकास हुआ। बंटाईदारी अवस्था का उद्भव इसलिए हुआ क्योंकि छोटे किसान ऋणग्रस्तता में बुरी तरह फंसे हुए थे। ये किसान गाँव के बनियों, व्यापारियों, धनी किसानों व बिचौलियों के कर्जदार थे। साधारणतया गरीब किसान समय पर न तो ब्याज चुका पाता था और न ही मूल धन। इस कारण उसे अपनी भूमि से हाथ धोना पडता था। लेकिन ऋणदाता यह चाहते थे कि उनसे प्राप्त भूमि पर कृषि होती रहे, इस कारण वे उपज के आधे हिस्से पर उन्हें जमीन दे देते थे और आधा हिस्सा स्वयं भू-स्वामी को दिया जाता था। यहाँ यह भी उल्लेख किया जाना आवश्यक है कि जहाँ कर्जदार किसान अपनी भूमि पर बटाईदार की तरह स्थापित नहीं किये गये, उन्हें भूमिहीन कृषकों की श्रेणी में रखा गया। धीरे-धीरे इन भूमि हीन कृषकों को भूमिहीन श्रमिक में बदल दिया गया। बीसवीं शताब्दी के दूसरे व तीसरे दशक में पारम्परिक ग्रामीण कुटीर उद्योगों का भी पतनहो गया। ग्रामीण शिल्पकार तथा दस्तकार कृषि श्रमिकों के वृहद् समूह में सम्मिलित हो गये। इसका कारण था कि उनके पास रोजगार का कोई दूसरा विकल्प मौजूद नहीं था।

इस प्रकार जब हम कृषक व्यवस्था का विश्लेषण करें तो पायेंगे कि उत्पादन के समस्त साधनों पर स्वामित्व बडे भू-स्वामियों या जमींदारों का हो गया। वहुसंख्यक वर्ग भूमिहीन तथा लघु भूमि वाले का हो गया। इस प्रकार उत्पादन समाजो का निर्धारण मूल रूप से ग्रामीण समाज के बिशेषाधिकार वर्ग का होता था।

लघु कृषक व भूमिहीन श्रमिकों का शोषण लगातार बढ़ता गया। इनका जीवनकष्टमय हो गया। जमींदार वर्ग द्वारा निर्धन कृषक, पट्टेदार उप-पट्टेदार, निर्धन व भूमिहीन श्रमिकों के शोषण के कारण उनके बीच तनाव व असंतोष पैदा हो गया। इस स्थिति के कारण कृषक समुदाय के बीच बढ़ते हुए असंतोषों की अभिव्यक्ति कृषक आन्दोलन के रूप में हुई।

इससे यह स्पष्ट होता है कि ब्रिटिश शासन ने भारतीय कृषकों को कई स्तरों में विभाजित कर दिया। सामन्तवादी व जमींदारी व्यवस्था ने समाज में शोषण की प्रक्रिया को मजबूती प्रदान की। अत्यधिक गैर-बराबरी, कृषि भूमि का सामन्तीकरण ग्रामीण धनी वर्ग के पास कृषि भूमि का स्वामित्व, कृषकों की भूमिहीनता, पट्टेदारों के पट्टों की असुरक्षा यानी कभी भी भूमि से बेदखल किये जाने की संभावना लगान की उच्च दर. पारम्परिक कुटीर उद्योगों व

शिल्पकारी का पतन इत्यादि भारतीय कृषक समाज के लक्षण बन गये। इसके अतिरिक्त कृषक वर्गो के बीच तनाव व असंतोष के कारण आन्दोलन जन्म लेने लगे।

11.5 स्वतन्त्रता के पश्चात् कृषक वर्ग संरचना

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ग्रामीण वर्ग व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन आये। क्रांतिकारी इसलिए कि कांग्रेस जब आजादी की लड़ाई लड़ रही थी, तब इसने अपने वार्षिक सम्मेलनों में बराबर यह दोहराया था कि जब भारत स्वतंत्र हो जायेगा तब भूमि सुधार के क्षेत्र में बहुत बडा बदलाव किया जायेगा। भारत का किसान जमींदारों और जागीरदारों के शोषण से तबाह हो गया था। हिन्दी और प्रादेशिक साहित्यों यथा बंगला, मराठी और तेलगु में बराबर यह कहा जाता था कि भूमि बंदोबस्त में आम किसान परेशान था। प्रेमचन्द ने तो हिन्दी में कुछ ऐसे उपन्यास लिखे हैं - रंगभूमि और गोदान जो बडी बारीकी के साथ जमींदारी व्यवस्था के विनाशकारी परिणामों का उल्लेख करते हैं। इसी कारण स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद यह पूरा प्रयत्न किया गया कि भूमि सुधार आन्दोलन को नई गीत दी जाये। इस गीत ने जहाँ एक ओर बिचौलियों अर्थात् मध्यस्थों को हटा दिया वहीं दूसरी ओर नये वर्गों को जन्म दिया। हमारा तर्क यह है कि गाँवों में जहाँ पिछडे वर्ग समाप्त हो गये, वहाँ नये वर्गो का उदय हुआ।

भूमि सुधारों के प्रथम चरण का उद्देश्य जमीदारों जैसे मध्यस्थों को हटाना था। जमींदारी प्रथा 1950 में समाप्त कर दी गयी तथा सर्वप्रथम उत्तर प्रदेश में भूमि सुधार लागू किये गये। इसका उद्देश्य किसानों के साथ राज्य का सीधा सम्बंध स्थापित करना था। अब किसान अपना भूमि कर जमींदार को न देकर सीधा सरकारी खजाने में जमा कराता था। अत: वास्तविक किसान खातेदार को व्यावसायिक अधिकार या भूमि स्वामित्व का अधिकार देना इस सुधार का उद्देश्य था।

मध्यस्थों के समाप्त होने पर नये वर्गो का गठन हुआ। हुआ यह कि भूमि सुधारों से पहले जो खातेदार जमीनों पर खेती कर रहे थे और जिनको जमीनों से बेदखल कर दिया गया था उनमें से अधिकांश भूमिहीन, खेतिकर मजदूर बन गये। नतीजन किसानों का दरिद्रीकरण हुआ। लेकिन इसके अतिरिक्त किसानों की एक ऐसी समृद्ध श्रेणी मी थी जो भूमि की अधिकतम सीमा निर्धारित होने के कारण हुई अतिरिक्त जमीन को सरकार द्वारा निर्धारित पर्याप्त रूप से कम दरों पर जमीदारों से खरीद पाये। अर्थशास्त्री खुसरो (1975) का कहना है कि भूमि-सुधार आन्दोलन ने गाँवों में किसानों का एक ऐसा नया वर्ग वनाया जिसने खेती को एक नये उद्यम रूप में चुना।

गाँवों में वर्ग स्तरीकरण को अधिक शक्तिशाली बनाने में कुछ और भी कारक रहे हैं।हुआ यह है कि पुराने जमींदार व जागीरदार और पुराने खातेदार अब भारतीय कृषि में पूँजीवादी कृषि के अग्रणी बन गये। इन भूतपूर्व बडे किसानों ने सरकार द्वारा शुरू किये गये हरित क्रांति कार्यक्रम का अधिकतम लाभ उठाया। ये किसान एक नया वर्ग बनाते हैं। इन्हें प्रगतिशील किसान या जेण्टलमेन फारमर- भद्र किसान कहा जाता है। ये किसान पढ़े-लिखे होते हैं और कृषिविज्ञान में उनके पास प्रशिक्षण भी होता है। इन किसानों ने कृषि को एक व्यवसाय के रूप में अपनाया। ये लोग अपना धन कृषि की फसलों में लगाते हैं, जिनकी नकद कीमत

अधिक होती है। इस तरह ये लोग नकद फसलें लेने वाले कृषक हो गये। यही लोग उन्नत किस्म के बीज और रासायनिक खाद को काम में लेते हैं।

यह निश्चित है कि ग्रामीण भारत में आज जो भी वर्ग व्यवस्था हमें देखने को मिलती है, वह भूमि सुधारों कार्यक्रम के परिणामस्वरूप आयी है। गाँवों में वर्गों के बनने के पीछे काम करने वाले भूमि सुधारों के अतिरिक्त और भी कई कारण हैं। खाद्यान्नों की उपज में वृद्धि के लिए प्रत्येक राज्य में कृषि विशवविद्यालय बने हैं। फसलों की ऐसी नस्ले पैदा की गई है जो उत्पादन को बढ़ाती है। कृषि में यंत्रीकरण आया है। कृषि में राजनीति भी है। यह सभी जानते हैं कि महाराष्ट्र राज्य और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के चुनाव गन्ने की खेती करने बाले किसानों की लॉबी पर लड़े जाते है । अब कृषि केवल उत्पादन की प्रक्रिया नहीं रही, उनमें पूँजी का विनियोग भी होता है और राजनीति भी होती है। इन सब प्रक्रियाओं ने किसानों के निम्न वर्ग पैदा कर दिये है - 1 कृषक व्यवसायी या धनी किसान, मध्यम किसान और निर्धन किसान, 2. खेतिहर और 3. दस्तकार। इन वर्गों का हम सिलसिले से वर्णन करेंगे :

1. कृषक व्यवसायी या धनी किसानमध्यम किसान और निर्धन किसान

किसानों का यह वह वर्ग है जिसके पास पर्याप्त जोते हैं। ये किसान भद्र किसान हैं, और एवं खेती नहीं करते। ये खेत पर उपस्थित भी नहीं होते। इन किसानों को पूँजीवादी किसान कहा जा सकता है। इनकी जमीन पर छोटे किसान काम करते है; खेतिहर मजदूर काम करते हैं। इन्हें कूलक किसान भी कहते हैं। गाँव का यह सबसे उँचा वर्ग हैं यह वर्ग अधिक शक्तिशाली इसलिए भी हो जाता है कि इसकी राजनीति में सक्रिय भागीदारी होती है। कृषक का काम तो इन्हें आयकर से मुक्त होने में भी सहायता देता है।

मध्यम किसान के पास मध्यम की जीते होती हैं। ये प्राय: आत्मनिर्भर होते हैं। ये अपने खेत पर ही कार्य करते हैं और इन्हें बाहर से खेतिहर मजदूर नहीं रखने पड़ते। इनका कृषि उत्पादन अपने परिवार के सदस्यों की मजदूरी से ही हो जाता है।

निर्धन किसान सामान्य किसान होता है जिनके पास इतनी भूमि नहीं है कि ये अपनी आजीविका चला सकें और इसलिए ये बंटाईदार से खेती करते हैं और समय आने पर अपनी आय को बढाने के लिए दूसरों के खेतों पर मजदूरी करते हैं। कृषक जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग निर्धन किसानों का है। यह रूचिकर बात है कि कृषि भूमि का बहुत बड़ा भाग बहुत थोडे धनी किसानों के हाथों में है और बहुत थोड़ा बहुत अधिक निर्धन किसानों के हाथों में है। इसका मतलब अधिक कृषक वर्ग व्यवस्था में बहुत थोडे लोग उच्च वर्ग में हूँ जबकि बहुत अधिक लोग निम्न वर्ग में है।

2. खेतिहर

खेतिहर मजदूर सामान्यतया बहुत सीमित जमीन के मालिक होते हैं। देखा जाय तो खेतिहर मजदूर पहले भी तीन प्रकार के थे और आज भी यही प्रकार उपलब्ध है। कुछ के पास जमीन के छोटे टुकड़े का स्वामित्व था और इसके साथ-साथ दे अपना श्रम बेचकर आजीविका की पूर्ति करते थे। दूसरे खेतिहर मजदूर वे थे जो केवल मजदूरी बेचकर जीवनयापन करते थे। मजदूरी के बदले में खेतिहर मजदूरों को वेतन मिलता था जो बहुत कम होता था। इन खेतिहर मजदूरों के पास अपनी एवं की कोई भूमि नहीं थी। तीसरे प्रकार के खेतिहर मजदूर वे थे जो

कृषि मजदूरी करते थे और इसके बदले में उन्हें धान. दाल आदि द्वारा भुगतान होता था। कहीं-कहीं पर नगद मजदूरी के साथ वस्तुओ के रूप में भी मजदूरी मिलती थी।

देश के अनेक भागों में दूसरे प्रकार के खेतिहर मजदूर पाये जाते थे। इनकी प्रस्थिति लगभग बँधुआ या अर्द्ध बंधुआ मजदूर की होती थी। गुजरात में दुबला व हाली, तमिलनाडु में पड़ियाल दूसरे प्रकार के मजदूरों के दृष्टान्त है। स्वतंत्रता प्राप्ति के याद खेतिहर मजदूर की स्थिति में कुछ सुधार हुए हैं। 1972 में कानूनी रूप से' बंधुआ मजदूरी समाप्त कर दी गयी है। भूमि सुधार कार्यक्रमों के कारण खेतिहर मजदूरों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई है। यह कहा जाता है कि पश्चिमी बंगाल राज्य ने भूमि सुधार के कदम काफी सक्रियता से उठाये हैं। वहां सामान्य कृषक की वार्षिक औसत आय में भी वृद्धि हुई है। लेकिन अभी अन्य राज्य खेतिहर मजदूरों के वर्ग के लिए कोई विशेष काम नहीं कर पाये हैं ।

3. दस्तकार

जब हम ग्रामीण वर्ग व्यवस्था पर विश्लेषण करते हैं तब हमें दस्तकारों और कारीगरों का उल्लेख अवश्य करना चाहिए। यह वर्ग ग्रामीण वर्ग व्यवस्था का एक अभिन्न अंग है। दस्तकार प्राचीन समय से अस्तित्व में है तथा भारतीय गाँव की आत्मनिर्भर छवि में योगदान देते हैं। बड़ई. लोहार. कुम्हार आदि ग्रामीण दस्तकार हैं। यह अवश्य है कि दस्तकारी इन वर्गों का परम्परागत पेशा है, लेकिन इनके पास थोडी बहुत कृषि भूमि अवश्य होती है। यदि कुम्हार बरतन बनाता है तो उसके पास एक दो खेत अवश्य होते हैं। इस भाँति गाँवों में दस्तकारी के साथ-साथ कृषि भी अवश्य होती है।

आज ग्रामीण दस्तकारी सीमान्त धन्धा हो गया है। इनके धंधे में मध्यस्थ आ गये हैं और लाभ का बहुत बड़ा भाग ये मध्यस्थ ले जाते हैं। मध्यप्रदेश के चंदेरी की साडियाँ सारे देश में लोकप्रिय है, लेकिन यहाँ के दस्तकारों की आर्थिक स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ है। लाभ का बहुत बडा हिस्सा मध्यस्थ ले जाते है।

11.6 कृषक वर्ग संरचना में परिवर्तन

भारत में भूमि सुधार कार्यक्रमों के साथ-साथ ग्रामीण विकास कार्यक्रम भी प्रारंभ किये गये, जिससे कृषक आर्थिक व्यवस्था का पुनर्निर्माण किया जा सके। 1952 में सामुदायिक विकास कार्यक्रम, 1953 में राष्ट्रीय विस्तार सेवा तन्त्र, 1957 में खादी और ग्रामोद्योग कार्यक्रम, 180 में गहन कृषि जिला कार्यक्रम, 1962 में ग्रामीण उद्योग परियोजना, 1964 में गहन कृषि क्षेत्र कार्यक्रम, 1966 में उन्नत बीज कार्यक्रम, 1966 में ही कृषि शिक्षण एवं प्रशिक्षण कार्यक्रम', 1968 में जनजाति विकास प्रखण्ड, 1971 में लघु कृषक विकास अधिकरण', 1974 में कमाण्ड क्षेत्र विकास कार्यक्रम, 1979 में एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम, 1988 में जवाहर रोजगार योजना इत्यादि कार्यक्रम चलाये गये, जिनका उद्देश्य ग्रामीण विकास करना था। यहाँ यह भी स्पष्ट किया जाना आवश्यक है कि भारत में छठे दशक के मध्य असाधारण परिवर्तन हुए और हरित क्रांति हुई। इस रणनीति में अधिक उपज वाली उन्नत किस्मों की खेती के लिए आधुनिक तकनीकों को अपनाया जाता है। पंचवर्षीय योजनाओं

में भी ग्रामीण विकास पर अधिक जोर दिया गया ताकि परम्परागत संरचना में परिवर्तन लाया जा सके।

इन सभी कार्यक्रमों का असर यह हुआ कि कृषि से जुड़ी हुई वर्ग संरचना में परिवर्तन होने लगा। इसी प्रकार कृषक समाजों में क्षेत्रीय विषमताओं व असमानताओं का जन्म हुआ। जबकि इन सभी कार्यक्रमों का उद्देश्य कृषक समाज को आर्थिक रूप से सुदृढ़ करना था। इन्हें सामाजिक न्याय दिलाना था। कृषि में यंत्रीकरण, उन्नत बीजों के प्रयोग से कृषि एक लाभकारी व्यवसाय के साथ जुड गया और ग्रामीण विकास के कारण देश के पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश ने देश के अन्य राज्यों को पीछे छोड दिया। जैसे पश्चिमी बंगाल तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश ने कृषि क्षेत्र में काफी तरक्की की, जबकि पूर्वी उत्तर प्रदेश कृषि में अभी भी पिछड़ा हुआ है। वर्ग के संदर्भ में अगर हम देखें तो बडे भूमिपतियों ने ही कृषि के आधुनिकीकरण और आर्थिक विकास के उपायों का भरपूर लाभ उठाया। इन्होंने अपनी आर्थिक उन्नति के लिए तथा कृषि के व्यापारीकरण के लिए. सभी आधुनिक साधनों को अपनाया। इससे कृषि उत्पादन के आधुनिक साधनों का केन्द्रीकरण सीमित हाथों में हो गया। इससे कृषि क्षेत्र में वर्ग निर्माण की नवीन प्रक्रियाएँ उभरकर सामने आयी। जब समाजशास्त्रियों ने कृषक वर्ग की असमानताओं का अध्ययन किया तो उन्होंने कुछ वर्गो की पहचान की। कोतोवस्की ने चार प्रकार के कृषक वर्ग बताये- 1. बुर्जुआ, 2. भू-स्वामी, 3. बँटाईदार, और 4. कृषि श्रमिक। इसी प्रकार एक अन्य विद्वान हम्पा अल्वी ने बताया कि भारत में जो प्रमुख कृषक वर्ग हैं, वे हैं - 1. बुर्जुआ, 2. भू-स्वामी, 3. औपनिवेशिक भू-स्वामी, 4. बँटाईदार और 5. कृषि श्रमिक। इसी प्रकार आन्द्रे बैतई तथा चन्द्रा ने भी वर्ग संरचना के बदले स्वरूप को प्रस्तुत किया है। सभी विद्वानों के बताये वर्गों का विश्लेषण करें तो मौटे रूप से चार वर्ग हमें दिखायी देते हैं, वे हैं:

1. धनी कृषक,
2. मध्यम कृषक,
3. निर्धन कृषक, और
4. भूमिहीन श्रमिक।

भारत में कृषक वर्ग का उद्भाव ऐतिहासिक प्रक्रियाओं का परिणाम रहा है। इन ऐतिहासिक प्रक्रियाओं में कृषक समाज का निम्न वर्ग हमेशा निर्धन, असुरक्षित, नग्न व शोषण का शिकार रहा है। ऋणग्रस्तता और गरीबी के कारण कृषक अपनी जमीन बेचने को मजबूर हो गये। बँटाईदारों को जमीनों से बेदखल कर दिया गया। ग्रामीण परम्परागत व्यवसाय व धंधे समाप्त हो गये, जिससे रोजगार की विकट परिस्थितियाँ पैदा हो गयी। ये सभी धीरे- धीरे कृषि श्रमिक बन गये। दूसरी तरफ उच्च वर्ग के किसानों ने अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ कर दिया। वर्ग निर्माण की इस प्रक्रिया में कृषक समाज का प्रत्येक वर्ग दूसरे वर्गों के बिरुद्ध आमने-सामने की स्थिति में आ गया। जिसके परिणामस्वरूप कृषक आन्दोलन पैदा होने लगे।

11.7 जाति और कृषक वर्ग

भारतीय समाज की महत्वपूर्ण विशेषता जाति प्रथा है। जाति प्रथा ने ग्रामीण और कृषक समाज को बहुत अधिक प्रभावीत किया है। यदि हम भारत के गाँवों की सामाजिक संरचना का

विश्लेषण करें तो इसका अभिप्राय जाति व्यवस्था का विश्लेषण करना। समाज में उत्पादन के संगठन अलग-अलग रूप से कार्य नहीं करते, अपितु सामाजिक संरचनाओं से घनिष्ठ अन्त:सम्बन्धों के साथ उत्पादन संगठन कार्य करते हैं। भारत में जाति, नातेदारी और परिवार ही सामाजिक संरचना के मूल आधार है। अत: उत्पादन का सामाजिक संगठन भी इन तीनों आधारों के इर्द-गिर्द घूमता है।

भारतीय समाज जाति प्रधान समाज है। जाति मुख्य रूप से पवित्रता और अपवित्रता के सिद्धान्तों और व्यवसायिक विशिष्टता पर आधारित जाति एक स्तरीकृत सामाजिक संगठन है। जाति व्यवस्था समाज के सदस्यों को एक प्रदत्त प्रस्थिति यानी उच्च व निम्न प्रस्थिति प्रदान करती है। भारत में कृषक वर्ग का उद्भव भी कमोबेश जाति की उत्पत्ति के समान ही रहा है। ग्रामीण समाज में आर्थिक असमानता यानी गैर बराबरी का भी जाति व्यवस्था में अन्तर्निहित असमानता के साथ घनिष्ठ सचन्द रहा है। देश में समाजशास्त्रियों द्वारा किये गये अध्ययनों से यह स्पष्ट होता है कि उच्च जातियों ने हमेशा कृषक सोपान में शीर्ष स्थान पाया है। जबकि निम्न जातियों का स्थान निम्न ही रहा है। पारम्परिक रूप से बंगाल में ब्राहमण, राजपूत और कायस्थ. बिहार में राजपूत और भूमिहार, पश्चिमी उत्तर प्रदेश में जाट, गुर्जर, त्यागी और मुस्लिम, पूर्वी और मध्य उत्तर प्रदेश में राजपूत, ब्राहमण और भूमिहार, पंजाब में जाट, हरियाणा में जाट व अहीर, तमिलनाडु में अय्यर, अंयगर, राजस्थान में ब्राहमण, राजपूत और जाट इत्यादि भू-स्वामी जातियाँ रही है। ऐसी जातियाँ जिनका जातीय पद सोपान में मध्यम व निम्न स्थान रहा है, उनका कृषक वर्ग सोपान में भी लगभग यही स्थान रहा है। अगर हम अनुशिचित व पिछडी जातियों व जनजातियों की बात करें तो जैसी सामाजिक व्यवस्था में इनका स्थान रहा है वैसा ही कृषि श्रमिक के रूप में इनका स्थान सामान्यतया देखा जाता है।

आजादी के पश्चात् न केवल कृषि क्षेत्र में बल्कि हर क्षेत्र में व्यापक परिवर्तन हुए हैं। ग्रामीण अर्थव्यवस्था भी परिवर्तित हुई है। यहाँ भी मुद्रा का प्रसार, कृषि का आधुनिकीकरण. भूमि सुधार कानूनों का क्रियान्वयन , नये विकास कार्यक्रम प्रारंभ करने से निम्न व मध्यम वर्ग की जातियों की आर्थिक प्रस्थिति में काफी सुधार हुआ। ग्राम पंचायतों में भी निर्णय लेने की प्रक्रिया में उनकी सहभागिता बढ़ी। 73वें संविधान संशोधन ने पिछडे वर्गों की महिलाओं व पुरुषों की प्रस्थिति को सुधारने में योगदान दिया। लेकिन आज भी तटस्थ रूप से अध्ययन करें तो पायेंगे कि उच्च जातियों का वर्चस्व कायम है।

उच्च जातियों ने कृषि में नवीन तकनीकी का प्रयोग किया, जिससे इनकी आर्थिक स्थिति जो पहले भी सुदृढ़ थी, उसे और अधिक सुदृढ़ कर दिया। ये जातियाँ आधुनिक सूचना तंत्र के साथ जुड गयी, जिससे विकास का अधिक से अधिक लाभ उठाने लगी। उच्च जातियों ने स्थानीय प्रशासन तंत्र को भी अपने हाथों में केन्द्रित रखा उन्होने यह भी प्रयास किये कि भूमि सुधार कानूनों का सख्ती से पालन न हो। निम्न जाति के सदस्य खेती के आधुनिक यंत्रों और तकनीकी से अनभिज्ञ थे, चूँकि ये लोग आर्थिक रूप से पिछडे हुए थे, इस कारण ये खेती में आधुनिक साधनों का उपयोग नहीं कर पाये। प्राय: यह देखा गया कि उच्च जातियों ने निरन्तर रूप से आधुनिक प्रौद्योगिकी को अपनाया जिससे उनकी आर्थिक स्थिति में काफी सुदृढ़ता

आयी। इसी कारण निम्न जाति के लोगों को इस संभ्रान्त वर्ग के साथ अधीनता वाले सम्बंध से जोडे रखा। फिर भी यह महत्वपूर्ण है कि जैसे-जैसे कृषि का विकास हुआ वैसे ही वैसे कृषक समुदाय में एक मध्यम वर्ग का जन्म हुआ। इस मध्यम वर्ग में अब निम्न दव मध्यम जातियों का प्रतिनिधित्व अधिक है। यही मध्यम वर्ग आज कृषक समाज में एक सम्पन्न वर्ग के रूप में उमर रहा है। इनका ग्रामीण शक्ति संरचना पर भी नियंत्रण हो रहा है। ये कृषि में आधुनिक तकनीकी के प्रयोग से लाभान्वित हुए है। राष्ट्रीय स्तर पर भी एक महत्वपूर्ण राजनीतिक शक्ति के रूप में उभर कर सामने आ रहे है।

11.8 सारांश

कृषक वर्ग संरचना' उत्पादन के तरीके तथा कृषक सम्बन्ध पर इस इकाई में विस्तार से विवेचन किया गया। यहाँ पर हमने भारतीय समाज के विभिन्न कालों में कृषकों की स्थिति व उनके संबंधों का वर्णन किया और यह जानने का प्रयास किया कि इन विभिन्न युगों में कृषि उत्पादन संगठन किस प्रकार प्रभावित हुआ। ब्रिटिश काल में कृषकों की स्थिति व भू-व्याख्या पर भी विचार किया गया, बाद में स्वतंत्रता पश्चात् कृषकों की वर्ग व्यवस्था और उभरते नवीन वगों को समझने की कोशिश की। साथ ही ग्रामीण विकास कार्यक्रम तथा भूमि सुधार के क्षेत्र में भी सरकार द्वारा किये जा रहे प्रयासों का अध्ययन किया। अब में जाति व कृषक वर्ग के अंन्त:समबन्धों की भी व्याख्या की गयी।

11.9 संदर्भ ग्रन्थ

1. बैतई, आन्द्रे, स्टडीज इन ऐग्रेरियन सोशल स्ट्रक्वर, ऑक्सफोर्ड युनिबीर्सटी प्रेस, 1976.
2. सिंह,योगेन्द्र, सोशल स्ट्रेटिफिकेशन एण्ड चेंज इन इण्डिया मनोहर, नई दिल्ली 1977.
3. दोषी एवं जैन, रूरल सोशियालॉजी, रावत पलिकेशन्स जयपुर 1996. .
4. देसाई ए.आर., रूरल सोशियालॉजी इन इण्डिया पॉपुलर, 1988.

11.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. वर्ग की अवधारणा को समझाइये।
2. कृषक संरचना और वर्ग पर एक टिप्पणी लिखिए।
3. कृषक वर्ग एवं कृषक व्याख्या कीजिए।
4. ब्रिटिश शासन काल में कृषक वर्ग उनके आपसी समबन्धों को समझाइये।
5. स्वतंत्र भारत में कृषक वर्ग संरचना बताइये।
6. जाति और कृषक वर्ग के बीच सम्बन्धों को समझाइये।

इकाई 12

ग्रामीण भारत में भूमि सुधार

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 भूमि सुधार : अर्थ एबं आवश्यकता

12.3 स्वतन्त्रता के पूर्व भूमि सुधार व्यवस्था

12.4 स्वतन्त्र के पश्चात भूमि सुधार के लिये उठाये गये 'कदम

12.5 राजस्थान में भूमि मूल्यांकन

12.7 सारांश

12.8 सन्दर्भ ग्रंथ

12.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

12.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप -

- भूमि सुधार का अर्थ एवं आवश्कयता समझ सकेंगे
- स्वतंत्रता से पूर्व भूमि सुधार व्यवस्था की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे
- स्वतंत्रता के पश्चात किये गये भूमि सुधार के बारे में जान सकेंगे
- राजस्थान में किये गये भूमि सुधारों के बारे में समझ सकेंगे

12.1 प्रस्तावना

भूमि सुधार कृषि विकास के लिए आवश्यक है जिससे आर्थिक एवं सामाजिक विकास को बल मिलता है। कृषकों को कृषि उत्पादन में भूमि से भावनात्मक रूप से जोड़ना आवश्यक है ताकि कृषकों को कृषि करने में प्रोत्साहन मिल सके। केन्द्र एवं राज्य सरकार कृषकों के प्रोत्साहन के लिए तथा उत्पादन वृद्धि के लिए बीज, खाद, उपकरण एवं उत्पादन के नवीन साधन उपलब्ध कराती है। जिससे उत्पादन बढ़ाया जा सके। उत्पादन में कम लागत पर अधिक लाभ कमाना कृषक का मुख्य उद्देश्य होता है। लेकिन लागत को कम तभी किया जा सकता है जब भूमि सुधार व्यवस्था ठीक प्रकार की हो। भूमि सुधार से किसानों को अपना अधिकार प्राप्त होता है, आर्थिक स्थिति मजबूत होती है एवं गरीबी की समस्या से समाज को छुटकारा मिलता है।

12.2 भूमि सुधार : अर्थ एवं आवश्यकता

भूमि सुधार का तात्पर्य कृषकों एवं सरकार के बीच अनुकूल सम्बन्ध स्थापित करने से है जिससे कृषक उत्पादकता बढ़ा सके, परिवार को उचित जीवनस्तर प्रदान कर सके तथा कृषि विकास में कृषको प्रेरित किया जा सके। अत: भूमि सुधारो का तात्पर्य ऐसे संस्थागत परिवर्तनों

से है जिनसे भूमिगत साधनों का वितरण किसानों या खेतिहरों के पक्ष में होता है। इस प्रकार भूमि सुधार का व्यापक अर्थ है तथा भूमि स्पारों का अध्ययन मुख्य रूप से कृषि- भूमि सम्बन्ध तथा भू-धारण या जोत के आकार के आधार पर किया जाता है। इन दोनों पहलुओं का अध्ययन करना इसलिए आवश्यक है क्योंकि भारत में इन कृषि- भूमि सम्बन्ध एवं जोत आकार की स्थिति सामान्य नहीं है।

भारत में भूमि सुधारों की इसलिये आवश्यकता है क्योंकि अधिकांश काश्तकार भूमिहीन है या उनके पास बहुत थोडी जमीन है प्राय: भूस्वामी एवं खेती न करके काश्तकारों को भूमि खेती करने को देते है। अत: भारत में अभी तक मध्यस्थों की उपस्थिति है। इसलिए भूमि सुधार आवश्यक है। जैसे -जैसे मध्यस्थों का उन्मूलन, किसानों को भूमिधर बनाना, भूमि स्वामित्व की अधिकतम सीमा निर्धारण करना अतिरिक्त भूमि क्षेत्र का छोटे व भूमिहीन किसानों में वितरण आदि इसके अलावा देश की अधिकतम कृषि जोतो का आकार निश्चित करना आवश्यक है जो कि जोत चकबन्दी व सहकारी कृषि जैसे भूमि सुधारों का सहारा लेकर किया जा सकता है।

भूमि सुधारो की मुख्य आवश्यकता उत्पादन के सामाजिक सम्बन्धों को ऐसा स्वरूप प्रदान करना है जिसके फलस्वरूप कृषि उत्पादिता अधिकतम की जा सके। कृषि के क्षेत्र में उत्पादिता मुख्यत: दो प्रकार के तत्वों पर निर्भर करती है :-तकनीकी और संस्थानालक, आधुनिक तकनीकी तत्वों में अच्छे किस्म के रीज उर्वरक, उन्नत हल, कृषिउपकरण आदि कृषि विधियों का समादेश है, जिनके उपयोग से कृषि का स्तर उन्नत करने में सहायता मिलती है। संस्थानालक सुधारों के अन्तर्गत भू-स्वामित्व का कृषकों के हित में पुनर्वितरण, खेतों के आकार में सुधार. लगान का नियम आदि शामिल है। समाज में कुछ ऐसे संस्थानालक तत्व हैं जो कृषको को उतपादन बढ़ाने में हतोत्साहित करते है। जैसे खेतों का छोटा आकार, खेतों का उपविभाजन, ऊँचा लगान एवं भू धारण अधिकारों की सुरक्षा का अभाव आदि संस्थानात्मक तत्व हैं, इन तत्वों के कारण कृषकों की बचत करने एवं कृषि में धन लगाने की क्षमता कमजोर हो जाती है।

12.3 स्वतन्त्रता के पूर्व भूमि सुधार व्यवस्था

भारत में स्वतन्त्रता से पूर्व मुख्य रूप से तीन प्रकार की भूमि सुधार व्यवस्थायें प्रचलित थी। जिसमें रैयतबारी प्रथा, जमींदारी प्रथा एवं महलबारी प्रथा प्रमुख रही है। भूमि सुधार प्रणाली का मुख्य उद्देश्य सरकार को कृषि व्यवसाय से भू-राजस्व प्राप्त करना रहा है। ब्रिटिश शासन का वास्तव में यह उद्देश्य नहीं था कि भूमि व्यवस्था का राष्ट्रीय हित में प्रयोग हो. कृषि उत्पादन और उत्पादिता बढ़े। ब्रिटिश शासन का मुख्य उद्देश्य भूमि सुधार प्रणाली से अपनी आय मे वृद्धि करना था। इस इकाई में निम्नलिखित विमिन्न भूमि सुधार प्रथाओं का विस्तार से उल्लेख किया गया है।

(1) रैयतवारी प्रथा

(2) जमींदारी प्रथा

(3) महलवारी प्रथा

(1) रैयतवारी प्रथा

रैयतवारी प्रथा के अन्तर्गत भूमि पर अलग-अलग वैयक्तिक स्वामित्व होता है। राज्य को भू-राजस्व अदा करने की जिम्मेदारी भू-धारियों पर सीधे और वैयक्तिक रूप में होती है। यह प्रथा सर्वप्रथम सन् 1792 में मद्रास में आरम्म की गई और इसके अन्तर्गत रैयत का सीधा समाज राज्य से होता है। जब तक रैयत राज्य को भू-राजस्व नियमित और प्रत्यक्ष रूप से देता रहता है, उसे बेदखल नहीं किया जा सकता है। रैयत को भूमि का प्रयोग करने. हस्तांतरित करने, बेचने, बन्दक रखने का अधिकार होता है। इस प्रथा के अन्तर्गत राज्य और कृषकों के मध्य प्रत्यक्ष सबंन्ध होता है। भू-राजस्व की दर भूमि की उपज के अनुसार कम या अधिक की जा सकती है। रैयतवारी प्रथा में एक समय के पश्चात् इस पद्धति में दोष उत्पन्न हो गए। मूल रूप से जमींदारी प्रथा के समान रैयतवारी प्रथा में भूमि को उप कृषकों को देने से अनुपस्थित भू- स्वामित्व पैदा हो गया। मूल्य बढ़ने से उसके खरीददार SQ गए और लगान में वृद्धि हुई। पिछड़ी हुई खेती की पद्धति और अत्यधिक भूमि लगान के कारण रैयत पर कर्जा बढ़ने लगा और खुदकाश्त भूमि के मालिक भी अपनी भूमि व्यापारियों, साहूकारों तथा बड़े भू-स्वामियों को बेचने लगे। इस प्रकार से रैयतवारी प्रथा में भी दोष उत्पन्न होने लगे जो कि जमींदारी प्रथा में भी व्याप्त थे।

(2) जमींदारी प्रथा :

जमींदारी प्रथा का आरम्भ लार्ड कार्नवालिस ने बंगाल में सन् 1793 में किया था। इसके अनुसार भूमि पर एक व्यव्क्ति का या अधिक से अधिक कुछ व्यक्तियों का संयुक्त स्वामित्व होता था जो लगान की अदायगी के लिये जिम्मेदार होते थे।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने यह प्रथा इसलिये आरम्म की थी कि अपने निहित स्वार्थो की दृष्टि से एक बिशेषाधिकार सम्पन्न वर्ग का निर्माण किया जा सके। इस प्रकार जमींदार. जागीरदारी और राजकीय रियासतें आदि अनेक प्रकार की भू-धारण प्रणालियों का कृत्रिम निर्माण किया गया। भू-राजस्व वसूल करने बाले अधिकारियों का पद बढ़ाकर उन्हें भू-स्वामी बना दिया गया।

जमींदारी बन्दोबस्त मुख्य रूप से दो प्रकार के प्रथम स्थायी बन्दोबस्त व द्वितीय अस्थाई बन्दोबस्त। लार्ड कार्नवालिस ने सन् 1793 में बंगाल के अन्दर स्थायी बन्दोवस्त आरम्भ किया। स्थायी बन्दोस्त के अन्तर्गत लगान हमेशा के लिए नियत कर दिया गया। यह प्रणाली बंगाल के अतिरिक्त उत्तरी मद्रास और बनारस में लागु की गई। अस्थायी बन्दोरस्त के अन्तर्गत बिभिन्न राज्यों में 20 से 40 बर्ष की अवधि तक के लिए लगान नियत किया जाता था। इससे लगान में परिवर्तन हो सकता था। अस्थायी बन्दोबस्त बंगाल के शेष जमींदारों और अवधि में तान्तुकेदारों पर लागू किया गया। वास्तब में लगान की अवधि काफी लंबी होने के कारण अस्थायी बन्दोबस्त नाम मात्र के लिए अस्थायी था। इस प्रकार लगान नियत हो गया और ऐसा करने के मूल में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का मुख्य उद्देश्य लगान की नियमित अदायगी की जिम्मेदारी जमींदारों पर डालना था।

इस जमींदारी प्रथा के अन्तर्गत ब्रिटिश शासन ने अपने राजनैतिक साथों की पुर्ति के लिए करोडो भूमि जोतने वाले कृषकों के हितो का बलिदान कर दिया। कृषक जो भूमि के वास्तविक स्वामी थे वे जमींदार से प्राप्त भूमि पर मात्र आसामी के रूप में हो गये। इस व्यवस्था का कृषक से अत्यधिक भूमि लगान वसूल करना मुख्य उद्धेश्य था। ब्रिटिश सरकार का यह तर्क था कि जमींदार ग्रामीण जनता के सर्वश्रेष्ठ प्रबुद्ध वर्ग के प्रतिनिधि है, अत: उन्हें भू-अधिकार साँप दिए जाने के फलमरूप भूमि और कृषि में सुधार होगा। जनसंख्या में वृद्धि तथा ग्राम उद्योगों के हास के कारण भूमि की माँग वढ गई जिसमें जमींदार काश्तकारों से बहुत अधिक लगान वसूल करने लगे। जमींदारी प्रथा का आरम प्रगतिशील कृषि को बल देने के लिये किया गया था किन्तु उसके कारण अनुपस्थित भू-स्वामित्व की बुराई उत्तपन हो गई। परिणामस्वरूप वास्तविक काश्तकार और राज्य के रीच बिचौलियों का एक ऐसा वर्ग विकसित हो गया जिसकी भूमि में केवल इतनी ही दिलचस्पी थी कि वह अधिक लगान वसूल कर सकें। ऐतिहासिक दृष्टि से एक वर्ग के रूप में जमींदार भोगविलास पर अपवाद करने के लिए जाने जाते रहे हैं। भारत में भी जमींदार इसका अपवाद नहीं थे।

जमींदारी प्रथा वाले गावों में दो कृषि वर्ग विकीसत हो गए - प्रथम दूरवासी भू-स्वामी तथा द्वितीय काश्तकार, दूरवासी भू-स्वामियों ने काश्तकारों का शोषण किया। राज्य की ओर से किसी प्रकार का हस्तक्षेप न किए जाने के फलस्वरूप इन जमींदारों को लगान की निर्ममतापूर्वक बस्ती करने, जमीन से बेदखल करने और बेगार लेने की छूट मिली हुई थी। जमींदार दमन. शोषण व आतंक का प्रतीक बन गया। जमींदारी प्रथा के दोषों को अनुभव करते हुए अनेक विद्वानो समितियों एवं आयोगों ने इसके उन्मूलन करने की सिफारिश की। भारत में कृषि उत्पादिता कम होने का एक कारण दूषित भूमि व्यवस्था है जिसमें सुधार करने चाहिए।

(3) महलवारी प्रथा:

महलवारी प्रथा उन 1833 के कानून के अनुसार सर्वप्रथम आगरा एवं अवध में शुरू की गई। इसके पश्चात पंजाब' में भी लागू की गई। इस प्रथा के अन्तर्गत गाँव की समस्त भूमि पर गाँव के किसानों का संयुक्त अधिकार रहता है। उस समस्त भूमि को इकाई मानकर भू-राजस्व निर्धारित किया जाता था। यद्यपि गाँव के किसान व्यक्ति व्यक्तिगत रूप से खेती कर सकते है, परन्तु मालगुजारी देने में इनका उत्तरदायित्व संयुक्त माना जाता है। गाँव का लम्बरदार मालगुजारी इकट्ठा करता है जिसके लिए उसे एक निश्चित कमीशन मिलता है। इस प्रणाली में चुँकि भूमि पर ग्राम समुदाय का सयुक्त स्वामित्व होता था और ग्राम समुदाय के सदस्य या तो संयुक्त रूप से या अलग-अलग लगान चुकाने के लिए जिम्मेदार थे। इस प्रकार बंजर भूमि पर भी ग्राम समुदाय का स्वामित्व होता था और उसे इस बात की छूट रहती थी कि सरकार से इजाजत लिए बिना इस भूमि को किराए पर देने तथा इससे प्राप्त होने वाला लगान अपने सदस्यों में बाँट दे।

12.4 स्वतन्त्रता पश्चात भारत में भूमि सुधार के लिये किये गये प्रयास

भूमि सुधार कार्यक्रमों की आवश्यकता और इसके आर्थिक विकास में योगदान को देखते हुए देश में राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व से ही भूमि सुधारों की अनिवार्यता पर जोर दिया जाता रहा। जमींदारी व्यवस्था का उन्मूलन और जमींदारी प्रथा के आधार पर जोतने वाली जमीन की व्यवस्था स्थापित करना स्वतन्त्रता आन्दोलन की एक महत्वपूर्ण मांग रही थी। स्वतन्त्रता के पश्चात इस समस्या के निराकरण हेतु सक्रिय कदम उठाये गए। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने 1948 में कृषि सुधार समिति की स्थापना की जिसने यह विचार प्रस्तुत किया कि भारतीय कृषि में मध्यस्थों का कोई स्थान नहीं होना चाहिए तथा भूमि का मालिकाना हक काश्तकार को ही होना चाहिए। इसलिए स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से ही इस दिशा में प्रगति हुई। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद किये गए विभिन्न भूमि सुधार कार्यक्रमों से उत्पादन और उत्पादिता में वृद्धि हुई है। सिधाना के अनुसार भूमि सुधार का कार्य राज्य सरकारों का है। भूमि सुधार के लिए राज्य सरकारों द्वारा किये गए उपायों में मुख्य रूप से निम्न हैं।

1. बिचौलियों की समाप्ती
2. लगान का नियमन
3. काश्तकारों को स्वामित्व का अधिकार
4. जोतों की अधिकतम सीमा निर्धारण
5. सहकारी खेती
6. भूदान

1. बिचौलियों की समाप्ति - स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय व पहले देश में अनेक प्रकार के मध्यस्थ' काश्तकार जिनमें मुख्य रूप से जमींदार, जागीरदार, ईमानदार, महलवर आदि थे। भूमि सुधार प्रयत्नों में सर्वप्रथम प्रयत्न मध्यस्थों एवं जमींदारों की समाप्ति के लिए किया गया जिन्होंने कुल भूमि का 40 प्रतिशत हिस्सा अपने कब्जे में कर रखा था। सरकार के सामने प्रमुख समस्या एवं चुनौती बिचौलियों को समाप्त करने की थी। मध्यस्थ वर्ग की समाप्ति से लगभग दो करोड काश्तकार लाभान्वित हुए हैं और अब सरकार से सीधा सम्पर्क बना चुके हैं।
2. लगान का नियमन: स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व देश के विमिन्न भागों में लगान की दर अत्यन्त ऊंची थी। ब्रिटिश एवं मुगल शासन काल में लगान का नियम नहीं था। अलग - अलग क्षेत्रों में लगान भिन्न था तथा मनमाने तरीके से लगान दस्त किया जाता था। वसूल किया गया लगान कुल उपज का बहुत बडा भाग हुआ करता था। अत्यधिक लगान से काश्तकार पीडित थे। अत: भूमि लगान के लिए उचित नीति एवं लगान नियमन कानून बनाना आवश्यक हो गया था। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अंत में योजना आयोग की ओर से यह सुझाव दिया गया कि सम्पूर्ण देश में लगान का नियमन करके इसे कुल उपज का 20 प्रतिशत से 25 प्रतिशत तक भाग निश्चित किया जाना चाहिए। योजना आयोग ने यह भी सुझाव दिया है कि उपज रूप में लगान निर्धारित करना कठिन है। इस कारण उपज

लगान के स्थान पर नगद लगान निर्धारित किया जाना चाहिए, ताकि लगान की में होने वाले वार्षिक उच्चाबचनों को समाप्त किया जा सके तथा काश्तकारों को उसके विनियोग का लाभ किया जा सके।

3. काश्तकारों को स्वामित्व का अधिकार भूमि सुधार कार्यकमों का एक अत्यन्त महत्वपुर्ण पक्ष काश्तकारों के लिए भूमि स्वामित्व अधिकार प्रदान करने की व्यावस्था है। भूमि व्यवस्था में न्याय प्रदान करने की दिशा में यह एक महत्वपूर्ण प्रयास है। द्वितीय पंचबर्षीय योजना में यह व्यववस्था की गई कि उन जोंतो को भू-स्वामी पुन: नहीं प्राप्त कर सकते, काश्तकार और सरकार के बीच समय स्थापित किया जायें। विभिन्न राज्यों में कानुन बनाये गये जिनके अनुसार पट्टेदार कृषक भू-स्वामी को एक निश्चित श्रतिपूर्ति प्रदान कर भू-स्वामित्व प्राप्त कर सकता है।
4. जोतों की अधिकतम सीमा निर्धारण : कृषिजोत की अधिकतम सीमा लाग करने के लिए राज्यों में कानून बनाए गए थे और विभिन्न राज्यों में उन्हें लागु किया गया। अब तक अधिकतम भू-सीमा से अतिरिक्त भूमि कृषिक्षेत्र में दो प्रतिशत से भी कम है। जोत संबंधी सीमाबन्दी को बार आधारों पर समझा जा सकता है। सीमाबन्दी लाग करने की इकाई, जोत की अधिकतम सीमा छूट की अधिकतम सीमा तथा अतिरिक्त घोषित भूमि की उपलब्ध और उसका वितरण के आधार पर किया गया है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में सीमाबन्दी नीति को मान लिया गया था तथा राज्य सरकारों को यह स्वतंत्रता दी गयी थी कि अपने ग्रामीण क्षेत्रों की समस्याओं को देखते हुए जोत सीमावन्दी का निर्धारण करे। भूमि रखने की अधिकतम सीमा लागू करने के सिद्धान्त की घोषणा सर्प्रथम 1953 में की गयी। वर्तमान सीमाबन्दी नीति के अन्तर्गत अधिकतम जोत सीमाबन्दी के लिए परिवार को आधार बनाया गया है और परिबार की संकल्पना में पति-पत्नी तथा तीन बच्चों को सम्मिलित किया गया है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात भूमि सुधार कार्यक्रमों के अन्तर्गत जोतों की अधिकतम सीमा निर्धारण के मुख्य रूप से चार उद्देश्य है (1) बड़े भूखण्डों को उचित आकार के भू-खण्डों में बदलना जिससे कि उनका प्रबन्ध उचित प्रकार से हो सके तथा उत्पादन बढ़ाया जा सके। (2) अधिशेष भूमि को भूमिनहीनों में बांटकर सामाजिक न्याय करना। (3) अधिक व्याक्तियों को रोजगार सुविधाएं उपलब्ध कराना। (4) अधिशेष भूमि पर बंजर कृषकों, कारीगरों शिल्पकारों को निवास बनाने की सुविधा देना।

5. सहकारी खेती: सहकारी खेती से तात्पर्य कृषकों के द्वारा सहकारिता के सिद्वान्तों का मुख्य सत्य सहकारी ग्रामीण अर्थव्यास्था की स्थापना करना है इसलिए पंचवर्षीय योजनाओं में सहकारी खेती पर काफी जोर दिया गया है। छोटे-छोटे भू-खण्डों को स्वेच्छा से कृषक द्वारा मिलाकर संयुक्त कृषि करना ही सहकारी खेती है ।
6. भू-दान. भूमिहीन मजदूरों को भूमि पर बसाने के लिए भूदान आन्दोलन प्रारम्म किया गया। इस भूदान आन्दोलन का प्रारम्म व 18 अप्रेल, 1951 को तेलंगाना (आन्ध्र प्रदेश) के पोचमपल्ली नामक गांव में हुई थी, जहां आचार्य विनोबा भावे के समक्ष एक हरिजन ने यह

समस्या रखी कि उसके साथियों के पास खेती करने के लिए भूमि नहीं है। इसी अवसर पर आचार्य भावे के कहने पर एक कृषक श्री रामचन्द्र रेड्डी ने 70 एकड भूमि इस प्रकार के हरिजनों को देने की घोषणा की। तभी से यह आन्दोलन चलाया जा रहा है।

इस आन्दोलन के जन्मदाता आचार्य विनोबा भावे थे। सन् 1952 में विनोबा भावे ने बिहार पदयात्रा करके 8.4 लाख हैक्टर भूमि भू-दान में प्राप्त की। यह भूमि सुधार का कार्यक्रम एच्छिक था।

12.5 राजस्थान में भूमि सुधार

आजादी से पहले राजस्थान कई छोटी-छोटी रियासतों में बंटा हुआ था। राज्य में भूमि का स्वामित्व शासकों के पास रहा। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पहले से राजस्थान में भूमि सुधार लागु होने तक संमूर्ण ग्रामीण अर्थव्यवस्था इन्हीं शासकों द्वारा चलाई जाती थी। राजस्थान में जिन शासकों ने भूमि को अपने आधिपत्य में कर रखा था उन्होंने अपने छोटे जमींदारों को जमीनें प्रदान कर रखी थी। छोटे जमींदारों ने पाटीदारों को भूमि के छोटे-छोटे दुकडे अपनी जागीर चलाने के लिए दे रखे थे। इस प्रकार जमींदारों ने अपने स्वार्थ पूर्ति हेतु काश्तकारों पर एक कुचक्र, जाल के रूप में फैला रखा था जिससे उनका शोषण होता था। उत्पादन , सिंचाई साधनों के अनुसार भूमि सम्बन्धी कानून भी प्रत्येक रियासत में अलग-अलग हुआ करते थे। स्वतन्त्रता के पश्चात राजस्थान में भी भूमि जोतने वाले किसान को भू-स्वामित्व का अधिकार देने की बात प्रारम्म हुई। राजस्थान में भी भूमि सुधार के लिए निम्न प्रकार से प्रयास किये गए।

1. खातेदारी अधिकार
2. चकबन्दी
3. पास-बुक अधिनियम
4. मध्यस्थों की समाप्ति
5. भू-सीमा निर्धारण

1. खातेदारी अधिकारी : खातेदारी आधेकार अधिनियम 1955 के अन्तर्गत किराये पर भूमि जोतने वाले पर प्रतिबन्ध लगाया गया। अनुसूचित जाति एवं अनुसचित जनजातियों के व्यक्तियों की जमीन अन्य अक्तियों को हस्तान्तरित करने को अवैध बनाकर प्रीतवम्र लगा दिया गया। कानून का उल्लंघन करने वाले खातेदार को भूमि से बेदखल किया जा सकता है।
2. चकबन्दी : चकबन्दी के माध्यम से कृषक के समूर्ण भू-भाग को एक साथ मिलाना है, इसके अन्तर्गत किसान की बिखरी हुई जोतों को एक स्थान या चक में इकट्ठा करने का प्रबन्ध किया जाता है। भू-खण्ड का छोटे-छोटे टुकडों में बिखरा होने की समस्या जोतों की चकबन्दी से हल की जा सकती है। राजस्थान में भी कृषक के खेत छोटे-छोटे तथा एक स्थान पर कृषि क्षेत्र पूरा उपलब्द न होकर दूर-दूर छोटे-छोटे खण्डों में स्थित रहता है।
3. पास-बुक अधिनियम : राजस्थान में सन् 1983 में पास बुक अधिनियम खातेदारों द्वारा स्वयं काश्त की भूमि, भूमि सीमा तथा लगान के लिए पारित किया गया। इस पास-बुक मे

भूमि संबंधी जानकारी रहती है। पास-बुक के माध्यम से कृषक भूमि विकास हेतु बैंकों से आसानी से ऋण प्राप्त कर सकता है।

4. मध्यस्थों की समाप्ति : सन् 1952 में राजस्थान सरकार ने राजस्थान भूमि सुधार एवं जागीरदार पुनः ग्रहण अधिनियम पारित किया जिसका मुख्य उद्देश्य सरकार व कृषकों के बीच मध्यस्थों को हटाना था। इस अधिनियम के अनुसार जमीदारों की भूति का सरकार ने अधिग्रहण कर लिया। जिसका मुख्य उद्देश्य भी सरकार व कृषकों के मध्य बिचौलियों को समाप्त करना था।
5. भू-सीमा निर्धारण : भू-सीमा निर्धारण के अन्तर्गत कृषको की कृषित भूमि की अधिकतम सीमा का निर्धारण किया जाता है। भू-सीमा निर्धारण हेतु राजस्थान काश्तकारी अधिनियम, व 1955 के अन्तर्गत 1963 में संशोधन किया गया है। राजस्थान सरकार ने ' राजस्थान काश्तकारी अधिनियम ' में 1966 में संशोधन करके सीलिंग कानून लागू किया।

धूलिसिंह ने अपनी पुस्तक ' राजस्थान में भूमि सुधार ' में अपने अध्ययनों के आधार पर बताया है कि मध्यस्थों की समाप्ति और काश्तकारी अधिनिन्वयम के क्रियाचयन की सर्च प्रक्रिया ग्रामीण राजस्थान में एक सामाजिक क्रान्ति से कम नहीं थी। राजस्थान काश्तकारी अधिनियम, 1955 की धारा 15 के अन्तर्गत जो भी किसान अस्थायी तौर पर किसी भूमि पर खेती कर रहा था, 15 अक्तूबर, 1955 से स्वत ही उसे स्थायी खातेदार के अधिकार मिल गए। राजस्थान में सन् 1955 में भूदान यज्ञ बोर्ड का गठन गोकुल भाई भट्ट की अध्यक्षता में किया गया था, जिससे सामन्तों की भूमि का अधिग्रहण के साथ-साथ भू-दान आन्दोलन के तहत भूमि स्वेच्छा से भूमिहीनों को प्रदान की गई।

12.6 भूमि सुधार कार्यक्रमों का मूल्यांकन

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् देश में विभिन्न भूमि सुधार कार्यक्रम चलाये गये जिनका मुख्य उद्देश्य वास्तविक कृषकों को सामाजिक न्याय प्रदान करना व आर्थिक विकास करना था तथा भू-स्वामियों के शोषण से मुक्ति दिलाना था। भूमि सुधार कार्यक्रमों का प्रभाव भारतीय पर निश्चित रूप से सकारात्मक रहा है। भूमि प्रणाली अब पर्याप्त रूप से सरल हो गयी है तथा भूमि सम्बन्धों में समानता स्थापित हो गयी है। कृषक का सरकार से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित हो गया है। विभिन्न अध्ययनों एवं समितियों की रिर्पोटों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि विभिन्न भूमि सुधार कार्यक्रमों का निष्पादन लक्ष्य की तुलना में अत्यन्त कम रहा है।

भूमि सुधार कार्यक्रमों का मूल्यांकन इस आधार पर किया जा सकता है कि अलग अलग राज्यों में भूमि सुधार सम्बन्धी अधिनियम अलग-अलग हैं जिससे राष्ट्रीय स्तर पर उनको एक साथ क्रियान्वित नहीं किया जा सकता है। भूमि सुधार कार्यक्रमों का प्रभावशाली ढंग से क्रियान्वयन नहीं किया गया जिसके परिणामस्वरूप समाज व सरकार को कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। भूमि सुधार के कई कार्यक्रम है जैसे चकबन्दी, अधिकतम जोत कानून, सहकारी कृषि आदि। इन सभी कार्यक्रमों में समन्वय का अभाव होने के कारण आशातीत सफलता नहीं प्राप्त हो सकी।

12.7 सारांश

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य भूमि सुधार के आशय को समझते हुए इसकी आवश्यकता की व्याख्या की गई है। स्वतन्त्रता से पूर्व भारत में भूमि सुधार व्यवस्था की विभिन्न विशेषताओं तथा मुख्य रूप से तीन प्रणालियों जिसमें रैयतवारी व्यवस्था, जमींदारी व महलवारी प्रणालियों की विस्तारपूर्वक विवेचना की गई है। स्वतन्त्रता के पश्चात विभिन्न अधिनियमों के माध्यम से किसानों के हित में अनेक कार्यक्रमों की व्याख्या की गई है। विभिन्न अधिनियमों के लागू होने के पश्चात भी भूमि सुधार कार्यक्रम आज भी प्रभावी तरीके से संमूर्ण राष्ट्र पर एक समान रूप से लाग नहीं हो पा रहा है।

12.8 सन्दर्भ ग्रंथ

1. Beteille, Andre, Six Essays in comparative Sociology, New - Delhi, Oxford,1974.
2. Desai A.R. Social Background of Indian Nationalism, Mumbai, Popular Prakashan, 1974.
3. Dhanagare, D.N. Peasant Movement in India New-Delhi, Oxford,1983. Joshi, P.C. Lnad Reforms in India, New-Delhi, Vikas, 1993.
4. Joshi, P.C Land Reforms in India, New-Delhi, Vikas,1974

12.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. भूमि सुधार से क्या अभिप्राय है? भूमि सुधार की आवश्यकता पर बल दीजिये।
2. स्वतन्त्रता से पूर्व भारत में भूमि सुधार के लिए उठाये गये कदमों की व्याख्या कीजिये।
3. स्वतन्त्रता के पश्चात भारत में भूमि सुधार नीति की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।
4. भारत में भूमि सुधार कार्यक्रमों के मूल्यांकन की विवेचना कीजिये।

इकाई 13

भूमिहीन श्रमिक, प्रवासी श्रमिक तथा विकिसानीकरण

13.0 उद्देश्य
13.1 प्रस्तावना
13.2 किसान का अर्थ
13.3 किसान संरचना का संगत
13.4 भूमिहीन मजदूर
13.5 भूमिहीन मजदूर स्थिति तथा समस्या
13.6 तनाव तथा आन्दोलन
13.7 प्रवासी श्रमिक
13.8 विकिसानीकरण
13.9 विकास तथा विकिसानीकरण
13.10 सारांश
13.11 शब्दावली
13.12 संदर्भ ग्रंथ

13.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप -

- भारतीय कृषि की सामाजिक संरचना को समझ सकेगे
- कृषि कार्य में लगे लोगों की वर्ग संरचना के बारे में जान सकेंगे
- भूमिहीन श्रमिकों तथा प्रवासी श्रमिकों की अवधारणा को समझाना समझ सकेंगे
- उन कारकों की चर्चा करना जिनसे भूमिहीन तथा प्रवासी श्रमिकों को प्रभावित करने वाले कारकों के बारे में जान सकेंगे
- श्रमिकों की सामाजिक आर्थिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- विकिसानीकरण की परिस्थितियों को समझ सकेंगे
- विकास तथा किसानी के संबंधों की व्याख्या कर सकेंगे

13.1 प्रस्तावना

भारतीय समाज में व्यवसाय की दृष्टि से कृषि व्यवसाय सबसे बडा व्यवसाय है। देश की लगभग 72 प्रतिशत जनसंख्या कृषि व्यवसाय में कार्य करती है। भारत की अर्थव्यवस्था के लिए कृषि प्राणवायु है। सकल घरेलू उत्पाद का लगभग पच्चीस प्रतिशत कृषि उत्पाद से आता है। दुनिया में बहुत से ऐसे देश है जो कृषि प्रधान देश है और इन देशों की सामाजिक आर्थिक संरचना कृषि प्रधान ही है। भारत का संदर्भ भी इसी प्रकार के संदर्भ के साथ जुडा हुआ है। समाज विज्ञानों के साहित्य तथा अन्य प्रकार के रचनात्मक साहित्य में ग्रामीण सामाजिक संरचनाओं का प्रचार मात्रा में उल्लेख है। भारतीय समाजशास्त्र में यद्यपि ग्रामीण सामाजिक

संरचना के बहुत से पहलू अनछुए रह गये हैं, पर विकास कार्यक्रमों के संदर्भ में ग्रामीण संरचना के अनेक अध्ययन हुए हैं। भारत के किसानों का अध्ययन ग्राम अध्ययनों के साथ जुडा रहा है। इन अध्ययनों के विषय में समाजशास्त्रियों में विशद भी रहे हैं और यह कहा भी गया है कि भारत की किसानी व्यवस्था की तुलना पाश्चात्य देशों की किसानी व्यवस्था से नहीं की जा सकती। भारत की किसानी व्यवस्था को भारतीय संरचना के संदर्भ में ही समझना पड़ेगा।

13.2 किसान का अर्थ

भूमिहीन श्रमिकों अथवा प्रवासी श्रमिकों के संदर्श को समझने से पहले यह आवश्यक है कि किसानी तथा किसानी व्यवस्था की संरचना को समझ लिया जाय। आखिर किसान (Prasants) का अर्थ क्या है? समाजशास्त्र के शब्दकोष के अनुसार जिस शब्द का हम रोज प्रयोग करते हैं - समाजशास्त्रीय परिभाषा भ्रामक है। प्राय: हमारे लिए जमीदार बडी जोत के स्वामी, छोटी जोत के स्वामी, बटाईदार आदि सभी किसान ही हैं। किसानी परिभाषा को तय करने में समाज वैज्ञानिकों को काफी समय लगा है। मार्क्सवादी व्याख्या में सामंतवादी व्यवस्था भूमि स्वामी सामंत और किसानों में अन्तर करती है। किसान की परिभाषाओं का संदर्म उन व्यक्तियों अथवा समूहों से है जिनका संबंध भूमि से है और वही उनके उत्पादन तथा उपभोग का साधन है। कहीं कहीं पर इसे पारिवारिक श्रम इकाई के रूप में भी चिन्हित किया गया है। द्वयन्टीथ सेन्चुरी शब्दकोष के अनुसार किसान देहात का निवासी है, देहाती है और जिसका काम खेत पर श्रम करना है। ऑक्सफोर्ड शब्दकोष भी करीब-करीब यही कहता है। किसान वही जो देहात में रहता है और भूमि पर श्रम करना ही उसका कार्य है। साधारण प्रचलित शब्दों में कहा जाय तो किसान की व्याख्या त्रि-अर्थीय हो सकती है। किसान का संबंध भूमि से है जिस पर श्रम कर वह उत्पादन करता है। दूसरे अधिकांश समाजों में किसान की प्रस्थिति नीची मानी जाती है। चाहे हम उनको परिश्रमी, कुशल और सम्माननीय क्यों न माने, उनका स्थान समाज में नीचा ही है। तीसरा प्राय: किसानी शब्द क्यों लोगों के विपरीत है। इस अर्थ में किसान मूर्ख है तथा सच बुद्धिमान।

किसानी अध्ययनों के मानवशास्त्रीय प्रारंभिक विद्वान राबर्ट रेडफील्ड ने किसानी समाजों के अध्ययनों में सावधानी बरतने के लिए आग्रह किया था। रेडफील्ड की मान्यता थी कि किसानी और किसानी समाज की व्याख्या अलग-अलग समाजों में अलग-अलग हो सकती है। यूरोपीयन समाजों में गढ़ी गई परिभाषाएँ संभव है भारत में सार्थक न हो। रेडफील्ड की परिभाषा के दो तत्व हैं। पहले तत्व का संबंध उनकी आजीविका के स्वरूप से संबंधित है तथा दूसरा तल किसानी के अन्य संस्तरणों से संबंधित है। एक और परिभाषा शामिन की है। शामिन के अनुसार किसानी बहुउद्धेश्यीय सामाजिक संगठन है, मुख्य आजीविका का स्रोत भूमि है, छोटे समुदायों में पारंपरिक संकृति का निर्वाह ही मूल है तथा निःसन्देह किसानी पर प्रमुत्व किसानी से बाहर के लोगों का है।

एक बात और स्पष्ट करना आवश्यक है। किसानी और किसानी समाज की संरचना साधारणतया एक रूपाकार नहीं है। इस समाज की संरचना काफी जटिल है तथा काफी संस्तुत है। सारी संरचना में श्रबहुत सी श्रेणियाँ समूह तथा विभाजन है, जिनका संवंध किसानी से नहीं

है। इन समूहों की भूमिका तथा प्रकृति सारी संरचना में निहित है। आंद्रे बीताई के अनुसार किसानी संरचना की यूरोपीयन दृष्टि भारतीय संदर्भो को समझने में बहुत समर्थ नहीं है। सत्यता यह है कि मारतीय किसानी तथा ग्राम संरचना बहुत अधिक संस्तुत है। जाति, भूमि स्वामित्व तथा वर्ग संरचना इसे प्रभावित करती है।

13.3 किसान संरचना का संस्तुत

श्रमिकों के संदर्भ में चर्चा करने से पहले यह आवश्यक है कि उन्हें किसानी संरचना में स्थापित किया जाय। दूसरे शब्दों में यह पहले लिखा जा चुका है कि किसानी समाज काफी अधिक संस्तुत है, अत: यह देखना आवश्यक है कि संस्तरण के इस स्वरूप में श्रमिक कहाँ आते हैं। यह बात अब स्पष्ट है कि मार्क्स किसानों को क्रांति के लिए महत्वपूर्ण नहीं मानता था। इसलिए कृषक संरचना की ओर मार्क्स का विशेष ध्यान भी नहीं था। पर बाद में स्वयं रूस और बाद में चीन में क्रांति के महत्वपूर्ण आधार किसानों में ही उभरे। लेनिन ने कृषक संरचना को ध्यान से देखा और सारी संरचना में किसानों को तीन श्रेणियों में बाँटा। ओसोण्सकी ने लेनिन के विचारों की समीक्षा करते हुए जिन तीन श्रेणियों का उल्लेख किया है वे हैं - कुलक (अमीर किसान), स्त्रेदनियाक, (मध्यम वर्गीय किसान) बेदीनयाक (गरीब किसान)।

भारतीय संदर्भ की यदि समीक्षा की जाय तो सारी किसानी संरचना न केवल गैर-बराबर समूहों से भरी हुई है, इन समूहों के अपने-अपने हित भी हैं और इन हितों के अपने तनाव और संघर्ष है। इन हितों और संघर्ष का मूल स्त्रोत जमीन का स्वामित्व तथा स्वामित्व का अंतर है। विताई के अनुसार सामान्यत: भारतीय किसानी संरचना को तीन भागों में बाँटा जा सकता है।

1. ऐसे लोग जो खेती नहीं करते और भूमि के स्वामी हैं।
2. (अ) वे किसान जो अपने ही स्वामित्व की भूमि पर खेती करते हैं।
   (आ) सिकमी काश्तकार जो लगान या किराया देकर भूमि पर खेती करते हैं और उन्हें इस संबंध में कानूनी सुरक्षा प्राप्त है।
3. बटाईदार तथा कृषि श्रमिक।

   यदि इस वर्गीकरण को ध्यान से देखा जाय तो पहली श्रेणी किसान है ही नहीं। दूसरी श्रेणी किसान श्रेणी है और तीसरी श्रेणी भी संदेहास्पद किसानी श्रेणी है।

   ए. आर. देसाई के अनुसार भारत के अलग-अलग प्रदेशों में अलग-अलग किसानी संरचनाएँ हैं। ब्रिटिश राज में तीन श्रेणियाँ उन्होंने बताई वे हैं -

1. खेती न करने बाले भूमिपति।
2. खेती करने वाले भूमिपति अथवा किरायेदार।
3. भूमिहीन श्रमिक।

   मद्रास की इसी संरचना का उल्लेख करते हुए देसाई ने निम्न वर्गीकरण को प्रस्तुत किया -

1. खेती का काम न करने वाले भूमिपति।
2. खेती का काम न करने वाले किरायेदार भूमिपति।
3. खेती करने वाले भूमिपति।
4. खेती का काम करने वाले किरायेदार।

5. प्रोलेतेरियत।

इससे मिलता-जुलता एक और वर्गीकरण उदय मेहता का है, जिनके अनुसार किसानी संरचना की बार श्रेणियाँ की जा सकती है -

1. अमीर किसान तथा जिनके पास 15 एकड़ से अधिक जमीन है और जिनके पास सारी जमीन का तीस प्रतिशत स्वामित्व में है। यह सम्पूर्ण किसानी जनसंख्या का सात प्रतिशत है।
2. मध्यम वर्गीय किसान जिनके पास पाँच से पन्द्रह एकड जमीन है। इनके पास सारी जमीन का तीस प्रतिशत है और जो सारे देश की किसानी जनसंख्या का 19 प्रतिशत है।
3. गरीब किसान जिनके पास 1 से 5 एकड जमीन है। यह जोत अलाभकर खेती की जोत का है। सारी भूमि का यह सत्रह प्रतिशत है और सारी किसानी जनसंख्या का 30 प्रतिशत इस खेती को करता है।
4. कृषि श्रमिक जिनके पास या तो जमीन नही है या एक एकड से कम जमीन है। सारी जमीन का यह दो प्रतिशत है और सारे देश का चवालीस प्रतिशत इसी किसानी का है।

अन्त में एक और वर्गीकरण की चर्चा की जा सकती है। भारतीय संदर्भ में किसानी संरचना का एक वर्गीकरण डेनियल थार्नर ने किया है। थार्नर के अनुसार सारी संरचना को निम्न श्रेणियों में देखा जा सकता है

1. मालिक : जिनका भूमि सम्पत्ति पर कानूनी अधिकार है। इनकी रूचि सम्पत्ति से मिलने वाली आय को ऊँचा रखने तथा श्रम मूल्य को कम से कम रखने में है। ये हैं :

   (अ) बडे जमीदार

   (आ) अमीर भूमिपति
2. किसान : जिनकी रूचि जमीन और किसानी में है पर उनके जमीनी कानूनी अधिकार मालिकों के पास है। ये हैं:

   (अ) लघु जोत के किसान

   (आ) सीमान्त किसान
3. मजदूर : ये दे लोग हैं जो मुख्यत: जमीन पर श्रम कर अपना जीवन-यापन करते हैं। ये है:

   (अ) गरीब किसान

   (आ) बटाईदार

   (इ) भूमिहीन श्रमिक

   इन श्रेणियों से एक बात स्पष्ट है कि प्राय: समाज वैज्ञानिकों ने अलाभकर जोत तथा कम आय की जीत पर काम करने वालों को भी श्रमिक के रूप में स्वीकार कर लिया है। हरेक हालत में भूमिहीन श्रमिक इस संरचना में सबसे निम्न स्थान पर है। इस संरचना का सारा सरूप निम्न चित्र में देखा जा सकता है :

किसानी संरचना तथा उसमें भूमिहीन श्रमिकों का स्थान

बड़े जमीदार अमीर किसान बड़े लगान या किराया देने वाले किसान	मालिक / जमीदार
लाभ की जोत मध्यम की जोत किसानी अधिक जोत के किरायेदार	किसान/ स्वयं की किसानी भूमि किसान / खुद की जोत या किरायेदारी
लघु जोत किसान सीमान्त किसान	
बटाईदार गरीब किसान भूमिहीन मजदूर	मजदूर

13.4 भूमिहीन मजदूर

किसानी संरचना की सारी विवेचना के बाद यह तथ्य स्पष्ट है कि भूमिहीन श्रमिकों का स्थान इस संरचना में सबसे निम्न है। ऐतिहासिक तथ्यों के अनुसार भूमिहीन श्रमिकों की संख्या लगातार बड़ी है। ए. आर. देसाई के अनुसार 1882 में जहाँ इनकी संख्या7.6 मिलियन थी, 1931 में इनकी संख्या 33 मिलियन तक पहुँच गई। आज इनकी जनसंख्या क्या है? सन् 2001 की जनगणना के अनुसार लगभग दस करोड़ चौहत्तर लाख कृषि श्रमिक थे, जिनमें से लगभग 5 करोड 73 लाख पुरुष तथा 5 करोड स्त्रियाँ थी। कृषिहर प्रदेशों जैसे पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बंगाल, बिहार, मध्यप्रदेश आंद्र प्रदेश कर्नाटक और महाराष्ट्र में इनकी संख्या अधिक है। जनगणना भूमिहीन श्रमिकों को समाजशास्त्र या मानवशास्त्र की अवधारणाओं के अनुकूल परिभाषित कर गणना नहीं करती। फिर भी कृषि श्रमिकों की संख्या के बारे में यह एक अन्दाज अवश्य देती है। ऐतिहासिक दृष्टि से अब यह भी कहा जा रहा है कि भूमिहीन श्रमिकों की संख्या कृषि की अवस्थाओं के परिवर्तन के साथ बढ़ती ही जा रही है।

भूमिहीन श्रमिकों की किसानी संरचना में निम्न लाक्षणिक विवेचना की जा सकती है:

1. भूमिहीन श्रमिकों का संबंध भूमि के स्वामित्व से नहीं है। यदि भूमि का सामिल है भी तो वह बहुत मामूली है। हरेक हालत में अपनी आजीविका के लिए उन्हें कृषि व्यवस्था पर ही आश्रित रहना पड़ता है।
2. सम्पूर्ण कृषि व्यवस्था में यह सबसे गरीब श्रेणी है। आर्थिक सर्वेक्षणों ने इस तथ्य की पुष्टि की है कि भूमिहीन श्रमिक प्राय: सबसे निम्न श्रेणी में आते हैं।
3. कृषि व्यवस्था में कोई भी परिवर्तन सबसे पहले भूमिहीन श्रमिकों को प्रभावित करता है। इसलिए किसी भी आर्थिक आपदा का संवेदनशील शिकार भुमिहीन श्रमिक है। प्राकृतिक आपदाओं अथवा कृषि लागत की कीमतों अथवा उत्पादन की कीमतों का कोई भी परिवर्तन भूमिहीन श्रमिकों को प्रभावित करता है।
4. नगरीय मजदूरों की अपेक्षा किसानी मजदूर अन्य वैकल्पिक मजदूरी के कार्यो से वंचित है। केवल भूमि का कार्य ही उसका एक मात्र स्त्रोत है।

5. भूमिहीन श्रमिकों की कार्य करने की अवस्थाएँ श्रमिकों की आम दशाओं में सबसे नीची है। महाजनों के कर्ज के कारण प्राय: बंधुआ मजदूरों की बडी संख्या इसी वर्ग में से आती है। कृषि के बंधुआ मजदूरों की जीवनशैली प्राय: भूमिहीन कृषक मजदूरों से भी नीची है। सम्पूर्ण या अर्द्ध बंधुआ मजदूरी देश के बहुत से माँगों में प्रचलित है बहुत से सामाजिक समूह इसी प्रकार की मजदूरी के लिए जाने जाते हैं। गुजरात के डबला और हाली, तमिलनाडु के आंध्र प्रदेश के अकेला और राजस्थान के हाली ऐसे ही समूहों के उदाहरण है। देश के बहुत से हिस्सों में मध्य युग के शोषण तथा सामाजिक बहिष्कार जैसी पीरस्थीतयाँ मौजूद है।
6. प्राय: श्रमिकों का भुगतान मुद्रा में नहीं है। श्रम के बदले उत्पादन के अंश का भुगतान सामान्य प्रचलन है। ऐसे भी प्रचलन है जिनके अन्तर्गत इन समूहों का मजदूरी कार्य छोडना इतना आसान नहीं है। पारंपरिक ग्राम पंचायतें न केवल इस पर रोक लगाती है- साथ ही कार्य करने के लिए वाध्य भी करती है।
7. जाति संरचना में भूमिहीन मजदूर निम्न तथा पिछड़ी जातियों में से आते हैं। यह जाति संरचना दस्तकार जाति रचनाओं से भिन्न है। भूमिहीन श्रमिक होना स्वयं में इनकी जातिगत पहचान है। यद्यपि जाति तथा भूमिहीन मजदूरों के संबंधों को आकना कठिन है पर वर्ग संरचना की दृष्टि से इनका स्थान निर्धारित किया जा सकता है।
8. यद्यपि भूमिहीन श्रमिक भूमि संस्तरण में सबसे नीचे है पर सभी भूमिहीन श्रमिक नहीं है। श्रीनिवास के अनुसार दस्तकार तथा सेवा जातियाँ जैसे नाई, धोबी तथा टोकरी बनाने बाले श्रमिक नहीं है। उनके पास भूमि भी नहीं है।

बोध प्रश्न - 1

1. किसान शब्द का क्या अर्थ हे?
2. किसानी संरचना के मुख्य लक्षणों को समझाइये।
3. किसानी संरचना के संस्तर्तों को नीचे से ऊपर लिखिये।
4. जनगणना 2001 के अनुसार भारत में कितने कृषि श्रमिक थे?
5. भूमिहीन श्रमिकों के लक्षणों के सही आधारों को चिन्हित (✓) कीजिये।

(अ) संबंध भूमि से है। सही☐ ☐ गलत☐ ☐

(आ) सिवाय खेती के श्रम का कोई अन्य विकल्प नहीं। सही☐ ☐ गलत☐ ☐

(इ) भूमि श्रमिक मजदूर बंधुआ मजदूर है। सही☐ ☐ गलत☐ ☐

(ई) निम्न जातियों तथा भूमि श्रमिकों का संबंध है। सही☐ ☐ गलत ☐

13.5 भूमिहीन मजदूर : स्थिति तथा समस्याएँ

ऐतिहासिक दृष्टि से यह कहा जाता है कि भारतीय कृषि व्यावस्था में परिवर्तन तथा भूमि स्वामित्व के बदलते प्रतिमानों के कारण भूमिहीन श्रमिकों की संख्या बढ़ी है। कुछ अर्थो में

यह भी कहा गया है कि लघु जीत के किसानों और सीमान्त किसानों ने अपनी-अपनी जमीनें खोई है और उनका स्थान भूमिहीन मजदूरों में शामिल हो गया है। ए. आर. देसाई के अनुसार बडी जोत के स्वामियों की वृद्धि के साथ-साथ भूमिहीन श्रमिकों की संख्या बढ़ी है। यहाँ तक कि सारी कृषि कार्य में लगी जनसंख्या का यह लगभग आधा है। गरीब तथा सीमान्त किसानों की भी हालते ऐसी हो गई है कि उनमें और भूमिहीन श्रमिकों में अन्तर कर पाना कठिन है। गरीब किसानों अर्द्ध प्रोलेतेरियत हैं और भूमिहीन मजदूरों को मिलाकर कृषि व्यवस्था में बहुत बड़ी जनसंख्या प्रोलेतेरियत की है। देसाई ने इसे प्रोलेतेरियतकरण (Proleteratization) भी कहा है। अम्बिका घोष का मानना है कि कृषि में पूँजीवाद की वृद्धि के कारण भूमिहीन श्रमिकों की संख्या बढ़ी है। भारत में अब तक यह समझा जाता रहा है कि पूँजीवाद का संबंध औद्योगिक विकास तथा उद्योगों में बढ़ती मजदूरों की संख्या से रहा है। पर यदि गौर से देखा जाय तो कृषि में आया पूँजीवाद सामाजिक स्तुतों को प्रभावित कर गया है। घोष दो मिथकों की भी चर्चा करते हैं। पहली भ्रान्ति इस धारणा के साथ जुड़ी हुई कि भूमि मालिकों की सम्पन्नता तथा विपन्नता के साथ भूमिहीन श्रमिकों का संबंध है। वस्तुत: ग्रामीण इलाकों में जैसे-जैसे गरीबीकरण होता है - भूमिहीन मजदूरों की संख्या में भी परिवर्तन होता है। दूसरे यह भी भ्रांति है कि भूमिहीन मजदूरों की संख्या का संबंध मांग और पूर्ति के सिद्धान्त से है। इस सिद्धान्त के पोषक यह भूल जाते हैं कि कृषि खासतौर से पिछड़ी कृषि व्यवस्था, औद्योगिक व्यवस्था से भिन्न है। अत: औद्योगिक मजदूर व्यवस्था किसानी मजदूर व्यवस्था पर खरी नहीं उतरती। प्रो. श्रीनिवास की भी मान्यता है कि पिछली शताब्दी के प्रारंभ से ही श्रमिकों की संख्या बढ़ी है। वे इसका कारण किसानी सामाजिक संरचना में बदलाव मानते हैं।

आद्रे बिताई भी अपने अध्ययनों से यह मानते हैं कि भूमि स्वामित्व की स्थितियों में आ रहे परिवर्तनों ने कृषि श्रमिकों की संख्या बढ़ाई है। उनका मानना है कि श्रमिकों के विषय में यह सोचना गलत है कि उन्हें मजदूरी नकद ही मिलती है। वस्तुत: पारंपरिक आधारों से बंधे हुए श्रमिकों का भुगतान वस्तुओं के रूप में भी किया जाता है।

यह विचित्र संयोग है कि विकास की प्रक्रियाओं ने भी मूमिहीनता को प्रोत्साहित किया है। प्राकृतिक आपदाओं से प्रभावित क्षेत्रों के किसानों ने अपना भूमि स्वामित्व खोया है और उन्हें भूमिहीन श्रमिक बनना पड़ा है। विकास की प्रक्रियाओं जैसे बांध, नहर, सड़क आदि के निर्माण ने भी किसानों की जमीनें छीनी हैं। पुनीककर के अनुसार दबंग जातियों ने भी छोटी जोतों को हडपने का प्रयास किया है। इसमें बडी जोत और अधिक बढ़ी है, पर छोटी जोत के किसान अपनी जमीन से बेदखल हो गये हैं। भूमिहीन मजदूरों की संख्या में वृद्धि के ये कारण भी स्वीकार किये जाते हैं।

भूमिहीन मजदूरों की सामाजिक आर्थिक स्थिति निम्न स्थिति है। भूमिहीन मजदूरों का भूमि कार्य वर्ष भर का काम नहीं है। यह मौसमी कार्य है। पर इस अवस्था में क्षेत्रवार विभिन्नताएँ हैं। दक्षिण तथा पश्चिम भारत की अपेक्षा पूर्वी भारत में भूमिहीन श्रमिकों के लिए अधिक कार्य हैं। यद्यपि यह भी बात सत्य है कि सामान्यत: भारत में कृषि के लिए मजदूरों की कोई कमी नहीं है। भारत सरकार ने कृषि श्रमिकों के एक सर्वेक्षण में भूमिहीन श्रमिकों के संबंध में कुछ तथ्य सामने आए हैं। नौ राज्यों (उत्तर प्रदेश, असम, बिहार, उडीसा, पश्चिम

बंगाल, तमिलनाडु महाराष्ट्र. मध्य प्रदेश और पंजाब) में सम्पन्न इस सर्वेक्षण के अनुसार 30 प्रतिशत खेत मजदूरों में से आधों के पास भूमि नहीं है। आधों के पास भूमि तो है पर अति थोडी है। इनमें से 31 प्रतिशत मजदूर ऐसे हैं, जिन्हें वस्तुओं के रूप में मजदूरी दी जाती है। 7.7 प्रतिशत ऐसे हैं जिन्हें नकद तथा वस्तु दोनों ही रूप में मजदूरी मिलती है। औसत पुरुषों की मजदूरी 17 रुपये है और औरतों को उसी कार्य के लिए नौ रुपये दिये जाते हैं। भूमिहीन मजदूरों में एक ही काम के लिए पुरुषों और महिलाओं की मजदूरी में अन्तर है। सारे कृषक परिवारों में लगभग 14.2 प्रतिशत परिवार ऐसे हैं जो भूमिहीन श्रमिक परिवार हैं। सर्वेक्षण बंधुआ मजदूरी से अपरिचित है। सारे देश में एक बहुत बड़ी संख्या बंधुआ मजदूरों की है जिनका संबंध भूमि के अभाव में मजदूरी करने के साथ में है। कर्ज के कारण अथवा किन्हीं अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के कारण मजदूर बंधुआ बनते हैं जिसका पीढ़ी-दर-पीढ़ी होता है।

पुनालेकर के अनुसार इस प्रकार के श्रमिकों की दशा यथार्थ में दयनीय है। जान बेमान के अध्ययन के अनुसार भूमिहीन किसान धीरे-धीरे हाशिये पर जा रहे हैं। बहुत कम मजदूरी पर उन्हें अपने आपको अस्तित्व में रखना पडता है। वर्ष भर उनके लिये कोई सुनिश्चित कार्य नहीं है। स्वास्थ्य, निवास अथवा शिक्षा, किसी भी क्षेत्र में यह वर्ग सुविधाओं से वंचित है। भूमिहीन मजदूरों को संगठित करने के कई प्रयास किये गये हैं, पर अभी तक ये प्रयास असफल रहे हैं। राज्य भी विकास कार्यक्रमों के माध्यम से काम कर रहा है, पर इसमें बहुत बडी सफलता नहीं मिली है। वर्तमान में भूमिहीन मजदूरों को उनके अस्तित्व तथा दिन-प्रतिदिन की आवश्यकताओं की पूर्ति की है।

आखिर भूमिहीन श्रमिक संगठित होकर अपने अधिकारों के लिये लडते क्यों नही हैं? यह महत्वपूर्ण प्रश्न है। यह कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण वर्ग असम्बद्धजन है। सारे बर्ग में विभाजन बहुत है। अत: न उनके पास कोई संगठन है और न उनकी मांगे प्रभावशाली तरीके से प्रकट हो पाती है। उनके बारे में मिथक भी बहुत है। प्राय: उन्हें कमजोर और कामचोर किस्म का माना जाता है, जिसकी लालसा कम काम कर अधिक धन कमाना है। उनकी श्रमिक क्षमताओं के बिषय में भी हमेशा सन्देह व्यक्त किये जाते हैं।

13.6 तनाव तथा आन्दोलन

कृषि की वर्तमान स्थितियों के कारण किसानी सामाजिक संरचना में अनेक तनाव तथा संघर्ष पैदा हुए हैं, जिन्होंने आन्दोलनों को जन्म दिया है। किसान आन्दोलनों के बहुत से मुद्दे हैं और भूमि सुधार उनमें से एक मुद्दा है। भूमि सुधार का एक अर्थ है भूमि के स्वामित्व का पुनर्वितरण तथा भूमिहीनों को भूमि की प्राप्ति। पश्चिम बंगाल तथा बाद में आम्र प्रदेश मध्यप्रदेश छत्तीसगढ़ तथा बिहार में उपजा नक्सलवादी आन्दोलन इसी तनाव की उपज था। नक्सलवादी आन्दोलन की मुख्य विचारधारा भूमि के पुनर्वितरण के साथ जुडी हुई थी। वैचारिक दृष्टि से मार्क्सवादी आधार इस आन्दोलन का रहा है। आजादी के तुरन्त बाद आधं प्रदेश में तेलंगाना आन्दोलन की पृष्ठभूमि भी इसी तनाव के साथ जुडी हुई थी। बाद में गाँधीवादी विचारधारा के आधार पर आचार्य विनोबा भावे ने भूदान और ग्रामदान आन्दोलनों के माध्यम से भूमि वितरण तथा भूमिहीनों को आजीविका के लिए भूमि देने का कार्यक्रम प्रारंभ किया था।

भूमिहीन मजदूरों के संगठन निर्माण तथा उनके माध्यम से आन्दोलन खडा करने के प्रयास नये आन्दोलनों को जन्म दे रहे हैं।

13.7 प्रवासी श्रमिक

प्रवासी श्रमिक वे श्रमिक हैं जो भूमिहीन मजदूरों की तरह अपनी आजीविका के लिये गाँव में ही स्थिर नहीं रह जाते। गाँव छोड़ कर अन्यत्र मजदूरी करने के लिये जाने वाले मजदूर प्रवासी मजदूर हैं। ऐसे मजदूर वे मजदूर भी हो सकते हैं, जो मरण-पोषण के' लिए अन्यत्र चले जाना श्रेष्ठ समझते है और वे मजदूर भी हो सकते हैं जो किन्हीं कारणों से विस्थापित हो गये हैं। कृषि अवस्था में कोई भी उतार-चढाव सामान्यत: मरण-पोषण की समस्या उत्पन्न करता है और श्रमिकों को आसपास के क्षेत्रों महानगरों तथा अन्य कृषि क्षेत्रों की ओर पलायन करना पडता है। बिहार तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश इसका अच्छा उदाहरण है। पंजाब के सम्पन्न कृषि क्षेत्रों में जहाँ किसानी मजदूरों की कमी है - हजारों की संख्या में बिहार से मजदूर प्रवास करते हैं। महानगरों में काम की तलाश में आये हजारों मजदूर यद्यपि कृषि कार्य नहीं करते पर गैर कृषि कार्यो में अपने जीवन-यापन की तलाश करते हैं।

विस्थापन भी प्रवासी श्रमिकों का एक रूप है। विस्थापन वह प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत कथित संमूर्ण सामाजिक भलाई के लिए भूमि तथा अन्य सम्पत्ति को ग्रहण कर लिया जाता है तथा भूस्वामी को मुआवजा देकर उस स्थान से उसे बेदखल कर दिया जाता है। सम्पूर्ण विस्थापन वह है जिसमें जीवन-यापन के साधन, घर तथा सभी समाप्त हो जाते हैं। अन्यथा विस्थापन आशिक है। पिछले कई दशकों में विकास कार्यो की एक बडी आलोचना ग्रामीण क्षेत्रों में विस्थापन की रही है। बडे बांध, कारखाने तथा सडकों के विकास ने ग्रामीण वासियों को विस्थापित किया है। विस्थापन का बहुत बडा असर आदिवासी समाजों पर पडा है। जो आँकड़े उपलब्ध हैं उनके अनुसार आदिवासी ही सबसे अधिक विस्थापित हुए हैं। आदिवासी समाजों की अपनी सामाजिक आर्थिक संस्थागत व्यवस्थाएँ हैं और इन व्यवस्थाओं में कोई भी हस्तक्षेप उन्हें जड़ से उखाड देता है। कोई भी विस्थापन उनके लिए संमूर्ण सामाजिक हानि है। यही बात ग्रामीण समाज के ऊपर भी लागू होती है। भूमि या भूमिगत कार्यो से विस्थापन का अर्थ स्थापित सामाजिक व्यवस्था से छूट जाना है। यह केवल मौतिक आधारों की समाप्ति ही नहीं है, अपितु सामाजिक सांस्कृतिक पीरवेश से भी मुक्ति है।

प्रवासी मजदूर दो प्रकार के हैं। पहला जिनका दूसरे स्थान पर प्रवास अस्थायी है। वे अपना परिवार मूल स्थान पर छोड जाते हैं तथा कमा कर वापस आते हैं तथा कमाने के लिए फिर वापस जाते हैं। ऐसे मजदूरों का सम्पर्क बराबर अपने मूल स्थान से जुडा रहता है। प्राय: कठिन मौसम में मजदूरी की तलाश में पलायन अधिक होता है। दूसरे वे मजदूर हैं जो अपने मूल स्थान पर सर्वस्व खो चुके हैं और उनके पास प्रवासी होने के सिवाय कोई चारा नहीं है। ऐसे लोग किसी भी स्थान में अतिरिक्त श्रमिक स्थिति पैदा कर सकते हैं। ऐसे प्रवासी मजदूरों की संख्या बढ़ी है। अधिक मजदूरी चाहने की इच्छा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी देखी जा सकती है। कुशल श्रमिकों का इस देश से एक बड़ा पलायन होता है।

पुनालेकर के अनुसार प्रवासी मजदूरों के संबंध में बहुत से मिथक है जैसे तुलनात्मक दृष्टि से वे सम्पन्न हैं, वे बेईमान हैं, चोर हैं और कामचोर हैं, वे पैसा बाज पर चलाते हैं और धन इकट्ठा कर रहे हैं। गुजरात और महाराष्ट्र के प्रवासी मजदूरों के अध्ययन संदर्भ में वे मानते हैं कि इस प्रकार की मान्यताओं ने स्थानीय तथा प्रवासी गरीबों के बीच अन्तर को बढ़ाया है। मजदूरी की मौसमी प्रकृति तथा उनका बार-बार एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना, उन्हें संगठित नहीं होने देता। मजदूरी की प्रक्रिया में असुरक्षा ने भी इन मजदूरों को संगठित नहीं होने दिया। कई अध्ययनों से यह सिद्ध हुआ है कि प्रवासी मजदूरों में बहुत बडी संख्या आदिवासी तथा अस्पृश्य जातियों की है। शहरों में इनका निवास गंदीबस्तियों या चाल में है। इनके जीवन की अवस्थाएँ असहनीय तथा दयनीय है। ग्रामीण संरचना में अस्पृश्य जातियों के अपने तनाव हैं और ये तनाव इन मजदूरों को प्रवासी मजदूर बना देते है।

बोध प्रश्न - 2

1. भूमिहीन मजदूरों की संख्या में वृद्धि के कोई दो कारण बताइये।
2. विकास की प्रक्रियाओं ने भूमिहीन मजदूरों की संख्या में किस प्रकार वृद्धि की है?
3. बंधुआ मजदूरी से आप क्या समझते है?
4. भूमिहीन मजदूरों के आन्दोलन का मुख्य मुद्दा क्या है?
5. प्रवासी श्रमिक कौन लोग हैं? इनके लक्षण बताइये।

13.8 विकासनीकरण (Depeasantization)

किसानी से संबंधित प्रकाशित अध्ययनों में धीरे-धीरे यह बात स्पष्ट की जाने लगी है कि किसानी अब लाभप्रद व्यवसाय नहीं रहा है। कृषि उत्पादन गिरा है और कुछ लोगों की मान्यता है कि ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबीकरण (Pauperization) बढ़ा है। ए. आर. देसाई के अनुसार स्वतन्त्रता के बाद बदली परिस्थितियों ने लोगों को किसानी छोड़ने को बाध्य किया है। विकिसानीकरण की यह धारणा जान ब्रेमन ने अपनी पुस्तक Of asants Migrants and Paupers में रखी थी। उनकी मान्यता थी कि धीरे-धीरे किसान अपनी किसानी से विमुख हो रहा है तथा किसानी व्यवसाय छोड रहा है। जो आँकडे उपलब्ध हैं, उनके अनुसार कृषि उत्पादन घट रहा है और कृषि अस्तित्व के लिए लाभप्रद नहीं रही है। जो लोग पद लिख गये हैं और शहरी नौकरियों में चले गये हैं, उन्होंने अपनी भूमि का विक्रय करना प्रारंभ किया है और बेनामी ही सही अपनी कृषि व्यवस्था को छोड रहे हैं। गैर खेती व्यव्साय में वृद्धि हुई है और ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि के प्रति रूचि भी घटी है।

विकिसानीकरण का मापन एक और तथ्य से हो सकता है। 1983 तक बारह राज्यों में ग्रामीण गैर कृषि कार्य बीस प्रतिशत से नीचे था। बीस वर्ष बाद 1999-2000 में इन्हीं बारह राज्यों में गैर कृषि कार्य बीस प्रतिशत से अधिक था। अभी मी केवल पाँच राज्य ऐसे हैं जो गैर कृषि व्यवसाय में बीस प्रतिशत से नीचे है। 2002 में यह प्रतिशत 35.2 हो गया। पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में सभी जातियों ने गैर कृषि व्यवसायों को अपनाना शुरू किया है। ये व्यवसाय नगरीय व्यवसाय है।

किसी भी समाज के विकास के लिए यह आवश्यक है कि सभी समूहों को समानरूप से लाभ पहुँचे। विशेष रूप से उन समुदायों को जो काफी लम्बे समय से प्रगति के लाभों से वंचित रह गये हैं। विकास के प्रयत्नों के लाम बराबरी के स्तर पर ही देखे जाने चाहिए। यदि ये प्रयास गैर-बराबरी को बढ़ावा देते हैं तो ये प्रयास किसी भी व्यवस्था में असमान वितरण पैदा कर सकते हैं। योजनाओं के परिणाम यह बताते हैं कि कृषि की अपेक्षा उद्योगों पर अधिक जोर दिया जाता रहा है, अत: किसानी रूचि भी समाप्त होती जा रही है। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि कृषि व्यवस्था में कृषि करने की सुविधाओं का विकास हुआ है पर इसका लाभ बडे तथा सम्पन्न किसानों को हुआ है। लाभों के इस असमान वितरण में कुछ क्षेत्र ऐसे भी हैं जिन्हें कृषि की सुविधाओं का लाभ नहीं मिला है और सम्पन्नता के स्थान पर विपन्नता बढ़ी है। लाभ के इस असमान वितरण ने किसानी पर भी प्रभाव डाला है। गैर जिम्मेदार विकास की प्रक्रियाओं ने पर्यावरणीय समस्याएँ उत्पन्न की है। इसके अतिरिक्त विकास के इन साधनों का यह परीक्षण भी शेष है कि ये किसानी के लिए लाभप्रद है या नहीं?

विकिसानीकरण (de-peasantization) के सारे आधार उपर के विश्लेषण के साथ जुडे हुए हैं। बहुत से स्थानों पर विकास के कार्यक्रमों ने स्वयं किसानों की जमीन छीन ली है, जिनका उल्लेख विस्थापन के संदर्भ में पहले किया जा चुका है।

विकिसानीकरण के संदर्भ में एक प्रश्न दीपांकर गुप्ता ने गाँवों के अस्तित्व के संबंध में उठाया है। उनका प्रश्न है - क्या गाँव नष्ट हो रहे हैं? उनकी मान्यता है कि ग्रामीण संस्कृति बदल रही है, पुराने व्यवसायों के प्रति रूचि घटी है, जातियाँ अब इतनी प्रभावशील नहीं रही है। ग्रामीण किसानी अर्थव्यवस्था अब रक्तहीन तथा जीवनहीन हो गई है। गाँवों के अस्तित्व पर इन्हीं कारणों से प्रश्न चिन्ह लग गया है।

13.9 सारांश

इस इकाई के तीन अंश हैं। पहला अंश ग्रामीण संस्तृत रचना के विश्लेषण में भूमिहीन मजदूरों को स्थापित करता है। भूमिहीन मजदूर गाँव की किसानी संरचना में सबसे निम्न स्तर की जनसंख्या है। यह जनसंख्या न केवल निम्न स्तर की है, साथ ही सबसे गरीब भी है। उनका सबसे बडा सवाल अस्तित्व का सवाल है। ये ही श्रमिक अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए प्रवास करते हैं तथा अपने मूल स्थान से अलग अन्य क्षेत्रों में किसानी या गैर किसानी कार्य करते हैं। इन श्रमिकों का संबंध, विस्थापन के लिए, कई कारणों से है। अन्त में दो प्रश्न उठाये गये हैं। पहले प्रश्न का संबंध विकिसानीकरण से है। मान्यता के अनुसार धीरे-धीरे ग्रामीण क्षेत्रों में किसानी व्यवसाय घट रहा है और लोग अन्य व्यवसायों की ओर अग्रसर हो रहे हैं। इसीलिए यह प्रश्न भी उठा है कि किसानी व्यवस्था के इन बदलते स्वरूपों के कारण क्या गाँव समाप्त हो रहे हैं।

गाँव की इन समस्याओं पर बहुत अधिक विचार विमर्श नहीं हुआ है। विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न स्तरों पर भूमिहीन मजदूरों और प्रवासी मजदूरों के संबंध में और अधिक जानकारी एकत्र कर उसके विश्लेषण की आवश्यकता है।

13.10 शब्दावली

किसान : वे व्यक्ति या समूह जिनका संबंध भूमि से है तथा भूमि ही जिनके उत्पादन तथा उपभोग का स्त्रोत है। संगत संस्तरण - वे सामूहिक श्रेणियाँ जो श्रेष्ठता तथा निम्नता के आधार पर विभाजित हैं।

भूमिहीन मजदूर : वे मजदूर जिनके पास भूमि का स्वामित्व नहीं है और जिनकी जीविका का मुख्य आधार भूमि संबंधी कार्यो की मजदूरी से है।

बंधुआ मजदूर बड़े किसानों अथवा साहूकारों के कर्ज या अन्य उत्तरदायित्वों के कारण बंधे हुए मजदूर जिनको अपने श्रम के लिये नियमित मजदूरी नहीं मिलती।

लघु जोत : वह जोत जिसका आकार बहुत छोटा है तथा जो अलाभकारी कृषि के साथ जुड़ी हुई है। प्रवासी श्रमिक. वे श्रमिक जो अपने मूल स्थान से अन्यत्र मजदूरी करते हैं।

गरीबीकरण : आर्थिक दृष्टि से सामान्य आर्थिक अवस्था से गरीबी अवस्था की ओर बढ़ाना।

विकिसानीकरण: किसानी व्यवसाय छोड़कर किन्हीं अन्य व्यवसायों की ओर अग्रसर होना।

13.11 संन्दर्भ ग्रंथ

1. P.C. Joshi (1974), Land reforms in Indian, Vikas, New Delhi,
2. Andre Beteille (1974), Six essays in Comparative Sociology, New Delhi, Oxford.
3. Desai, A.R. (1993) Social Background of Indian Nationatism, Mumbai, Populer Prakashan.
4. Ambika Ghosh (1988), Emerging Capitalism in Indian Agriculture, New Delhi, popular Prakashan.
5. D.N. Dhanagare (1983), Peasent movement in India, New Delhi, oxford.
6. S.P. Punalekar (1995), Bypassing the poor and Powerless in Savur and Munshi & Contradict in Indian Society, Jaipur, Rawat.
7. Deepankar Gupta, “Culture and Agriculture in India” , Economic & Political Weeklym 19th feb. 2005.

इकाई 14

ग्रामीण भारत मे सामाजिक समस्याएँ: गरीबी एवं बेरोजगारी

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य
14.1 प्रस्तावना
14.2 ग्रामीण समाज
14.3 गरीबी की अवधारणा
14.4 गरीबी का मापन
14.5 गरीबी के कारण
14.6 बेरोजगारी की अवधारणा
14.7 बेरोजगारी के प्रकार
14.8 ग्रामीण समाज पर बेरोजगारी के प्रभाव
14.9 बेरोजगारी की समस्या के निदान
14.10 सारांश
14.11 संदर्भ ग्रंथ
14.12 अभ्सासार्थ प्रश्न

14.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप -

- ग्रामीण समाज के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे
- गरीबी की अवधारणा एवं कारण समझ सकेंगे
- बेरोजगारी की अवधारणा समझ सकेंगे।
- बेरोजगारी के प्रकार एवं ग्रामीण समाज पर इसका प्रभाव जान सकेंगे
- बेरोजगारी की समस्या के निदान के उपाय जान सकेंगे

14.1 प्रस्तावना

स्वतंत्रता प्राप्ति भारतीय समाज के संदर्भ में एक महत्वपूर्ण युगान्तकारी घटना रही है। तथापि जिस रूप में हमें स्वतंत्रता प्राप्त हुई तथा इस दौरान हमारे सम्मुख जो परिस्थितियां उत्पन्न हुई वे अनअपेक्षित थी। सामाजिक दृष्टिकोण से देखा जाये तो भारत एक जटिल राष्ट्र रहा हैं तथा सांस्कृतिक वीरासत में जो कि बहुत ही वीस्तृत हैं. निरंतरता है। भारतीय जनसंख्या का अधिकांश भाग गांवों में निवास करता है। अत: यह आवश्यक हो जाता हैं कि ग्रामीण भारत और उससे संबंधित समस्याओं पर ज्यादा ध्यान दिया जाये।

14.2 ग्रामीण समाज

ग्रामीण भारत एक ऐसा समाज है जहां पर प्राथमिक संबंधों की प्रचुरता होती हैं। जहां गांव का प्रत्येक व्याक्ति दूसरे को जानता हैं तथा उनके संबंध आम तौर पर बहुत ही घनिष्ट होते हैं। इस प्रकार से बहुत ही गहरे संबंधों को प्राथमिक संबंध कहा जाता है। जनसंख्या की दृष्टि से ग्रामीण समाज तुलनात्मक रूप से छोटे होते हैं तथा छोटे होने के कारण यहां पर रहने वाले लोगों में आपसी संबंध बहुत ही गहरे होते हैं।

गांवों की एक और प्रमुख विशेषता यह हैं कि यहां पर रहने वाली जनसंख्या का अधिकांश हिस्सा खेती पर निर्भर होता है या लोग खेती से जुडे व्यवसाय करते हैं। इस प्रकार के व्यवसायों को प्राथमिक व्यावसाय कहा जाता है। अन्य प्राथमिक व्यवसायों में प्रकृति से सीधे प्राप्त होने वाली वस्तुएं जैसे गोंद, लकड़ी, पत्ते, फल जडी-बूटियां आदि।

14.3 गरीबी की अवधारणा

निर्धनता एक आर्थिक स्थिति हैं किन्तु यह सामाजिक पद को प्रकट करती हैं। यह एक तुलनात्मक शब्द हैं। अन्य शब्दों में गरीबी का अर्थ आर्थिक असमानता, आर्थिक पराश्रितता और आर्थिक अकुशलता से लिया जाता हैं। इसे परिभाषित करते हुए गिलिन एवं गिलिन लिखते हैं कि 'गरीबी वह दशा है जिसमें एक व्यक्ति या तो अपर्याप्त आय अथवा मूर्खतापूर्ण व्यय के कारण अपने जीवनस्तर को उंचा नहीं रख पाता कि उसकी शारीरक एवं मानसिक क्षमता बनी रह सकें, और वह उस पर आश्रित को अपने समाजिक स्तरों के अनुसार उपयोगी ढंग से कार्य करने के योग्य बना सकें। " इस प्रकार गिलिन एव गिलिन ने गरीबी का संबंध जीवनस्तर के साथ जोड़ा हैं। जब किसी व्यक्ति की आय या तो कम हो या वह पूरा व्यय पूरे विवेक के साथ नहीं करता तो वह अपने जीवनस्तर को अपने समाज के अन्य लोगों के समान नहीं रख पाता और उनकी तुलना में पिछड़ जाता है तथा उसका आर्थिक स्तर अन्य लोगों की तुलना में कम हो जाता है परिणाम स्वरूप वह गरीब हो जाता हैं और उसकी कार्य क्षमता घट जाती हैं।

डा. योगेश अटल ने गरीबी को राष्ट्रीय आय से वंचित रहने के रूप में परिभाषित किया हैं। वे लिखते है कि गरीबी की अवधारणा को सापेक्ष रूप से वंचित रहने के तथ्य से है।

जब हम राष्ट्रीय आय की चर्चा करते हैं तब इसका यह अर्थ नहीं होता है कि वह आय देश के सभी लोगों में समान रूप में वितरित होती हैं। राष्ट्रीय आय में से जिन लोगों को कम हिस्सा मिलता है. गरीब और जिन्हें अधिक हिस्सा मिलता हैं अमीर बन जाते हैं।

14.4 गरीबी का मापन

किसी भी देश में गरीबी को मापने के लिये राष्ट्रीय आय, प्रति व्यक्ति आय तथा प्रति व्यक्ति खर्च को ज्ञात किया जाता है। कौन व्यक्ति कितना गरीब हैं इसके मापन के कुछ आधार हैं जो इस प्रकार से हैं

राष्ट्रीय आय ज्ञात करने के लिये किसी वर्ग विशेष में उपभोग के लिये उपलख वस्तुओं और सेवाओं को देखा जाता हैं। राष्ट्रीय आय को ज्ञात करने के लिये किन तथ्यों को शामिल

किया जाए, तो यह विवाद का बिषय हैं। अर्थ शास्त्री प्रो. पीगु राष्ट्रीय आय में केवल उस उत्पत्ति को शामिल करना चाहते हैं जो किसी वर्ष में उपभोग किया जाता है।

आय की भांती लोगों द्वारा उपभोग किये जाने बाले खर्च के आधार पर भी गरीबी को मापा जा सकता है। डी. पी. ओझा ने माना हैं कि भारत में गांवों में रहने वाले व्यक्ति को प्रतिदिन 518 ग्राम और शहरी क्षेत्र में रहने ताले व्यक्ति का आर्थिक स्तर इतना निम्न हैं कि वह 518 अथवा 432 ग्राम भोजन नही जुटा सकें तो उसे गरीब कहा जायेगा।

कुछ विद्वानों ने गरीबी के मापने के लिये पोषण को भी आधार माना हैं। उनका मानना हैं कि भारत में प्रत्येक व्यक्ति को जो गांवो में रहता है उसे हर रोज 2400 कैलोरी उर्जा की (आवश्यक उर्जा) की पूर्ति भी न कर सके तो उसे गरीब माना जायेगा।

समाज में व्याप्त गरीबी को मापने के लिये एक पैमाना प्रति व्यक्ति आय का भी हैं। जिन लोगों का उपभोग खर्च 1986-90 के मूल्य स्तर पर 127 रू. प्रतिमाह से कम हो या जिनकी मासिक आय 150रू. (चालू मूल्य स्तर पर) से कम हो ऐसे व्यक्ति को गरीब की श्रेणी में रखेंगे।

14.5 गरीबी के कारण

समाज में जो कुछ घटित होता है उसके पीछे एक कारण नहीं होता हैं। उस घटना के पीछे कई अन्तर्निहित कारण होते हैं जिन कारणों की पारस्परिक क्रियाओं का प्रतिफल होती हैं। गिलीन एवं गिलिन ने गरीबी के लिये उत्तरदायी अनेक वैयक्तिक, प्राकृतिक, सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक कारकों का उल्लेख किया हैं जो इस प्रकार है।

वैयक्तिक कारक - इसमें हम उन कारको को शामिल करते है जिनमें व्यक्ति खुद अपनी गरीबी के लिये जिम्मेदार होता है। प्राचीन समय में यह धारणा प्रचलित थी कि एक व्यक्ति की दशा जो होती है उसके लिए वह स्वयं जिम्मेदार होता है। इस प्रकार व्यक्ति शारीरिक अथवा मानसिक रूप से अयोग्य हो, वह अर्थोपार्जन नही कर पाता और वह गरीब हो जाता हैं। बिमारी, दुर्घटना, बोद्धिक रूप से विकसित नहीं होना आदि ऐसे कारक हैं जो व्यक्ति को गरीब बनाते हैं। कुछ लोगों में उनका आलस्य उनकी गरीबी का बहुत बडा कारण होता हैं।

भौतिक पर्यावरण - भौतिक पर्यावरण में प्रतिकूल जलवायु प्राकृतिक संसाधनों का अभाव, कीडे-मकोडो का उत्पात, प्राकृतिक प्रकोप (बाढ़, अकाल, भूकम्प, महामारियां आदि), उपजाऊ मिट्टी का अभाव, तुफान, रेगिस्तान और खनिज पदार्थो का अभाव आदि कुछ ऐसे कारण हैं जिसकी से गरीबी बढ़ती जाती है। किसी समाज विशेष में ये कारक वहां की गरीबी का कारण होते हैं।

आर्थिक कारक - गरीबी का संबंध आर्थिक पहलुओं से भी होता है। आर्थिक दशा का वर्णन आय और खर्च के संदर्भ में ही लिया जाता हैं। अपर्याप्तउत्पादन, आय का असमान वितरण, आर्थिक उतार चढ़ाव, बेकारी, गरीबी का दुश्चक्र, मन्दी आदि ऐसे कारक हैं जो गरीबी को जन्म देते हैं। उत्पादन के लिये भारत में आज भी परम्परागत साधनों का उपयोग किया जाता है जिससे कि पर्याप्त उत्पादन नही हो पाता है। ऐसे हाजीतों में जीवित रहने के लिए आवश्यक वस्तुएं जुटा

पाना मुश्किल होता हैं, परिणास्वरूप गरीबी बढ़ जाती हैं। इसी प्रकार उत्पादन का असमान वितरण भी गरीबी को बढ़ा देता हैं।

सामाजिक कारक - गरीबी के लिये समाज विशेष के सामाजिक कारक भी उत्तरदायी होते हैं। सामाजिक कारकों में शैक्षणिक कमियां, स्वस्थ रक्षण का अभाव, आवास सुविधाओं का अभाव, विवाह और पूतक के ज्ञान का अभाव तथा परिस्थितियों में समाज के लोगों के सामंजस्य का अभाव आदि प्रमुख कारक हैं। दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली की वजह से समाज में शिक्षित बेरोजगारी पनपती है। समाज में प्रचलित संयुक्त परिवार प्रणाली, जाति व्यवस्था और धार्मिक अन्धविश्वास भी समाज में गरीबी का कारण बनते हैं। ये दोनों कि गतिशीलता में बाधक बनते हैं जिससे आर्थोपार्जन के लिये व्यक्ति बाहर नही जा पाते और आर्थिक रूप से ऐसे परिवार ऊपर नही उठ पाते हैं।

राजनीतिक कारक - राजनैतिक अस्थिरता औंर उथल अल भी गरीबी को जन्म देते हैं। इस कारण से चारों और असंतोष मुनाफाखोरी, कालाबाजारी. जमाखोरी आदि पनपती हैं। राजनैतिक दलों में वैमनस्यता देश में अफवाहों को जन्म देती हैं। जिससे व्यापार में अस्थिरता आती है। सरकार उत्पादन नीति, टैक्स नीति, आयात निर्यात नीति और वितरण की व्यवस्था भी देश के लोगों की आर्थिक दशा को प्रभावित करती है।

अन्य कारक-समय-समय पर होने वाले युद्ध, बढती जनसंख्या, बेरोजगारी, दोष पूर्ण कृषि व्यवस्था गांवों में पाई जाने वाली साहुकारी प्रथा सामाजिक कुप्रथाएँ, और सुधार नीतियों की असफलता भी गरीबी का कारण हैं।

14.6 बेरोजगारी की अवधारणा

आज विश्व के कई देशों को बेरोजगारी की समस्या का सामना करना पड रहा हैं, न केवल विकासशील वरन विकसित देशों के सामने भी यह जटिल समस्या हैं। सभी देशों में बेरोजगारी की समस्या के कारण समान नहीं हैं। औद्योगिक, यातायात के साधनों, मुद्रा. अर्थ व्यवस्था, मशीनीकरण, आदि ने मानव को अनेक सुविधाएँ दी हैं वही इसका दूसरा पहलू यह भी हैं कि इन्होंने आर्थिक मन्दी बेरोजगारी और गरीबी को भी प्रोत्साहन दिया है। औद्योगिकरण से पूर्व बेरोजगारी सिर्फ कृषि के क्षेत्र तक ही सीमित थी लेकिन औद्योगिकरण और पूंजीवाद के कारण कृषि के साथ-साथ अन्य क्षेत्रों में फेल गई। औद्योगिकरण और पूंजीवाद आर्थिक ही नहीं वरन व्यक्ति के सामाजिक क्षेत्र को भी प्रभावित करती हैं। इससे व्यक्ति का सामाजिक जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है, पारिवारिक संबंधों पर नकारात्मक प्रभाव पडता है, मन में निराशा कुण्ठा और हीनता की भावना जागती है जिनसे विवश हो कर व्यक्ति अपराध तक करने के लिये तैयार हो जाता है।

बेरोजगारी शब्द की सर्वमान्य परिभाषा नहीं है। फेयरचाइल्ड के शब्दों में 'सामान्य दशाओं तथा सामान्य वेतन दर पर व्यक्ति को बलपूर्वक एवं अनैच्छिक रूप से काम से अलग कर देने की स्थिति को बेरोजगारी के रूप में जाना जाता हैं।"

सरल शब्दों में 'फेयरचाइल्ड यह कहना चाहते हैं कि व्यक्ति कार्य करने की दशा में है लेकिन बाजार में उसे उचित दर पर कार्य नही मिल पाता। जी. आर. मदान के अनुसार 'उस

देश में बेरोजगारी है जहां स्वस्थ शरीर वाले ऐसे व्यक्तियों को मजदूरी के सामान्य स्तर पर काम नहीं मिल पाता जो काम करना चाहते हैं।

इस प्रकार किसी व्यक्ति को हम बेरोजगार तब कहेंगे जब -

- जब कोई व्यक्ति काम करने की इच्छा रखता है और उसे काम नही मिल पाता आलसी को बेरोजगार नही कहेंगे।
- किसी व्यक्ति में काम करने की इच्छा के साथ-साथ उसमें काम करने की शारीरिक एवं मानसिक योग्यता का भी होना आवश्यक हैं।
- व्यक्ति के रोजगार को प्राप्त करने के लिये प्रयास करना भी जरूरी है। किसी को रोजगार न ढुंढ पाने के कारण फालतू योग्य, इच्छा रखने वाले को बेरोजगार नहीं कहेंगे।
- जो व्याक्ति काम करता है और उसे पैसा नही मिलता तो उसे भी हम रोजगार नही कह सकते क्योंकि वह काम तो कर रहा हैं लेकिन उसे काम के बदले पर्याप्त पारिश्रमिक नही मिल रहा है।

अत: यह स्पष्ट हैं कि बेरोजगारी वह दशा हैं जिसमें एक व्यक्ति को काम करने की इच्छा रखने, पैसा कमाने के लिये प्रयास करने के बावजूद पर्याप्त रोजगार प्राप्त नही हो पाता है।

14.7 बेरोजगारी के प्रकार

बेरोजगारी के प्रकारों को वर्गीकृत कर सकते हैं जो इस प्रकार से हैं -

मौसमी या आकस्मिक बेरोजगारी- कुछ व्यवसाय ऐसे होते हैं जिनमें साल भर उतार चढ़ाव आते रहते हैं जिनमें कभी मजदूरी की बहुत ही आवश्यकता होती हैं तो कमी व्यवसाय समाप्त हो जाते है और इनमें लगे श्रमिक बेरोजगार हो जाते है।

उदाहरण के लिये चीनी उद्योग जो कि नवम्बर से मई तक चलता हैं, इससे जुडे हुए श्रमिक बाकि समय बेरोजगार रहते है।

प्रौद्योगिक बेरोजगारी - उधोगों में मशीनीकरण एवं नवीन आविष्कारों के फलस्वरूप मानव शक्ति का प्रयोग घटा हैं आज अधिकांश उत्पादन मशीनों से होता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि उनमें लगें व्यक्तियों की संख्या कम हो गई है और जो लोग इन मशीनों की पूरी जानकारी नही रखते वे बेरोजगार हो जाते हैं।

अर्द्ध बेरोजगारी जब - किसी व्यक्ति को अपनी योग्यता के अनुसार काम नही मिल पाता है तो उसे अर्द्ध-बेरोजगारी के नाम से जाना जाता है। जैसे किसी डाक्टर को कम्पाउण्डर के पद पर काम करना पडे तो इसे अर्द्ध बेरोजगारी कहेंगे क्योंकि उसे ऐसे में अपनी योग्यता के अनुसार रोजगार नहीं मिल पा रहा है और वेतन भी कम मिल रहा है।

शिक्षित बेरोजगारी- शिक्षा एवं प्रशिक्षण प्राप्त करने के बाद भी अगर किसी को रोजगार नही मिले तो उसे शिक्षित बेरोजगारी कहा जाता है। इसका कारण रोजगार के अवसर कम होना होता है।

14.8 ग्रामीण समाज पर बेरोजगारी का प्रभाव

बेरोजगारी एक अभिशाप हैं जिसका सबसे बड़ा दुष्परिणाम गरीबी हैं। एक बेरोजगार व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा गिर जाती हैं। उसमें स्वयं के प्रति हीनता की भावना जाग्रत होती है। इसके कुछ दुष्परिणाम इस प्रकार से हैं।

वैयक्तिक विघटन और बेरोजगारी- बेरोजगारी की अवस्था में व्यक्ति के मन में एक हीनता की भावना जाग्रत होती हैं जिसके परिणाम स्वरूप यह अपना अधिकांश समय सोने में व्यर्थ करता हैं, इस आत्मग्लानि के परिणाम स्वरूप उसमें नशें की आदत भी जन्म लेती हैं। बेरोजगारी कई समस्याओं की जड़ हैं जिसके परिणाम स्वरूप समाज के सदस्यों में मधमान जुआखोरी. अनैतिक संबंध और अपराध की दर बढ़ जाती है। त्रणग्रस्तता मी बेरोजगारी का ही परिणाम हैं।

बेरोजगारी और स्वास्थ्य - बेरोजगारी के दिनों में व्यक्ति के स्वास्थय का भी नुकसान होता हैं। उनका परिवार कुपोषण शिकार हो जाता है और संतुलित भोजन के अभाव में कई बीमारियां घेर लेती हैं। उनका रहने का स्थान स्वास्थ्यवर्द्धक नही होता और उपर से परिवार की चिन्ता जिससे मानसिक रूप से व्यक्ति के स्वस्थ पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता हैं।

बेरोजगारी के आर्थिक प्रभाव - बेरोजगारी गरीबी, त्रणग्रस्तता को जन्म देती हैं। बेरोजगारी से लोगों की आय और उनका जीवनस्तर गिरता हैं, उनकी कार्यक्षमता घट जाती है। उद्योगों को बंद करने से औद्योगिक अशान्ति बढ़ जाते हैं। इससे न सिर्फ देश की अर्थव्यवस्था प्रभावित होती हैं वरन परिवार भी प्रभावित होता हैं।

बेरोजगारी और सामाजिक प्रभाव - बेरोजगारी से होने वाली आर्थिक हानि को तो मापा जा सकता है, लेकिन इससे होने वाली सामाजिक हानि का मूल्यांकन मुश्किल होता है। बेरोजगार व्यक्ति की धारणाओं में कठोरता आ जाती हैं। परिवार के सदस्यों में निराशा उत्पन्न होने लगती हैं। अपने कार्य के प्रति अलगाव की भावना होने लगती हैं। उसकी योग्यता में कमी होती जाती हैं और परिवार के सदस्यों के साथ उसके संबंध समाप्त होने लगते हैं। ऐसी परिस्थितियों में वेश्यावृति' व्यभिचार प्रष्टाचार रिश्वतखोरी बेईमानी और भिक्षावृति पनपती हैं।

बेरोजगारी और नैतिक पतन - बेरोजगारी से ये समस्याएं ही उत्पन्न नही होती वरन इससे चारित्रिक और नैतिक पतन भी होता हैं। लोगों में आल सम्मान की पदना समाप्त हो जाती हैं और वह अनैतिक कार्यो से अपने परिवार का भरण पोषण करने लगता हैं। लोग अपने दायित्वों से जी चुराने लगते है और उनमें पलायन की प्रवृत्ति बढ़ने लगती हैं। वे आत्महत्या तक कर लेते हैं।

अन्य प्रभाव - बेरोजगारी से सांस्कृतिक पतन होता हैं, लोग सरकार से अपनी मांगे मनवाने के लिए अनावश्यक धरने, हडताल तोड फोड़ और लुट पाट का सहारा लेते हैं। इस प्रकार बेरोजगारी की वजह से मनोवैज्ञानिक रूप में व्यक्ति आक्रामक एवं विद्रोही हो जाता हैं।

14.9 बेरोजगारी की समस्या का निदान

बेरोजगारी की समस्या के निदान के लिये जितने शीघ्र प्रयास किये जायेंगे उतना बेहतर होगा जहां 'हम कुछ सुझावों की चर्चा करेगें जिन्हें अपना कर बेरोजगारी की समस्या से निजात पा सकते हैं।

सघन खेती - ग्रामीण समाज में अधिकांश जनसंख्या कृषि पर ही आश्रित होती हैं अत: आवश्यकता इस बात की हैं कि सबसे पहले कृषि के सुधार पर बल दिया जाये। इसके लिए किसानों को उन्नत खाद, बीज, फसल रक्षक दवाएं और कृषि के उपकरण उपलब्ध कराये जा सकते हैं। कृषि से संबंधित मौसमी बेरोजगारी को दूर करने के लिये किसानों के लिये कल्पित रोजगार के रूप में कृषि पर आधारित अन्य व्यवसायों की व्यवस्था की जा सकती है।

कुटीर उद्योगों पर बल - बेरोजगारी की समस्या के कारगर समाधान के लिये गांवों में चल सकने वाले रोजगार में अवसर बढाये जा सकते हैं। इन व्यवसायों में पशुपालन, दुग्धशाला. मुर्गीपालन मछली पालन आदि।

स्वास्थय सुविधाओं में विस्तार - स्वास्थ्य सुविधाओं में विस्तार करने से जो लोग शारीरिक दृष्टि से बीमार हैं वे शीघ्र चिकित्सा सुविधाएँ पाकर स्वस्थ हो सकते है। जिससे उनकी उत्पादन क्षमता पर कम से कम प्रभाव पड़ता है और उनके परिवार का आर्थिक स्तर कम से कम प्रभावित होता है। इसके लिये चल चिकित्सालय भी बनाये जा सकते है।

पर्याप्त वेतन - यदि कोई व्यक्ति काम करता है और उसे यूनतम वेतन भी नही मिल पाता है, तो वह परिश्रम तो पूरा करता हैं लेकिन बावजूद इसके उसका आर्थिक स्तर नहीं सुधर पाता है और निर्धन बना रहता है। उसके लिये सरकार के द्वारा हस्तक्षेप किया जाना चाहिये तथा न्यूनतम मजदूरी का निर्धारण किया जाना चाहिये तथा उस बात की निगरानी रखनी चाहिए कि प्रत्येक श्रमिक को उसके बराबर मजदूरी मिलें।

व्यावसायिक शिक्षा - अधिकांश लोग इसलिये बेरोजगार हो जाते हैं क्योंकि उनके पास तकनीकी ज्ञान नहीं होता है जिससे वे रोजगार से निकाल दिये जाते हैं। इसलिए शिक्षा को रोजगारोन्मुख बनाया जाना चाहिये।

14.10 सारांश

भारत एक विकासशील देश है, इसमें संसाधन और भौतिक संसाधनों का अभाव नहीं हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति हुई है लेकिन अभी भी हमारा देश तुलनात्मक रूप से पिछड़ा हुआ हैं। जो कुछ संसाधन हमारे यहां पाए जाते है, उनका समुचित उपयोग करने में असफल रहे हैं अत: गरीबी भारत के साथ-साथ अन्य सभी अल्पविकसित देशों के लिये एक चिन्ता का विषय रही हैं। भारत, ब्रिटेन, अमेरिका सहित सारे संसार के सभी देश विकसित और अविकसित देश सभी न्यूनाधिक मात्रा में इस समस्या से ग्रसित हैं।

आज का बाजार तन्त्र धनी को और अधिक धनी और गरीब को और अधिक गरीब' बनाता जा रहा हैं। ऊपर से जनसंख्या वृद्धि भी गरीब परिवारों में और नये गरीब पैदा कर रही हैं। जिससे गरीब लोगों की न्यूनतम आवश्यकताएँ भी पूरी नही हो पाती हैं वही आय का

असमान वितरण और प्रतिदिन मुद्रा की घटती क्रय भक्ति ने इस समस्या के समाधान को और अधिक मुश्किल बना दिया है।

सामान्य शब्दों में, जब व्यक्ति को इतना पैसा भी नही मिल पाता कि उसे जीवित रहने के लिए कम से कम आवश्यकताओं की पूर्ति भी नहीं कर सकें। देखा जाये तो आज पूरा संसार दो माँगों में बंटा हुआ हैं। एक और वे देश हैं जो पैसे, संसाधनों और सुविधाओं से संपन्न हैं. वही दूसरी और वे देश है जहां पर रहने वाले लोगो के पास खाने, पहनने और रहने के लिये रोटी, कपडा और मकान नही हैं।

14.11 संदर्भ ग्रंथ

1. Weaver W.W -Social Problem (Page no. 638)
2. Atar Yogesh - Role of Valued and instituan, Challenge Poverty in India(ed.)
3. Gunnar mirdal - Wishwa nirdhanta ki chunti (pagr no. 112)
4. Backer Howard - Social Problems Modern approach; New York

14.12 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. गरीबी की अवधारणा को स्पष्ट कीजिये।
2. भारत में गरीबी के कारण क्या-क्या हैं, स्पष्ट कीजिये?
3. गरीबी का मापन किन-किन आधारों पर किया जाता है?
4. भारत में व्याप्त गरीबी को समाप्त करने के लिये क्या क्या सुझाव देंगे?
5. भारत में गरीबी की समस्या पर एक लेख लिखिये।
6. भारत के संदर्भ में बेरोजगारी की अवधारणा को स्पष्ट कीजिये।
7. बेरोजगारी के प्रकार कौन-कौन से होते है? प्रमुख प्रकारों पर प्रकाश डालिये।
8. बेरोजगारी से समाज पर पढ़ने वाले प्रभावों पर एक लेख लिखिये।
9. बेरोजगारी की समस्या को हल करने के लिये आप क्या-क्या सुझाव देंगे?

इकाई 15

वैश्वीकरण तथा ग्रामीण समाज

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य
15.1 प्रस्तावना
15.2 ऐतिहासिक संदर्भ
15.3 वैश्वीकरण का अर्थ
15.4 वैश्वीकरण और परिवर्तन
15.5 सारांश
15.6 शब्दावली
15.7 सन्दर्भ ग्रंथ

15.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप -

- वैश्वीकरण के बारे में जान सकेंगे
- वैश्वीकरण का इतिहास जान सकेंगे
- वैश्वीकरण की संभावनाओं के बारे में जान सकेंगे
- यह स्पष्ट करना कि वैश्वीकरण के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक संबंध के बारे में जान सकेंगे
- भारतीय ग्रामीण समाज पर पडने वाले वैश्वीकरण के प्रभाव को समझाना।
- वैश्वीकरण का भारतीय संदर्भ में मूल्यांकन कर सकेंगे

15.1 प्रस्तावना

सारे सामाजिक विज्ञानों तथा व्यवहारिक रूप में अन्तर्राष्ट्रीय घटनाचक्रों में एक शब्द का व्यापक प्रयोग हो रहा है और वह शब्द है वैश्वीकरण । विभिन्न देशों के समाजों में, चाहे लोग वैश्वीकरण का अर्थ समझें या न समझें बौद्धिक वर्ग. व्यवसायी मीडिया और सामाजिक समस्याओं तथा परिवर्तन पर काम करने वाले लोग इस शब्द पर न केवल बहसारत है. साथ ही इसके परिणामों और दुष्परिणामों पर एक लंबी बहस भी चला रहे हैं। समाजशास्त्र में भी वैश्वीकरण के संबंध में अनेक चर्चाएँ हुई है। जो चर्चाएँ वैश्वीकरण के संबंध में की गई है. उसने अनेक प्रश्न उठाए है। जैसे वैश्वीकरण क्या है? यह मात्र एक अवधारणा है या सैद्धान्तिक व्याख्या का आधार इसमें नया क्या है? और इतिहास में वैश्वीकरण की प्रक्रिया यदि पहले से मौजूद थी तो वर्तमान में यह प्रक्रिया क्या है? वैश्वीकरण ने क्या नई द्वंद्वालकताएँ पैदा की हैं? और वैश्वीकरण का विभिन्न देशों और स्थानीय आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक परिवेश पर क्या प्रभाव है? भारत जैसे विकासशील देश में, जो कृषि तथा ग्रामीण प्रधान देश कहा जाता है,

वैश्वीकरण से किस सीमा तक प्रभावित है? इन्हीं सर प्रश्नों के उत्तर भारतीय ग्रामीण समाज तथा वैश्वीकरण के संबंधों को स्पष्ट कर सकता है।

15.2 ऐतिहासिक सन्दर्भ

वैश्वीकरण की प्रक्रिया कर से प्रारंभ हुई, इस संबंध में विभिन्न लेखकों के विभिन्न मत है। इस बात से सहमति सी लगती है कि वैश्वीकरण की प्रक्रिया यूरोपीय देशों से खोज की यात्राओं के साथ प्रारंभ हुई। बेलास्कावी (Belaskavy) की मान्यता है कि यूरोप से दूसरे देशों की खोज तथा उपनिवेशवाद की स्थापना के प्रयासों ने वैश्वीकरण की प्रक्रिया को जन्म दिया था। वेलेन्स्टीन (Wellenstein) यह मानते हैं कि यह प्रक्रिया पूँजीवाद के प्रसार के साथ अट्ठारहवीं शताब्दी में प्रारंभ हुई थी। राबर्टसन (Robertsen) ने वैश्वीकरण की प्रक्रिया को पाँच सोपानों में बाँटा है। उनके अनुसार वैश्वीकरण के इतिहास चक्र का पहला सोपान 1400-1750 से के बीच का माना जा सकता है, जब वैश्वीकरण के बीजाणु पडे थे। यूरोप में उस समय इसाई प्रमुख की समाप्ति हुई और राष्ट्रवाद का उदय हुआ था। दूसरा सोपान 1750 से 1875 के बीच का माना जा सकता है, जिसमें राष्ट्र-राज्य की अवधारणा विकसित हुई और यूरोप में अन्तर्राष्ट्रीयवाद तथा सार्वभौमिकता का विकास हुआ। तीसरा सोपान 1875-1925 के बीच विकसित हुआ। इस सोपान में विश्व पंचाग का निर्माण हुआ। बहुत से गैर-यूरोपीय देशों को राष्ट्र-राज्य का दर्जा मिला। 1925 से 1969 के बीच अन्तर्राष्ट्रीय आदान-प्रदान तथा अन्तर्राष्ट्रीय विचार-विमर्श बढ़ा। संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना तथा तीसरी दुनिया के गुट बने। वर्तमान समय मे बहुत से मुद्दे ऐसे हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय हो गये और वैश्विक मुद्दे हैं, जैसे विश्व जनसंख्या पर चिन्ता, पर्यावरण संबंधी आन्दोलन, सारी दुनिया में जनसंचार का विकास' सूचना क्रांति का विस्तार। एक देश की दूसरे देश पर आर्थिक निर्भरता भी इस प्रकार के कार्यो का हिस्सा बन गई।

15.3 वैश्वीकरण का अर्थ

वैश्वीकरण की परिभाषा करना इतना आसान नहीं है। अवधारणा के कई परिप्रेक्ष्य हैं। आर्थिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक। मार्थो और ब्लाई की मान्यता है कि जब हम वैश्वीकरण शब्द का प्रयोग करते हैं तो उससे एकता और सुदृढ़ता का अर्थ प्रतीत होता है। सिंह को यदि स्वीकार किया जाय तो वैश्वीकरण का संदर्भ विश्व की असमानताओं को दूर करने से है। यूरोपियन कमीशन ने वैश्वीकरण को इस प्रकार परिभाषित किया है: यह वह प्रक्रिया है जो वस्तु व्यापार, सेवाओं पूँजी प्रवाह तथा तकनीकों के विस्तार की गतिशीलता के कारण विभिन्न देशों के बाजार और उत्पादकों को लगातार तेजी से एक दूसरे पर अंन्तनिर्भर करता जा रहा है।"

यूरोपियन कमीशन की यह परिभाषा आर्थिक आधारों के उपर केन्द्रित है। थॉम्पसन (Thompson) के अनुसार यह परिभाषा अधूरी है। दस्त वैश्वीकरण का संबंध पूँजी से है। पूँजी के प्रवाहों का आधार व्यापारिक तथा आर्थिक कार्यक्रमों के साथ जुडा हुआ होता है। वैसे मार्क्स ने जब अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद की बात की थी, विहान यह मानते है कि वैश्वीकरण का एक आधार अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद भी हो सकता है। स्केलेयर (Skaleyar) ने वैश्वीकरण को

आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक प्रभुत्व से पैदा होने वाले देशपार (Transnational) प्रचलनों की वैश्विक प्रवृत्ति का परिणाम कहा है। वैश्वीकरण की इस परिभाषा का सामान्य अर्थ यही है कि वैश्वीकरण कतिपय सामाजिक प्रचलनों का एक देश से दूसरे देश को विस्तार है, जिनके लिए कोई भौगोलिक सीमा नहीं है।

समाजशास्त्रीय दृष्टि से वैश्वीकरण की परिभाषा तथा स्पष्टीकरण इतना सरल नहीं है। फिर मी शब्द को परिभाषित करने की चेष्टा की गई है। गिडिन्स (Giddins) के शब्दों में वैश्वीकरण को सामाजिक संबंधों के विश्वव्यापी विस्तार के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जो दूरदराज में रहने वालों को इस प्रकार से जोड़ता है कि उनमें होने वाली घटनाओं के स्वरूप मीलों दूर से प्रभावित होते हैं। साथ ही साथ किसी स्थान की कोई घटना दूर-दूर तक प्रभाव डाल सकती है। समाज में जो रूपान्तरण होता है यह कहीं न कहीं विश्वव्यापी रूपान्तरण की छाया होता है और इसके परिणाम स्वरूप विश्व में पारस्परिक सम्पर्क बड़ जाता है। राबर्टसन का मानना है कि वैश्वीकरण एक प्रकार की सामाजिक सिकुड़न है। यह विश्व की सम्पूर्णता की चैतन्यता का विस्तार भी है। अधिकांश लोग यह सोचने लगते हैं कि जो कुछ हो रहा है वह विश्वव्यापी है। वाटर्स (iters) यह मानते हैं कि वैश्वीकरण वह सामाजिक प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत सामाजिक सांस्कृतिक व्यवस्था पर भौगोलिक दवाब घट जाता है। प्राय: लोग संकुचित भौगोलिक क्षेत्र के जीवन को ही अपना जीवन स्वीकार करते हैं पर वैश्वीकरण इस भौगोलिक क्षेत्र की अपेक्षा सार्वभौमिक रूप से विश्व के अनेक भागों में एक सा सामाजिक सांस्कृतिक जीवन फैला देता है।

समाजशास्त्रीय दृष्टि से एक अन्य विचार मैकलुहन (Micluhan) का है। मैकलुहन ने विश्व ग्राम की अवधारणा की कल्पना की थी। आदिवासी समाजों जैसी अन्तीनर्मरता- मैकलुहन के लिए वैश्वीकरण की आदर्श परिस्थिति है।

यदि इन परिभाषाओं को गौर से देखा जाए तो वैश्वीकरण की अवधारणा के अनेकों क हैं और समाजशास्त्रियों ने अपने तरीके और आधार पर इसे समझाने की चेष्टा की है। पर वैश्वीकरण के इन्हीं आधारों पर मतभेद भी हैं।

वैश्वीकरण शब्द की समीक्षा (Review of Globalized)

वैश्वीकरण की उपर्युक्त पीरभाषाओं को संमूर्ण परिभाषा नहीं कहा जा सकता। अभी भी यह माना जाता है कि वैश्वीकरण के स्पष्टीकरण अभी अधूरे है। मूलत तीन अन्तविरोधी तथ्य इस प्रकार की भ्रान्तियों के सूचक हैं। ये तीन अन्तविरोधी तथ्य हैं:

1. वैश्वीकरण एक परिस्थिति है या एक प्रक्रिया है?
2. वैश्वीकरण वर्तमान की यथार्थता या भविष्य के परिवर्तनों का संकेत है?
3. वैश्वीकरण से होने वाला परिवर्तन एक पक्षीय है या बहु पक्षीय।

ये तीनों प्रश्न अपने स्थान पर स्थित हैं पर वैश्वीकरण की जो कुछ भी प्रक्रिया है, वह परिस्थितियों को एकीकृत करने की जरूर है। यह आभास नीचे के चित्र से स्पष्ट किया जा सकता है :

वैश्वीकरण की प्रक्रिया

अ	ब
जन	व्यक्ति
बहुलता	एकता
राष्ट्र-रजी	विश्व
बहुत से अलग अलग समाज	एक समाज
प्रचलनों की विविधता	एकाकार प्रचलन
विभिन्न समाजों से अलग अलग मुद्दे	सारे विश्व का एक मुद्दा
अलग मुद्दे	मुद्दा

बोध प्रश्न -1

1. वैश्वीकरण के संबंध में उठे प्रश्नों को बताइये।
2. राबर्टसन के अनुसार वैश्वीकरण के विकसित होने के पाँच सोपान दबाइये।
3. वैश्वीकरण के आर्थिक पक्ष की विशेषताएं बताइये।
4. वैश्वीकरण की कोई सी दो समाजशास्त्रीय परिभावएं दीजिए।
5. वैश्वीकरण की प्रक्रिया के किन्हीं दो अन्तर्विरोधों को वताइये।

15.4 वैश्वीकरण और परिवर्तन (Globalization and Change)

वैश्वीकरण की जड़े 1980 के उत्तराद्र तथा 1990 के प्रारंभ की विशिष्ट आर्थिक राजनीतिक घटनाओ में देखी जा सकती है। इन घटनाओं में शीत युद्ध की समाप्ति, कस का पतन, बर्लिन की दीबार छना उदारवादी विचारों की विजय शामिल है। इसी अवधि में एक विशिष्ट विचार पश्चिम की नकल का उभरा। विशेष रूप से विकसित देशों में यह विचार अधिक फैला कि पश्चिमी राष्ट्र अनुकरणीय है और अन्य देशों को पश्चिमी व्यवस्थाएं अपने यहां लाग करनी चाहिए। किसी भी राष्ट्र की चाहे जो आन्तरिक विचारधारा रही हो' पश्चिमी संस्थाओं को स्थापित करने मे वह सबसे आगे था। पश्चिमी देशों की आर्थिक प्रक्रियाओं ने नये बाजार बनाए। नई आर्थिक संस्थाएँ बनी जो सरकारी प्रभावों से मुक्त थी। इन संस्थाओं ने आर्थिक आधार पर नये दबावों की सृष्टि की और उसी आधार पर जैसा कहा जाता है - नव पूँजीवाद की संरचना स्थापित की। सूचना तकनीक की क्रांति ने भी विश्व सूचनाओं तक सम्पर्क को और तेज कर दिया। इसी सूचना क्रांति ने सामाजिक सांस्कृतिक मेल-मिलाप को और बढ़ाया तथा विश्व में एक तरह के सोच को प्रोत्साहित किया।

योगेन्द्र सिंह के अनुसार भारत में वैश्वीकरण के आर्थिक पक्ष का प्रारंभ देश में आर्थिक सुधारों के साथ प्रारंभ हुआ। इसके लिए उसे क्षेत्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के साथ जुडना पडा, जिनका उद्देश्य बहुपक्षीय आर्थिक सुधारों को स्थापित करना था। प्रो. सिंह भी मानते हैं कि वैश्वीकरण की उडान प्राथमिक रूप से सूचना तथा संचार क्रांति से हुई। संचार क्रांति ने व्यक्तियों के आदान-प्रदान को गाँवों तक पहुँचा दिया। आज मोबाइल सेवा का विस्तार देश के सुदूर कोने तक है और यह सेवा समाज के निचले स्तर तक है। इससे कारीगरों' कृषकों तथा दस्तकारों को व्यापक लाभ मिला है। लेकिन इस क्रांति का सबसे बडा लाम समाज के उच्च वर्गो

को प्राप्त झा हैं यदि वर्तमान में काम के अवसर बड़े हैं तो बे भी सम्पन्न वर्ग को ही प्राप्त हुए हैं। सूचना क्रांति के भी जो अक्सर उपजे, उन पर भी इस वर्ग का अधिकार रहा। ग्राम समाजों को प्रो. योगेन्द्र सिंह के इस वक्तव्य के साथ जोडा जा सकता है।

ग्रामीण संरचना के परिवर्तन (Change Rural Structure)

पिछली कुछ दशाब्दियों में ग्रामीण संरचना पर अनेक कारकों का प्रभाव पडा। इन कारकों में से एक कारक नगरीय संरचना के साथ संबंधों का बदलता स्वरूप है। नगर व्यापार तथा उद्योग के केन्द्र रहे हैं। नगरीय क्षेत्र की व्यापारिक संरचना का कोई भी परिवर्तन ग्रामीण संरचना में भी परिवर्तन से आता है। वैश्वीकरण का संबंध व्यापक व्यापार आधारों से है। स्वाभाविक है कि इन व्यापारिक संरचनाओं का प्रभाव ग्रामीण क्षेत्रों पर पडता है। समाज विज्ञान के बहुत से विद्वान इस रात पर जोर देते हैं कि इन व्यापार संरचनाओं ने ग्राम की कृषि व्यवस्था पर बहुत प्रभाव डाला है। घटते हुए कृषि लाभ ने ग्रामीण क्षेत्रों से पलायन तथा खेती के प्रति अरूचि को भी प्रोत्साहित किया। औद्योगिकता ने नगरीय उद्योग संरचना को प्रोत्साहित किया। नगरीय बसाव तथा विशिष्ट, आर्थिक क्षेत्र (Special economy zone) आदि कार्यक्रमों ने ग्राम निवासियों को निर्वाचित किया तथा खेती की जमीन और उत्पादकता को प्रभावित किया। इससे पहले कि वैश्वीकरण के इन प्रत्यक्ष प्रभावों की चर्चा की जाय, ग्रामीण संरचना के कुछ अन्य पक्षों की चर्चा भी आवश्यक है।

समाजशास्त्री दीपांकर गुदा का मानना है कि भारतीय ग्रामीण संरचना दबाव में है। खेती का काम घटता जा रहा है और बहुत से ग्राम अब गैर कृषि कार्यो में लग गये हैं। इसमें उजड कर' अपने जीवन निर्वाह के लिए मजदूरी करना भी शामिल है। इससे पहले से स्थापित ग्राम समाज की अवधारणा में भी परिवर्तन की संभावना दिखाई देने लगी है।

यह भी कहा जाता है कि जाति संरचना के स्वरूप में भी परिवर्तन आया है। जातियों की पहचान अब राजनीतिक है और जाति पंचायतों ने राजनीतिक दल जैसा काम करना प्रारंभ किया है। उत्तर प्रदेश के ग्रामों में अनुसूचित जातियों तथा उच्च जातियों के नये समीकरण देन हैं। ये समीकरण पहले के समीकरणों से भिन्न हैं। संविधान तथा कानूनों ने जाति संस्तरणों पर प्रभाव डाला है। आधुनिक व्यवसायों के आ जाने के कारण सामाजिक व्यवहार के लिए जाति संरचना शिथिल हुई है, पर राजनीतिक उद्देश्यों के लिए ग्राम के जाति समूह मजबूत हुए है। इनमें से बहुत से व्यवसाय वैश्वीकरण की प्रक्रियाओं की देन है।

भारतीय ग्रामीण संरचना में दो प्रकार के कृषक आन्दोलन दवे हैं। भूमि स्पार की कमी के कारण नक्सलवादी जैसे आन्दोलन फैल गये हैं। दूसरे आन्दोलन दे हैं जिनका संबंध ग्रामीण संरचना की समस्याओं से है, जैसे विकास कार्यक्रम के कारण विस्थापन की समस्या गरीबी फसलों के उचित दाम न मिल पाने पर आत्महत्या तथा अन्य आर्थिक करको के कारण है। कुछ आन्दोलन राजनीतिक विचारधाराओं तथा कुछ आन्दोलन स्वैच्छिक संगठनों द्वारा संचालित है। इन आन्दोलनों का एक पक्ष उन नीतियों के साथ भी जुडा हुआ है जो सरकार ने वैश्विक आर्थिक संगठनों के दबाव में बनाई है। इन्हीं नीतियों में कृषि आर्थिक स्पार तथा कृषि के औद्योगिकरण की नीतियाँ भी शामिल है, क्योंकि अब उद्योगपति कृषि उत्पाद बेचने के लिए

स्वयं खेती करने लगे हैं तथा कृषि उत्पादन के खुदरा बाजार को अपने हाथों में लेने लगे है।_ इन आन्दोलनों के विषय भी व्यापक होते जा रहे हैं।

आर्थिक नीतियों ने जो लोग स्वयं खेती करते हैं, उन्हें भी सीमान्त रेखा तक पहुँचा दिया है, क्योंकि देश की जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग खेती पर आश्रित है। खेती संबंधी नीति का कोई भी बदलाव कृषि संरचना को प्रभावित करता है। विश्व व्यापार संगठन का एक बहुत बडा विवाद भारत की कृषि पर वैश्विक नीति से पढ़ने वाले प्रभावों से संबंधित है। यह कहा जा रहा है कि कृषि पर पडने वाले इन प्रभाव से ग्रामीण संरचना पर भी प्रभाव पडेगा। इस वैश्विक संस्था का उद्देश्य बड़े राष्ट्रों के किसानों को बचाना और विकसित देशों के किसानों को प्रभावित करना है।

धीरे-धीरे गैर कृषि मजदूरों की संख्या भी बड़ रही है। गैर कृषि मजदूरी लाभदायक श्रेणी में नही आती। गरीबी के ये संदर्भ भी वैश्विक नीतियों के साथ जोडे जाते हैं। भविष्य के लिए भी यही कल्पना है कि इन नीतियों के चलते बेकारी और गरीबी बढ़ने की संभावना है।

बोध प्रश्न -2

1.वैश्वीकरण की जड़ को प्रभावित करने वाली दो घटनाएँ बताइये ।

2.योगेन्द्र सिंह के अनुसार भारत में वैश्वीकरण का प्रारंभ कहाँ से हुआ ?

3.ग्रामीण संरचना में जाति परिवर्तनों के बारे में बताइये ।

4.भारत के किसान आन्दोलनों के मुख्य मुद्दे क्या हैं ?

5.वैश्विक आर्थिक नीतियों ने खेती को किस प्रकार प्रभावित किया है ।

वैश्वीकरण और ग्रामीण समाज (Glovlization and Rural Society)

वैश्वीकरण जहाँ वैश्विक संदर्भ है, ग्राम संरचना स्थानीय है। एक बडा प्रश्न यह है कि क्या वैश्वीकरण की प्रक्रिया स्थानीय संरचनाओं को प्रभावित कर सकती है? इस प्रश्न के संदर्भ में दो अलग-अलग मान्यताएं है। एक मान्यता का कहना है कि वैश्वीकरण की प्रक्रिया सभी कुछ समाहित कर लेगी और दुनिया एक बडा वैश्विक गाँव (Global village) हो जायेगा। वैश्विक गाँव की यह कल्पना ग्रामीण जीवन की समरसता की कल्पना है। दूसरा मत यह है कि वैश्वीकरण की प्रक्रिया स्थानीयता तथा विभिन्नता को स्पर्श नहीं कर पायेगी तथा विभिन्नताएँ यथा रूप में विद्यमान रहेगी। इन दोनों मतों के अपने-अपने तर्क हैं और अपने उदाहरण है। कई विद्वानों ने वैश्विक स्थानीयता (Globalization) की चर्चा भी की है, जिसका अर्थ स्थानीय स्तर पर वैश्विक दृष्टि। यह दृष्टि स्थानीयता को बरकरार रखते हुए भी वैश्विक सोच को प्रोत्साहन देती है।

वैश्वीकरण का बाजारी तथा व्यापारिक पक्ष, सारी प्रक्रिया को बहुत तेज कर गया है और इसी कारण से शक्तिशाली सांस्कृतिक समस्याएँ पैदा हो गई है। भारत जैसे देश में पारम्परिक वाणिज्य एवं व्यापार की अवस्थाएँ मौजूद रही है और 1990 के बाद जो भी आर्थिक प्रक्रियाएँ प्रारंभ हुई है, उनके साथ इन परम्पराओं ने सामंजस्य करने की चेष्टा की है। पर इससे लोगों की जीवनशैली. उपभोक्ता प्रतिमान, स्थानीय स्तर पर सांस्कृतिक उत्पाद तथा नये उत्पादों के बाजारों का निर्माण- सभी कुछ परिवर्तन के संदर्भ में आ गया है। कभी-कभी इन्हीं उत्पादों के

आधार पर वैश्वीकरण की प्रक्रिया को मैकडोनाल्डीकरण (Macdonaldization) तथा डिस्नेकरण(Disneyization) भी कहा गया है। उपभोग (Consumption) तथा सामाजिक सांस्कृतिक आचरणों के बीच गहरा रिश्ता भी स्थापित हुआ है। इन परिवर्तनों ने पारंपरिक सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों के तरीकों को बदला है। ये तरीके अब वैश्वीकरण की प्रक्रियाओं के साथ छू गये हैं। लोक संस्कृति का संबंध अब लोकप्रिय संस्कृति (Popular Culture) के साथ स्थापित हो गया है और लोक अभिव्यक्तियों का भी अब पदार्थीकरण (Commonditification) हो गया है।

कृषि क्षेत्र में औद्योगीकरण तथा विकास की प्रक्रियाओं ने ग्रामीण क्षेत्रों में उपभोक्ता व्यवहार बदल दिया है। ऐसा उपभोक्ता व्यवहार अब तक केवल नगरों तथा महानगरों तक ही सीमित था। वैश्वीकरण की आर्थिक नीतियों के कारण ग्रामों में भी एक बहुत बड़ा माध्यम बन गया है जो अब तक नगरों तथा महानगरों तक सीमित था। तकनीकी शिक्षा से प्राप्त व्यवसायों का विवरण केवल नगरों तक ही सीमित नहीं रहा अपितु इन व्यवसायों में कार्यरत (विदेशों में भी) लोगों की पश्ष्ठभूमि ग्रामीण परिवेश की है।

वैश्वीकरण ने किसी भी समाज में बाजार, व्यापार, वित्तीय विचार, संचार तथा जनसंचार, विज्ञान तथा तकनीक तथा अन्तसंकृति के आदान-प्रदान को बढ़ावा दिया है। इसके साथ ही बहुत से अन्य मुद्दे भी जुड गए हैं, जिनने सामाजिक अवस्थाओं को प्रभावित किया है। बाजार तथा सांस्कृतिक उपभोग रूचि में परिवर्तन के कार' भी व्यापक परिवर्तन आया है। नेशनल सैम्पल सर्वे के अनुसार भारत में दालों का उपभोग घटा है और तैयार दुग्ध तथा मांस का उत्पादन तथा वितरण बढ़ा है। उत्पादो की इन्हीं अवस्थाओं के लिए हरित क्रांति (Green Revolution) तथा श्वेत क्रांति (White Revolution) के प्रयास मी किये गये हैं। ये प्रयास यद्यपि भारत के कुछ क्षेत्रों तक ही सीमित है, पर इनका संबंध नई बैश्बिक आर्थिक नीतियों से रहा है। ग्रामीण समाजों में उपभोक्ता संस्कृति का ब्राण्डों के साथ जुड़ना भी एक परिवेश है, जो स्पष्टत: नये परिवर्तन की ओर संकेत देता हैं। जैसा कि कहा जा चुका है नई आर्थिक नीतियाँ या दूसरे शब्दों में आर्थिक स्पार वैश्बीकरण की आर्थिक नीतियों के परिणाम हैं। ग्रामीण संरचना में उत्पादन के आधार भी ये ही शक्तियाँ तय करती है। यही नीतियाँ उनके उत्पाद का दाम भी निर्धारण करती है। ये दाम लागत को नहीं दिलाते' साथ ही ऋण ग्रस्तता को बढ़ाते हैं। अमरीका के किसानों का एक अध्ययन यह बताता है कि अमेरिका में भी किसानी उत्पादन लाभ का उत्पादन नहीं है- ऋण ग्रस्तता का उत्पादन है। वैशविकरण के आर्थिक पक्ष किसानों को सहायता देने के पक्ष में नहीं है। वैश्वीकरण की आर्थिक तथा पेटेन्ट कानून ने भारत में की जाने वाली खेती को असमंजस में डाल दिया है। बासमती चावल, हल्दी और नीम आदि के पेटेंट ने किसानों के उत्पादन पर एक प्रकार से रोक लगाई है। इसका असर ग्रामीण समाज के मौलिक उत्पाद तथा भारत की विशेष कृषि उत्पादकता पर पडेगा। ग्रामीण संरचना की अर्थव्यवस्था पर इसका व्यापक प्रभाव पडेगा।

प्रो योगेन्द्र सिंह के अनुसार वैश्वीकरण के विभिन्न पक्षों और उनके प्रभावों को निभ रूप में देखा जा सकता है :

1. संचार अवस्था में क्रांति जिससे सूचनाओं तथा संदेशों के आदान-प्रदान ने गीत पकडी है और वैश्विक तकनीकों तथा वैश्विक सोच का प्रसार बढ़ा है।
2. वित्तीय पूंजी अर एक देश में ही केन्द्रित नहीं है - इसका विस्तार वैश्विक स्तर पर हुआ है। परिणाम स्वरूप गरीब देशों को अपने आर्थिक आधारों को सुदृढ़ करने का अवसर मिला है।
3. उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन तथा उसके बाजारीकरण ने सांस्कृतिक प्रतीकों तथा व्यवहारों पर व्यवहारों डाला है। ये व्यवहार अब विश्वव्यापी स्तर पर देखे जा सकते है।
4. विश्व स्तर की राजनीति ने राजनीतिक मूल्यों, राज्य प्रणाली, बिचारधाराओं तथा आन्दोलनों पर प्रभाव डाला है। विश्व की घटनाएँ अब भारत के नागरिकों के सोच को भी प्रभावित करने लगी है।
5. वैश्वीकरण ने श्रमिकों के अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आवास प्रवास को प्रभावित किया है।

15.5 सारांश

इस पाठ में वैश्वीकरण और ग्रामीण संरचना पर प्रभावो की चर्चा की गई। सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में आज वैश्वीकरण महत्वपूर्ण आधार है। वैश्वीकरण की प्रक्रिया के संबंध में प्राय: यह कहा गया है कि यह एक तरफा प्रक्रिया है अर्थात् यह पाश्चात्य देशों में अविकसित देशों की ओर प्रवाह है। इस प्रवाह में कृषि प्रधान तथा पारंपरिक समाजों पर व्यापक प्रभाव पडा है। पर यह कहना गलत है कि इस प्रक्रिया से कोई बहुत बडा रूपान्तरण हो गया है। भारत के ग्रामों में यद्यपि वैश्वीकरण ने पैर पसार दिये हैं, पर ग्रामीण सामाजिक संरचना बहुत कुछ बदल गई है, यह कहना बडा मुश्किल है। उपभोक्ता आधारों के बदल जाने के बावजूद लोगों की रुचि स्थानीय स्वाद तथा सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों से हटी नहीं है। आर्थिक आधारों में परिवर्तन के कारण ग्रामीण व्यावसायिक संरचना पर व्यापक प्रभाब पडा है और इस प्रभाव से ग्रामीण समाज में विपन्नता बढ़ी है। विश्व कपार संगठन, संरचना की विपलता का कारण है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व रैंक ग्रामीण अर्थ संरचना को प्रभावित कर रहा है और यही ग्रामीण सामाजिक संरचना की विपन्नता का कारण है।

15.6 शब्दावली

पूँजीवाद : उत्पादन का स्रोत पूँजी। मार्क्स ने आर्थिक संरचना के परिवर्तित सोपानों में उत्पादन के तरीके के लिए पूँजी को स्वीकार किया था।

वैश्वीकरण : सामाजिक संबंधों तथा संस्तुति का विश्व कापी प्रसार

विश्वग्राम : एक दूसरे की अन्तीनर्भरता पर आधारित विश्व की सामाजिक व्यावस्था

संचार क्रांति : विश्वव्यापी स्तर पर सूचनाओं तथा तकनीकी जानकारी का आम लोगों के लिए प्रवाह

विश्व व्यापार संगठन : अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए बना अन्तर्राष्ट्रीय संगठन

15.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Singh, Yogendra (2000); Cultural Change in India, Jaipur, Rawat.

2. Giddins, Anthony (2001); in (ed. Seedwan and Alexandre), New Social Theory Reader, London, Routledge.
3. Doshi, S.L. (22003); Modernity and Neo Sociological Thories, Jaipur, Rawat.
4. Chandan Sen Gupta (2001); Concept of Globalization : Search for meaning and Issues, EPW,August 18-24.

इकाई 16

सामुदायिक विकास कार्यक्रम

इकाई की रूपरेखा

16 .0 उद्देश्य
16.1 प्रस्तावना
16.2 सामुदायिक विकास का अर्थ
16.3 सामुदायिक विकास योजना के उद्देश्य
16.4 सामुदायिक विकास योजना का संगठन
16.5 सामुदायिक विकास कार्यक्रम की उपलब्धियाँ
16.6 सामुदायिक विकास कार्यक्रम का मूल्यांकन
16.7 सारांश
16.6 सन्दर्भ ग्रंथ
16.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

16.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप -

- सामुदायिक विकास का अर्थ एवं उद्देश्य समझ सकेंगे।
- सामुदायिक विकास योजना के संगठन के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- सामुदायिक विकास कार्यक्रम की उपलब्धियाँ जान सकेंगे।
- सामुदायिक विकास कार्यक्रम का मूल्यांकन कर सकेंगे।

16.1 प्रस्तावना

भारत गाँवों में निवास करता है। गाँवों के अधिकांश निवासी लघु सीमान्त, भूमिहीन श्रमिक और कारीगर हैं। यही गरीबी एवं निम्न जीवनस्तर की समस्याएँ हैं। गाँवों में अशिक्षा और अज्ञानता भी पायी जाती है। यहाँ रोजगार के अवसर भी कम होते है। प्रति एकड कृषि उत्पादन की मात्रा भी कम है। इस प्रकार ग्रामीण क्षेत्र की समस्याओं को देखते हुए ग्रामीण पुनर्निर्माण को विशेष महत्ता प्रदान की गयी। स्वतंत्रता के पश्चात् ग्रामीण पुनर्निर्माण के प्रयास अलग-अलग सरकारी विभागों द्वारा प्रारंभ किये गये। अलग-अलग सरकारी विभागों द्वारा चलाये जा रहे कार्यक्रम एक प्रकार से ग्रामवासियों के लिए असमंजस की स्थिति पैदा करने लगे। यह भी अनुभव किया गया कि किसी कार्यक्रम को सफलता मिली तो अन्य कार्यक्रम असफल हो गये। इस स्थिति से निपटने के लिए संमूर्ण समुदाय के विकास की दाशिष्ट से समन्वित कार्यक्रम की आवश्यकता महसूस की गई। अत: समुदाय आधारित कार्यक्रम की योजना को प्रधानता दी गयी। इसे व 1952 में ग्रामीण पुनर्निर्माण का प्रमुख आधार बनाया गया। सामुदायिक विकास की अवधारणा के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कृष्णामाचारी ने लिखा है कि 'ग्रामीण जीवन में सामाजिक, आर्थिक तथा कृषि विकास एक दूसरे से इस प्रकार सम्बंधित हैं

कि इन्हें एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता है। अत सामाजिक स्थिति को ठीक करने के लिए आर्थिक स्थिति को ऊँचा उठाना होगा। इसी प्रकार आर्थिक स्थिति को ठीक करने के लिए कृषि उत्पादकता में सुधार लाना होगा। चूँकि ग्रामीण जीवन के सभी पक्ष एक दूसरे से सम्बद्ध हैं, इसलिए पश्थक - पश्थक प्रयास के स्थान पर समन्वित प्रयास की आवश्यकता है ।

16.2 सामुदायिक विकास का अर्थ

सामुदायिक विकास का अर्थ समुदाय के विकास से है। सामुदायिक विकास एक ऐसी प्रणाली है जो सामूहिक रूप से आर्थिक, सामाजिक तथा सर्वांगीण विकास के लिए सरकार के कार्यक्रमों को अपनाने में सहयोग करती हैं। सामुदायिक विकास कार्यक्रम समुदाय के लोगों द्वारा संचालन पर बल देता है। सरकार का दायित्व सिर्फ आर्थिक सहायता एबं मार्ग-दर्शन करने का है। सामुदायिक विकास कार्यक्रम ग्रामीण क्षेत्र में असमानता, अशिक्षा, गरीबी, स्वास्थ्य समस्याएँ, कृषि सभी समस्याएँ तथा औद्योगिक विकास की समस्याओं को दूर करने का समन्वित प्रयास है।

ए. आर. देसाई (A.R.Desai) ने सामुदायिक विकास योजना को एक ऐसी प्रणाली माना है जो विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा ग्रामीण सामाजिक एवं आर्थिक संरचना को उद्देश्य के अनुरूप बदलना चाहती है। भारत के योजना आयोग भी सामुदायिक विकास को ग्रामीण जनता के सहयोग द्वारा आर्थिक एवं सामाजिक परिवर्तन का माध्यम माना है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में सामुदायिक विकास कार्यक्रम का प्रमुख उद्देश्य सम्पूर्ण ग्रामीण जीवनस्तर को उन्नत करने हेतु समन्वित प्रयास करना है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सामुदायिक विकास ग्रामीण जीवन के सामाजिक आर्थिक, राजनैतिक एबं सांस्कृतिक जीवन में बदलाव लाने की एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें ग्राम वासियों को स्वयं निर्णय लेकर विकास का मार्ग प्रशस्त करना है, जबकि सरकार का कार्य केवल प्रौद्योगिक एवं आर्थिक सहायता तक सीमित है। उपर्युक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि ग्रामवासियों में सामुदायिक आत्मनिर्भरता तथा स्वायत्तता की प्रवृत्ति को बढ़ाया जा सके। इन सभी उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए एक तरफ भौतिक लक्ष्यों पर जोर दिया गया है तो दूसरी तरफ स्वास्थ्य, शिक्षा, कृषि, पशुपालन, कुटीर उद्योग, आवागमन के साधन आदि के क्षेत्रों पर भी ध्यान दिया गया है। इसके साथ-साथ ग्रामवासियों में नयी तकनीकों को कृषि में अपनाने के लिए व्यवहारिक परिवर्तन लाने का कार्य भी किया गया है।

इन सभी प्रयासों का उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों में सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त करना है।

16.3 सामुदायिक विकास योजना का उद्देश्य

सामुदायिक विकास योजना के दो प्रमुख उद्देश्य हैं :

1. कृषि उत्पादकता में वृद्धि, आवागमन के साधनों का विकास, ग्रामीण शिक्षा तथा स्वास्थ्य के क्षेत्र में प्रगति करना। कुल मिलाकर बुनियादी ढाँचे को विकसित करना।
2. ग्रामीण जीवन को नियोजित परिवर्तन के उद्देश्य से एक सुव्यवस्थित वैचारिक तथा सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रक्रिया को प्रारंभ करना।

सामुदायिक विकास मंत्रालय, भारत सरकार ने इस कार्यक्रम के आठ उद्देश्यों पर प्रकाश डाला है, जो निम्नलिखित है :

1. ग्रामवासियों में वैचारिक परिवर्तन लाना।
2. क्रियाशील नेतश्त्व का विकास करना।
3. ग्रामीण क्षेत्र में आत्मनिर्भरता को बढ़ावा देना।
4. कृषि में नयी तकनीकों का प्रयोग बढ़ाना जिससे उत्पादकता में वृद्धि हो सके।
5. ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि से सम्बान्धित उद्योगों को बढ़ावा देना।
6. ग्रामवासियों के व्यक्तित्व का निर्माण करना।
7. ग्रामीण स्त्रियों की स्थिति को उँचा उठाना।
8. ग्रामीण स्वास्थ्य पर ध्यान देना जिससे वे अधिक से अधिक क्रियाशील हो सकें।

   उपर्युक्त उद्देश्यों से स्पष्ट है कि सामुदायिक विकास कार्यक्रम का व्यापक उद्देश्य सभी ग्रामवासियों का सर्वांगीण विकास करना है।

16.4 सामुदायिक विकास योजना का संगठन

सामुदायिक विकास योजना का संगठन पाँच-स्तरीय है। ये पाँच स्तर निम्न हैं : केन्द्र स्तर राज्य स्तर, जिला स्तर खण्ड स्तर तथा ग्राम स्तर।

1. केन्द्र स्तर : केन्द्र स्तर पर यह कार्यक्रम कृषि एवं सिंचाई मंत्रालय से निर्देशित होता है। कार्यक्रमों को लागू करने का अधिकार राज्य सरकार के अधीन है। केन्द्र स्तर पर नीति बनाने एवं मूल्यांकन करने के लिए प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में एक परामर्शदात्री परिषद् का भी गठन किया गया है। कृषि मंत्री तथा योजना आयोग के सदस्य भी इसके सदस्य होते हैं।
2. राज्य स्तर राज्य स्तर पर मुख्यमंत्री की अध्यक्षता में एक विकास समिति का गठन किया गया है। विकास आयुक्त इस समिति के सचिव होते हैं।
3. जिला स्तर : जिला परिषद् द्वारा इस कार्यक्रम का क्रियान्वयन किया जाता है। परिषद् में ग्रामीण जनता के प्रतिनिधि के अतिरिक्त लोकसभा तथा विधानसभा के सदस्य होते हैं। जिलाधीश की अध्यक्षता में एक जिला नियोजन समिति भी होती है जो जिला परिषद् द्वारा निर्धारित नीतियों के अनुसार सामुदायिक विकास के कार्यक्रमों का संचालन करती है।
4. खण्ड स्तर : प्रारम्भ में एक विकास खण्ड में 300 गाँव तथा लगभग 2 लाख की आबादी होती थी। वाद में गाँवों की संख्या 100 तथा जनसंख्या 1 लाख कर दी गई। सन् 1969 के बाद इन कार्यक्रमों के लिए आवश्यक धन राशि जुटाने का भार राज्यों को दे दिया गया। इस स्तर पर विकास कार्यो की जिम्मेदारी पंचायत समिति की होती है।
5. ग्राम स्तरः इस स्तर पर ग्राम पंचायत विकास कार्यक्रमों का क्रियान्वयन करती है। ग्राम सेवक लगभग 10 गाँवों में जनता के सहयोग से कृषि, शिक्षा, स्वास्थ्य, पशुपालन, कुटीर उद्योग, सहकारिता आदि क्षेत्रों में विकास का कार्य करता है।

16.5 सामुदायिक विकास कार्यक्रमों की उपलब्धियाँ

कृषि कार्य : कृषि के क्षेत्र में विभिन्न कार्य किये गये, जिसमें सिंचाई के साधनों जैसे कुएँ, नलकूप तालाब, नहरें आदि का निर्माण किया गया। इसके अतिरिक्त उत्तम बीजों, आधुनिक कृषि के औजारों के प्रयोग हेतु प्रशिक्षण की व्यवस्था की गयी। सहकारिता आंदोलन को आगे बढ़ाने का कार्य भी किया गया। इसके अलावा बंजर भूमि को कृषि योग्य बनाना तथा लघु किसानों के लिए सहायता राशि उपलब्ध कराने का प्रावधान किया गया। यातायात के साधन. नवीन सडकों का निर्माण कर मुख्य सडक से सम्पर्क जोडना, सडकों की मरम्मत आदि का कार्य किया गया।

स्वास्थ्य तथा सफाई : प्रत्येक विकास खण्ड में एक स्वास्थ्य केन्द्र की स्थापना की गयी है। स्वच्छ पीने के पानी की व्यवस्था तथा संक्रामक रोगों से बचाव के भी प्रबन्ध किये गये।

शिक्षा संबंधी कार्य. मुक्त प्राथमिक शिक्षा. माध्यमिक तथा उच्चतर माध्यमिक शिक्षा प्रौढ़ शिक्षा तथा पुस्तकालय आदि की व्यवस्था की गयी।

उपरोक्त कार्यो के अलावा कुटीर उद्योग के लिए ऋण व्यवस्था प्रशिक्षण-केन्द्रों की स्थापना' मनोरंजन केन्द्रों की स्थापना काम के बदले अनाज योजना द्वारा रोजगार के अवसर उपलब्ध कराने तथा बच्चों को दोपहर का भोजन आदि के क्षेत्रों में भी महत्वपूर्ण कार्य किये गये हैं।

16.6 सामुदायिक विकास का मूल्यांकन

सामुदायिक विकास कार्यक्रम की सफलता पर मिली-जुली प्रतिक्रिया देखने को मिलती है। जहाँ इस योजना के प्रशंसकों द्वारा इसके ग्रामीण पुनर्निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान बताया गया वहीं दूसरी तरफ इसके आलोचकों ने इसे एक असफल प्रयास बताया है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री डॉ. एस.सी. दुबे ने अपने अध्ययन में इस योजना के दोनों पक्षों की सफलता एवं असफलता पर प्रकाश डाला है। उन्होंने मुख्यत बार कारणों का उल्लेख किया है जो इसके सफलता में बाधक साबित हुए हैं। ये कारण निम्न हैं -

1. प्रशासनिक असफलता;
2. प्रभावशाली संचार माध्यमों का अभाव;
3. विकास में सांस्कृतिक कारणों की भूमिका के प्रति उदासीनता;
4. ग्रामीण क्षेत्र में योग्य नेताओं का अभाव।

   उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त अनेक समाजशास्त्रियों ने कुछ और कारणों को भी बताया है जैसे :

1. प्रशिक्षित व्यक्तियों का अभाव
2. जनसहभागिता में कमी;
3. ग्रामीण जनता की पहल में कमी;
4. ग्राम सेवक का विस्तृत कार्य-क्षेत्र;
5. विभिन्न स्तरों पर समन्वय का अभाव

6. योजना निर्माण में ग्रामीण जनता के प्रतिनिधित्व का अभाव।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि सामुदायिक विकास कार्यक्रम में अनेक कमियाँ हैं, किन्तु यह भी कहना उचित नहीं होगा कि सामुदायिक विकास कार्यक्रम अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में पूर्णत: असफल रहा है। यह मी सही नहीं है कि यह कार्यक्रम पूर्णत: अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में सफल रहा है। किसी भी कार्यक्रम की सफलता जनसहभागिता पर निर्भर करती है।

16.7 सारांश

स्वतंत्रता के पश्चात् ग्रामीण समस्याओं को देखते हुए ग्रामीण पुनर्निर्माण के प्रयासों को बढ़ावा देने के लिए सामुदायिक विकास कार्यक्रम प्रारम्भ किये गये। इसे ग्रामीण पुनर्निर्माण का मुख्य आधार बनाया गया। सामुदायिक विकास एक ऐसी प्रणाली है, जो सामूहिक रूप से सर्वांगीण विकास के लिए सरकार के कार्यक्रमों को अपनाने में सहयोग करती हैं। ग्रामीण समस्याएँ जैसे अशिक्षा असमानता गरीबी, स्वास्थ्य समस्याएँ, औद्योगिक विकास की समस्याओं को दूर करने का समन्वित प्रयास है। सामुदायिक विकास एक माध्यम है जो विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा नियोजित परिवर्तन लाने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करती है। सामुदायिक विकास कार्यक्रम ग्रामवासियों को स्वयं पहल करने के लिए प्रेरित करती है। यह कार्यक्रम तीव्र विकास के लिए आधुनिक तकनीक के प्रयोग, वैचारिक परिवर्तन एवं प्रशिक्षण पर परस्पर ध्यान देता है। सामुदायिक विकास योजना के दो प्रमुख उद्देश्य हैं - 1) वैचारिक तथा सांस्कृतिक परिवर्तन तथा 2) कृषि उत्पादकता में वृद्धि, शिक्षा स्वास्थ्य के क्षेत्र में प्रगति करना। सामुदायिक विकास योजना का संगठन पाँच-स्तरीय है - 1) केन्द्र स्तर 2) राज्य स्तर, 3) जिला स्तर, 4) खण्ड स्तर, तथा 6) ग्राम स्तर।

सामुदायिक विकास कार्यक्रम से कृषि उत्पादकता में वृद्धि, सहकारिता आंदोलन में वृद्धि, रोजगार सृजन में वृद्धि, शिक्षा तथा स्वास्थ्य कार्यक्रमों में वृद्धि दर्ज की गयी सामुदायिक विकास योजना भौतिक लक्ष्यों की प्राप्ति में सफल हुई जबकि जनसहभागिता को बढ़ाने में अपेक्षाकृत कम सफल हो पायी।

16.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Dube, S.C., India's Changing Villages, Popular Prakashan, Bombay,1958.
2. गुप्ता, एम.एल. एवं शर्मा, डी. डी., भारतीय ग्रामीण समाजशास्त्र साहित्य भबन, आगरा 1996.
3. Desai, A.R. (ed.) Rural Sociology in India, Popular Prakashan, Bombay, 1969.
4. Raina, R.N., Community Devlopment and People's Participation,Kurukshetra April, 1961.

16.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. सामुदायिक विकास कार्यक्रम किस प्रकार की प्रणाली है?
2. सामुदायिक विकास कार्यक्रमों के उद्देश्य को स्पष्ट कीजिए।
3. सामुदायिक विकास कार्यक्रम के संगठन का उल्लेख कीजिए।
4. सामुदायिक विकास कार्यक्रम में जनसहभागिता के महत्व का उल्लेख कीजिए।
5. सामुदायिक विकास कार्यक्रम की उपलब्धियों पर प्रकाश डालिए।
6. सामुदायिक विकास कार्यक्रम की विफलताओं के कारणों को स्पष्ट कीजिए।
7. सामुदायिक विकास कार्यक्रम के प्रभाव का मूल्यांकन कीजिए।

इकाई 17

सहकारिता आन्दोलन

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य
17.1 प्रस्तावना
17.2 सहकारिता के सिद्धान्त
17.3 भारत में सहकारिता का इतिहास
17.4 योजनाकाल में सहकारी आन्दोलन
17.5 सहकारी समितियों का वर्गीकरण
17.6 सहकारिता आन्दोलन में समस्याएँ
17.7 सहकारिता के विकास के सुझाव
17.8 सारांश
17.9 सन्दर्भ ग्रंथ
17.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

17.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप -

- सहकारिता के सिद्धान्त समझ सकेंगे।
- भारत में सहकारिता के इतिहास के बारे में जान सकेंगे।
- योजनाकाल में सहकारी आन्दोलन के तहत किये गये कार्यो के बारे में जान सकेंगे।

17.1 प्रस्तावना

भारत में सहकारिता आन्दोलन की उत्पत्ति बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से ही देखने को मिलती है। एक सामान्य उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किये गये मिलजुल कर प्रयत्न सहकारिता के रूप में जाना जाता है। यह सामूहिक प्रयत्न का द्योतक है। सहकारिता की अवधारणा को विभिन्न संगठनों एवं विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से विशिष्ट शब्दों द्वारा परिभाषित किया है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के अनुसार, सहकारी समिति आर्थिक रूप से कमजोर व्यक्तियों का संगठन है, जो अपने समान उद्देश्य के लिए समान अधिकारों तथा समान उत्तरदायित्वों के आधार पर स्वेच्छा से संगठित होते है और लोकतांत्रिक ढंग से साथ-साथ कार्य करते हैं, जिससे उन सब का भौतिक और नैतिक लाभ हो। दूसरे शब्दों में, सहकारिता एक जैसे लोगों का स्वैच्छिक आर्थिक संगठन है जो अपने सदस्यों की सामान्य हितों की रक्षा करता है। अन्तर्राष्ट्रीय सहकारी संगठन की परभाषा के अनुसार एक सहकारी समिति उन व्यक्तियों का संगठन है जो एक संयुक्त स्वामित्व और लोकतांत्रिक नियंत्रण वाले उद्यम के माध्यम से अपनी साझा आर्थिक. सामाजिक और सांस्कृतिक आवश्यकताओं तथा आकांक्षाओं की पूर्ति हेतु स्वेच्छा

से जुडे रहते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सहकारी समितियाँ समानता' लोकतंत्र, स्व-सहायता एवं साम्यवाद के मूल्यों पर आधारित है। इन्हीं विशेषताओं के कारण सहकारी समितियाँ निजी उद्यम से भिन्न होती है। ये समितियाँ किसी मी उद्देश्य की पूर्ति के लिए बनाई जा सकती है. जैसे वित्त, उत्पादन वितरण आदि। मारता में साख समितियों की संख्या ज्यादा है। मारता में वस्तुत इसकी उत्पत्ति इसी उद्देश्य को लेकर हुई थी जिससे ग्रामीण ऋणग्रस्तता को दूर किया जाये और उन्हें साख उपलब्ध की जा सके।

17.2 सहकारिता के सिद्धान्त

सहकारिता की सफलता जिन मूलभूत सिद्धान्तों पर आधारित है, वे निम्नलिखित हैं:

1. स्वैच्छिक सदस्यता : कोई भी व्यक्ति स्वेच्छा से इसकी सदस्यता ग्रहण करने में किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाता है।
2. लोकतांत्रिक कार्य प्रणाली : सहकारी समितियों का संचालन लोकतांत्रिक पद्धति पर आधारित है। इनका संचालन इनके स्थायी सदस्यों द्वारा किया जाता है। प्रत्येक सदस्य को एक मत' देने का अधिकार होता है। सभी प्राथमिक सदस्यों को समान अधिकार प्राप्त होते हैं।
3. सामाजिक, आर्थिक एवं नैतिक उन्नयन : संबन्धित सभी सदस्यों का सहकारी समितियों से सामाजिक, आर्थिक एवं नैतिक उन्नयन होता है।
4. स्वायत्तता : सहकारी समितियों के संचालन में किसी बाहरी व्यक्ति अथवा संस्था का कोई प्रभाव नहीं पडता है। ये स्वायत्तशासी तथा स्व-सहायता संगठन है।
5. शिक्षण एवं प्रशिक्षण : सहकारी समितियाँ अपने सदस्यों के उन्नयन के लिए शिक्षण एवं प्रशिक्षण का कार्य करती है, जिससे वे अधिक प्रभावी रूप में अपना योगदान दे सके।
6. सेवा भावना : सहकारी समितियों का मुख्य उद्देश्य अपने सदस्यों को अधिक से अधिक सुविधाएँ सुनिश्चित करना है न की लाभ कमाना।
7. परस्पर सहयोग : सहकारी समितियों के मध्य परस्पर सहयोग की भावना उन्हें एक सबल गठित शक्ति में बदल देते हैं। एक व्यक्ति सबके लिए व सब व्यक्ति एक के लिए सहकारिता का मूल मंत्र है।

17.3 भारत में सहकारिता का इतिहास

सन् 1904 का सहकारी साख समिति अधिनियम भारत के सहकारिता आंदोलन के इतिहास की सबसे महत्वपूर्ण घटना थी। इस कानून का मुख्य उद्देश्य लघु कृषकों को आवश्यक मात्रा में ऋण की सुविधा उपलब्ध कराना था क्योंकि वे पूरी तरह साहूकारों के पंजे में थे। इस कानून की कार्य प्रणाली की समीक्षा से यह ज्ञात झा कि जिस उद्देश्य को लेकर यह कानून पास किया गया था वे सभी उद्देश्य इससे पूरे नहीं हो पा रहे थे। ग्रामीण ऋणग्रस्तता को दूर करने के लिए कार्यशील पूँजी की कमी, विपणन परिष्करण तथा कृषि कार्यों के लिए गैर-ऋण सहकारी समितियों के गठन से सम्बन्धित प्रावधानों की कमी आदि को दूर करने के लिए सन् 1912 में एक और अधिनियम पारित किया गया। इस अधिनियम का आधार अधिक व्यापक था जिससे उपरोक्त कमियों को दूर करने का प्रयास किया गया। इस अधिनियम के अन्तर्गत सभी उद्देश्यों

के लिए सहकारी समितियों की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हो गया। इससे सहकारिता आन्दोलन की गति में तेजी आ गई।

सहकारी आंदोलन में अधिक तीव्रता लाने के लिए सन् 1919 में सुधार अधिनियम पारित किया गया' जिससे राज्य सरकारों को 1912 के अधिनियम में आवश्यक सुधार का अधिकार प्राप्त हो गया। इसके अनुसार विभिन्न राज्यों में स्थानीय सामाजिक-आर्थिक स्थिति के अनुसार सहकारी कानून पारित किए गए, जिससे सहकारी आंदोलन में तेजी दर्ज की गई। सन् 1929-30 में विश्वव्यापी आर्थिक मंदी का दौर प्रारंभ हुआ जिसका भारतीय सहकारी आंदोलन की प्रगति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। कृषि उत्पादों की कीमत में तीव्र गिरावट दर्ज की गई. जिससे सहकारी समितियों की बकाया ऋण की राशि में कई गुना वृद्धि हुई और अन्ततः आर्थिक रूप से कमजोर समितियों को बन्द करनी पड़ी। सन् 1939-46 में द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान कृषि उत्पादों की कीमतों में वृद्धि होने के कारण कृषकों की आर्थिक स्थिति सुधरने लगी। ऋण वापसी की मात्रा में उल्लेखनीय वृद्धि हुई एवं कई प्रकार के उपभोक्ता तथा विपणन समितियों का विकास प्रारंभ हुआ।

सन् 1947 के बाद स्वतंत्र भारत ने ग्रामीण आर्थिक विकास में सहकारिता को एक महत्वपूर्ण साधन के रूप में स्वीकार किया है। इन सब प्रयासों के बाद भी जनसंख्या के अनुपात में सहकारी समितियों तथा इनके सदस्यों की संख्या में कोई खास वृद्धि नहीं हुई। सहकारिता के गैर-साख पक्ष' साख-पक्ष की तुलना में कम विकसित पायी गई। सन् व 1951 में भारतीय रिजर्व बैक ने श्री गोरवाला की अध्यक्षता में अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति का गठन किया। सन् 1954 में इसकी रिपोर्ट प्रकाशित की गई, जिसमें सहकारी आंदोलन को असफल घोषित कर दिया गया। यद्यपि सहकारी आंदोलन को ग्रामीण विकास में एक महत्वपूर्ण साधन के रूप में माना गया। कृषकों की आर्थिक स्थिति सुधारने का इससे अच्छा अन्य कोई मार्ग नहीं है। इसके अतिरिक्त, लघु एबं मध्यम अवधि के ऋणों के लिए त्रि-स्तरीय वितरण व्यवस्था तथा दीर्घावधि के लिए भूमि विकास बैंक को अधिकृत करने की सिफारिश की गई। प्रभावी क्रियान्वयन के लिए ग्राम स्तर से राष्ट्र स्तर तक समन्वय स्थापित करने के लिए सहकारी प्रशिक्षण को भी महत्वपूर्ण माना गया।

17.4 योजनाकाल में सहकारी आंदोलन

प्रथम योजना काल में सहकारी आंदोलन को ग्रामीण नियोजित विकास के एक महत्वपूर्ण कार्यक्रम के रूप में अपनाया गया। सहकारी समितियों की संख्या एवं सदस्यता बढ़ाने पर जोर दिया गया। परिणामस्वरूप समितियों की संख्या एवं सदस्यता में उत्साहजनक वृद्धि दर्ज की गई।

दूसरी से पाँचवी पंचवर्षीय योजना काल में समाजवाद की स्थापना मै सहकारिता को एक महत्वपूर्ण साधन के रूप में अपनाया गया। दूसरी योजना काल में समितियों के व्यवहारिक आकार पर विचार-विमर्श भी किया गया। वैकंठ मेहता समिति ने सभी दृष्टिकोण से विश्लेषण कर मध्यम आकार की समितियों के गठन के लिए अनुशंसा की, जिससे उद्देश्यों को ध्यान में रखकर उनका प्रबन्धन किया जा सके।

तीसरी पंचवर्षीय योजनाकाल में समितियों के माध्यम से ग्रामीण क्षेत्रों मै नये रोजगार के अवसर उपलब्ध कराने पर बल दिया गया। जबकि चौथी योजनाकाल में सहकारिता के विकास के लिए प्रशिक्षण को मुख्य अधार बनाया गया। कृषि में उत्पादकता बढाने तथा लघु एवं सीमान्त किसानों की ऋण की आवश्यकता की भूमि हेतु सहकारी बैंकों द्वारा ऋण उपलब्ध कराने पर जोर दिया गया। पाँचवी योजनाकाल में आर्थिक एवं सामाजिक रूप से पिछडे वर्गों की उन्नति में सहकारी समितियों को एक महत्वपूर्ण माध्यम के रूप में मान्यता दी गई। सन् व 1977 में अब तक की उपलब्धियों का विश्लेषण किया गया तथा बदलते हुए सामाजिक एवं आर्थिक परिदृश्य को ध्यान में रखकर कुछ नीतिगत अनुशंसा की गई, जिससे एक मजबूत सहकारी व्यवस्था को लागू किया जा सके। इसके अतिरिक्त सार्वजनिक वितरण प्रणाली को सुदृढ़ करना, उपभोक्ता सहकारिता को बढ़ावा देना रोजगार के अवसर बताना तथा व्यवसायिक प्रबंधन के लिए प्रशिक्षण देना आदि को नीतिगत अनुशंसा का हिस्सा बनाया गया।

छठी से दसवीं पंचवर्षीय योजनाओं में एक बार फिर कृषि को सुदृढ़ करने के लिए कृषि सहकारी समितियों को मजबूत बनाने पर जोर दिया गया। आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों के हित एवं मौजूदा नीतियों की समीक्षा भी छठी योजना का महत्वपूर्ण पहलू था। सातवीं योजना में कृषि उत्पादकता बढ़ाने तथा क्षेत्रों में विविधता लाने का मुख्य उद्देश्य था। जबकि नवीं योजना में एक बार फिर सहकारिता आंदोलन को विकास का एक अहम् आयाम माना गया। दसवीं पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सहकारी समितियों के कार्य क्षेत्र को अधिक व्यापक बनाने पर काम किया गया। बीमा पर्यटन, स्वास्थ्य, सिंचाई आदि नए क्षेत्रों में सहकारिता की संभावना तलाशने का कार्य किया गया।

17.5 सहकारी समितियों का उद्देश्यों के आधार पर वर्गीकरण

भारतीय रिजर्व बैंक ने सहकारी समितियों को उद्देश्यों के आधार पर वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया है

1. सहकारी ऋण समितियाँ :

(अ) कृषि ऋण सहकारी समितियां (ब) गैर-कृषि ऋण सहकारी समितियाँ

2. सहकारी गैर-ऋण समितियाँ :

(अ) कृषि गैर-ऋण सहकारी समितियाँ (ब) गैर-कृषि गैर-ऋण सहकारी समितियाँ

1. सहकारी ऋण समितियाँ

(अ) कृषि-ऋण सहकारी समितियाँ

ग्रामीण क्षेत्र में कम ब्याज दर पर किसानों को अल्प एवं मध्यकालीन ऋण उपलब्ध कराती है। इनकी तीन-स्तरीय संरचना होती है, जिसे निम्न प्रकार से समझा जा सकता है।

ग्राम स्तर - प्राथमिक सहकारी ऋण समितियाँ

जिला स्तर - केन्द्रीय सहकारी समितियाँ

राज्य स्तर - राज्य सहकारी बैंक

(ब) कृषि गैर-ऋण सहकारी समितियाँ

इस प्रकार की समितियाँ किसानों को उन्नत बीज. खाद, कीटनाशक दवाइयाँ कृषि औजार आदि उचित दाम पर उपलब्ध कराती है। पशुपालन तथा मछली पालन समितियाँ भी इसी श्रेणी में आती है।

2. सहकारी गैर-ऋण समितियाँ

(अ) कृषि गैर-ऋण सहकारी समितियाँ -

ये समितियाँ कृषि कार्यो को छोडकर अन्य व्यवसायों के लोगों को ऋण मुहैया कराती है। नगरों में कार्यरत समितियां इसके उदाहरण हैं।

(ब) गैर-कृषि गैर-ऋण सहकारी समितियाँ

विभिन्न प्रकार के उपयोक्ताओं की आवश्यकता की पूर्ति इस श्रेणी के सहकारी समितियों द्वारा की जाती है। इनके अन्तर्गत भवन निर्माण समितियाँ, उपभोक्ता भण्डार आदि सम्मिलित की जाती हैं।

17.6 सहकारिता आंदोलन में समस्याएँ

यद्यपि सहकारिता आंदोलन को ग्रामीण विकास के लिए सन् 1904 से ही मजबूत करने के प्रयास किए जा रहे हैं किन्तु उपलब्ध आँकडों के आधार पर कहा जा सकता है कि जनसंख्या की तुलना में इनकी संख्या काफी कम है। सहकारिता की धीमी प्रगति के प्रमुख कारण निम्न हैं। सुविधा की दृष्टि से इन कारणों को दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है -

1. सामान्य कारण

अ) सरकारी हस्तक्षेप से सहकारी समितियों के संचालन में स्वायत्तता की कमी है।

ब) कम ब्याज दर पर ऋण की उपलब्धता ही सहकारी समितियों का मुख्य केन्द्र रहा है जबकि गैर-ऋण सहकारी समितियों का प्रसार अपेक्षाकृत कम रहा है।

स) एक उद्देश्य वाली समितियों की संख्या अधिक होना।

2. आन्तरिक कारण

अ) सहकारिता की भावना का अभाव।

ब) सदस्यों द्वारा समय पर ऋण नही लौटाना।

स) प्रबन्ध मण्डल में निष्पक्ष सदस्यों का अभाव।

द) अनुभवहीन बस्तियों द्वारा प्रबन्ध मण्डल का संचालन करना।

य) ऋण-स्वीकृति में भाई-भतीजावाद का होना।

र) सहकारी समिति की सीमित पूँजी का होना।

ल) सभी राज्यों में सहकारिता के विकास में असमान गीत का होना।

17.7 सहकारिता के विकास के सुझाव

अ) बहु उद्देश्यीय समितियों के गठन पर ध्यान देना, जिससे सदस्यों की अधिक से अधिक आवश्यकता की पूर्ति की जा सके।

ब) कृषि-ऋण के साथ कृषि-विपणन का समन्वय होना चाहिए. जिससे समय पर ऋण का भुगतान सदस्यों द्वारा किया जा सके।

स) सामूहिकता की भावना विकास तथा प्रशिक्षण को प्रोत्साहित करना चाहिए।

द) ग्राम्य बचत को प्रोत्साहित कर सहकारी समितियों की वित्तीय स्थिति को दृढ़ करना चाहिए।

य) राज्य सरकारी के नियंत्रण में कमी की जानी चाहिए।

र) आरक्षित कोष की स्थापना की जानी चाहिए तथा इसमें लगातार वृद्धि कर आर्थिक सुदश्ढ़ता सुनिश्चित की जानी चाहिए।

17.8 सारांश

सहकारिता आंदोलन की उत्पत्ति बीसवीं सदी के प्रारंभ से है। सहकारी समितियाँ लोकतंत्र, समानता स्व-सहायता एवं साम्यवाद के मूल्यों पर आधारित है। सहकारी समितियां निजी उद्यम से भिन्न है सहकारी समितियां एक उद्देश्यीय एवं बहु उद्देशीय होती है। सहकारिता की सफलता स्वैच्छिक सदस्यता लोकतांत्रिक कार्य प्रणाली' स्वायत्तता प्रशिक्षण सेवा भावना एवं परस्पर सहयोग पर आधारित है। सहकारी आंदोलन में तीव्रता के लिए अनेक निष्णात की समितियों का गठन कर सहकारी आंदोलन को नई दिशा देने का प्रयास किया गया। योजनाकाल में सहकारी समितियों की प्रगति की समीक्षा की गई। सहकारी समितियां दो प्रकार की होती है - अ) सहकारी ऋण समितियां तथा ब) सहकारी गैर-ऋण समितियाँ।

सहकारी समितियों की संरचना अधिकांश राज्यों में त्रि-स्तरीय होती है-। सहकारी समितियों के प्रसार में सामान्य तथा आन्तरिक कारक बाधक हैं। बहु उद्देश्यीय सहकारी समितियों का अधिक से अधिक गठन किया जाना चाहिए।

17.9 संदर्भ ग्रन्थ

1. अग्रवाल, एन. एल., भारतीय कृषि का अर्थतंत्र, जयपुर, 1986.
2. जैन, पी.सी., भारत की आर्थिक समस्याएँ, इलाहाबाद, 19699.
3. Doshi, and Jain, P.C., Rural Sociology, Ravat, Jaipur, 2002.

17.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. सहकारिता की सामान्य विशेषता क्या है?
2. सहकारिता के मूलभूत सिद्धान्त क्या हैं?
3. भारत में सहकारिता के इतिहास पर प्रकाश डालिये।
4. योजनाकाल में सहकारिता की प्रगति का मूल्यांकन कीजिए।
5. सहकारी समितियों के प्रकार पर टिप्पणी लिखिए।
6. सहकारिता आंदोलन की विफलता के कारणों की विवेचना कीजिए।

इकाई 18

पंचायती राज व्यवस्था

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य
18.1 प्रस्तावना
18.2 स्वतंत्रता पश्चात् पंचायती राज व्यवस्था का गठन
18.3 बलवंत राय मेहता समिति की अनुशंसा
18.4 अशोक मेहता समिति
18.5 73वाँ संविधान संशोधन
18.6 ग्रामीण विकास में पंचायतों का योगदान
18.7 पंचायती राज व्यवस्था को सफल बनाने हेतु सुझाव
18.8 सारांश
18.9 सन्दर्भ ग्रन्थ
18.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

18.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप -

- पंचायती राज व्यवस्था के गठन के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे
- बलवंतराय महेता समिति एबं अशोक महेता समिति द्वारा की गयी अनुशंसाएँ जान सकेंगे
- 73 वें संविधान संशोधन के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे
- ग्रामीण विकास में पंचायतों के योगदान के बारे में समझ सकेंगे

18.1 प्रस्तावना

प्राचीन काल से ही ग्राम पंचायत ग्रामीण जनता की संरचना का एक महत्वपूर्ण आधार रहा है। ग्राम पंचायत ग्रामीण जीवन में शासन व्यवस्था, शान्ति व्यवस्था एवं सामूहिक निर्णय लेने की एक मात्र संस्था रही है। अनेक विद्वानों ने ग्राम पंचायत को इसके ग्रामीण जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका को आधार बनाकर परिभाषित किया है। राधाकुमुद मुकर्जी ने ग्राम पंचायतों को प्रजातंत्र के देवता की संज्ञा दी है। मुकर्जी के अनुसार 'ग्राम पंचायत समस्त जनता की सामान्य सभा के रूप में अपने सदस्यों के समान अधिकारों स्वतंत्रताओं के लिए निर्मित होती है ताकि सब में समानता स्वतंत्रता तथा बंधुत्व विचार दृढ़ रहे।"

उपरोक्त परिभाषा से यह स्पष्ट है कि ग्राम पंचायत लोकतांत्रिक सिद्धान्त पर आधारित सत्ता के विकेन्द्रीकरण तथा ग्रामीण विकास में ग्रामवासियों की सक्रिय भागीदारी को सुनिश्चित

करने की एक महत्वपूर्ण संस्था है। अत: ग्राम पंचायत एक निकाय के रूप में ग्रामीण जीवन को शासित और पोषित करती रही है।

ग्रामीण समाज में ग्राम पंचायतों की भूमिका के आधार पर अंग्रेजों ने प्रत्येक ग्राम को एक गणराज्य माना जिसमें गणतंत्र के सभी गुण विद्यमान थे। यद्यपि अंग्रेजों ने ग्राम पंचायत की सराहना की, परन्तु उनकी नीतियों ने धीरे-धीरे इसके प्रभाव को समाप्त कर दिया। संयुक्त अधिकारों की जगह वक्तिगत अधिकारों को दिया जाने लगा। प्रत्यक्ष कर के स्थान पर अप्रत्यक्ष कर वसूला जाने लगा। भूमि-कर जिसे पंचायत वसूलती, उनका अधिकार एक व्यक्ति अथवा स्थानीय जमींदार को सौंप दिया गया। सभी प्रशासनिक एवं न्याय से संबंधित अधिकार अंग्रेजी अधिकारियों के अधीन केन्द्रित हो जाने के कारण ऐतिहासिक काल से चली आ रही पंचायतों की भूमिका बदल गई। इस प्रकार हम देखते है कि सामूहिकता के स्थान पर व्यक्तिवाद ता को बढावा दिया जाने लगा। अन्तत: आत्मनिर्भर गाँवों की व्यवस्था भी समाप्त होने लगी।

अंग्रेजी शासन काल में ग्राम पंचायतों के पुनर्गठन के प्रयास भी किये गए। पंचायतों के विघटन के पश्चात् ग्रामों में व्यवस्था बनाये रखने के लिए अंग्रेजों ने ऐसी ही अवस्था की आवश्यकता महसूस की। इस कमी को पूरा करने के लिए जिला परिषदों की स्थापना कर स्वायत्त शासन की एक नई दिशा दी गई। साइमन कमीशन तथा शाही कमीशन ने जिला परिषदों की भूमिका की समीक्षा करने के बाद इसे पुन: समाप्त कर ग्राम पंचायतों की स्थापना पर बल दिया। सर्वप्रथम बंगाल में ग्राम पंचायत की स्थापना की गई। अन्य राज्यों ने मी इस दिशा में निर्णय लिए किन्तु ग्रामीण जीवन में सहयोग के अभाव के कारण अपने उद्देश्यों को प्राप्त नहीं कर सकी। सरकारी हस्तक्षेप की नीति ने ग्राम पंचायतों को सुचारू रूप से नहीं चलने दिया।

18.2 स्वतंत्रता पश्चात् पंचायती राज व्यवस्था का गठन

स्वतंत्रता पश्चात् जनता की संस्था पंचायत का गठन सबसे महत्वपूर्ण प्रयास था। स्वाधीनता संग्राम के प्रमुख नेताओं विशेषकर महात्मा गाँधी के अनुसार स्वाधीनता का प्रयास सबसे नीचले स्तर अर्थात् ग्राम स्तर से होना चाहिए। प्रत्येक ग्राम को पुन: एक आत्मनिर्भर गणराज्य के रूप में स्थापित किया जाना चाहिए। इस vichardhara के क्रियान्वयन के लिए प्रत्येक राज्य को यह दायित्व सौंपा गया। शासन व्यवसायी की लोकतांत्रिक प्रणाली के आधार पर पुन: ग्रामीण जनता को अपना प्रतिनिधि चुनने का अवसर प्राप्त हुआ। इस प्रकार पंचायत स्वशासन तथा मराज्य की सबसे छोटी एवं आधारभूत इकाई के रूप में स्थापित की गई। ग्राम पंचायतों से यह अपेक्षा की गई कि अपने क्षेत्रों में विकास की रूपरेखा तैयार करेगी और उन्हें जनभागीदारी से क्रियान्वित करेंगी।

सन् 1952 में सामुदायिक विकास योजना प्रारंभ की गयी किन्तु अपेक्षा से कम जनसहयोग के कारण यह योजना अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में असमक्ष साबित हुई। ग्रामीण वासियों ने इसे अपना कार्यक्रम नहीं समझ कर मात्र एक सरकारी कार्यक्रम समझा।

18.3 बलवंत राय मेहता समिति की अनुशंसा

सामुदायिक विकास योजना के मूल्यांकन के उपरान्त बलवंत राय मेहता समिति ने सन् 1957 में अपनी अनुशंसा में यह सुझाव दिया कि सामुदायिक विकास योजना को सफल बनाने के लिए जनभागीदारी में वृद्धि की जाय। इस समिति ने जनसहभागिता सुनिश्चित करने में पंचायती राज की भूमिका पर विशेष बल दिया। इस प्रकार सन् 1959 में सर्वप्रथम राजस्थान के नागौर जिले में यह व्यवस्था प्रारंभ की गई। इस व्यवस्था के माध्यम से सत्ता का लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण किया गया तथा नियोजित विकास की योजनाओं में स्थानीय भागीदारी में वृद्धि भी सुनिश्चित करने का प्रयास किया गया।

बलवंत राय मेहता समिति ने पंचायती राज के अन्तर्गत एक त्रि-स्तरीय व्यवस्था की अनुशंसा की थी। ये तीन स्तर थे जिला स्तर पर जिला परिषद्, माध्यमिक (खण्ड) स्तर पर पंचायत समिति तथा ग्राम स्तर पर ग्राम पंचायत।

इस व्यवस्था को 'लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण' का नाम दिया गया। 1960 के दशक में सभी राज्यों में पंचायतों का गठन हो चुका था। यह त्रि-स्तरीय अवस्था द्वारा लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के लक्ष्य की प्राप्ति-तब तक संभव नहीं था जर तक कि जनता की सहभागिता सुनिश्चित न हो। इसी आधार पर कुछ विद्वानों ने मेहता समिति की अनुशंसा की आलोचना की है कि मेहता समिति ग्रामवासियों में लोकतांत्रिक उत्साह में वृद्धि करने में असफल हुई है। इसके अतिरिक्त पंचायती राज व्यवस्था से संबन्धित पदाधिकारियों की भूमिका में अस्पष्टता पाई गयी। त्रि-स्तरीय व्यवस्था में समन्वय की भी कमी पाई गयी।

1960 के दशक की हरित क्रांति तथा लक्ष्य समूह परिप्रेक्ष्य में पहले से स्थापित त्रि-स्तरीय व्यवस्था को समन्वय के अभाव में कमजोर करने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय योजनाओं में जनसहभागिता में निरन्तर गिरावट होने लगी।

18.4 अशोक मेहता समिति

उपरोक्त स्थिति से निपटने के लिए पुन: अशोक मेहता के नेतश्त्व में एक और समिति का वर्ष 1977 में गठन किया गया। इस समिति ने पंचायती राज अवस्था की गहनता से अध्ययन कर इसकी विफलता के निम्नलिखित कारकों का उल्लेख किया है।

1. पंचायती राज और राष्ट्रीय विकास कार्यक्रमों में समन्वय की कमी;
2. इस समन्वय के अभाव का कारण नौकरशाही की विफलता
3. पंचायत व्यवस्था के अन्दर आंतरिक अस्पष्टता और
4. अवधारणा के प्रति अस्पष्टता।

इस समिति की अनुशंसा के अनुसार जिला स्तर पर जिला परिषद् का गठन विकेन्द्रीकरण का महत्वपूर्ण स्तर माना गया। समिति ने गाँवों के समूह के रूप में मण्डल पंचायतों के गठन की भी अनुशंसा की थी। इस क्रम में अशोक मेहता समिति ने ग्राम सभा के महत्व को नजरअंदाज कर दिया।

इसके उपरान्त सन् 1965 में जी.वी.के. राव समिति, सन् 1986 में एल.एम.सिंघवी समिति का गठन कर पंचायत राज व्यवस्था में सुधार लाने के प्रयास किये गये।

18.5 73वाँ संविधान संशोधन

सन् 1992 में 73वाँ संविधान संशोधन ने अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के सदस्यों के लिए प्रत्येक पंचायत में उनकी जनसंख्या के आधार पर सीटों के आरक्षण का प्रावधान कर दिया। प्रत्यक्ष चुनाव से चुने जाने वाली सीटों की कुल संख्या का एक-तिहाई संख्या महिलाओं के लिए आरक्षित कर दी गई।

इस 73वें संशोधन ने ग्राम सभा की पुन: एक महत्वपूर्ण आधार के रूप में स्थापित कर दिया। त्रि-स्तरीय व्यवस्था को भी समूचे देश में एक रूप में लागू कर दिया। प्रत्येक पंचायत का कार्यकाल 5 वर्ष का निर्धारित कर दिया गया। चुनाव सम्पन्न करने का अधिकार राज्य चुनाव आयोग को दे दिया गया। पंचायतों को आर्थिक विकास के कार्यक्रम से संबंधित योजना बनाने एवं क्रियान्वयन का अधिकार दे दिया गया। ग्रामीण विकास से संबंधित सभी क्षेत्रों को सूचीबद्ध कर दिया गया जिनसे योजनाओं के निर्माण एवं कार्यालय में स्पष्ट हो सके।

18.6 ग्रामीण विकास में पंचायतों का योगदान

ग्राम पंचायत निम्नलिखित क्षेत्रों में योगदान देती है।

1. सार्वजनिक हित में योगदान -

सार्वजनिक हित जैसे ग्रामीण स्वास्थ्य को सुधारने. संक्रामक बीमारी से रोकथाम के उपाय, स्वास्थ्य केन्द्रों की स्थापना, मुफ्त दवाओं का वितरण, स्वास्थवर्धक जानकारी आदि क्षेत्रों में कार्य करती है। सफाई प्रबन्ध से संबंधित कार्य जैसे गंदे नालों की सफाई, नयी नालियों का निर्माण कीटनाशक दवाओं का छिडकाव, शुद्ध पेयजल की व्यवस्था आदि क्षेत्रों में भी कार्य करती है।

यातायात की सुविधा उपलब्ध करना. मनोरंजन का प्रबन्ध तथा प्राकृतिक आपदाओं की स्थितियों में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करती है।

2. सामाजिक जीवन में योगदान -

सामाजिक जीवन के अन्तर्गत शिक्षा व्यवस्था, मादक पदार्थो के उपयोग पर रोक, शोषण से मुक्ति, मातृत्व एवं शिशु कल्याण के लिए विशेष कार्य करती है।

3. आर्थिक जीवन में योगदान -

गाँवों की आर्थिक उन्नति के लिए कृषि में सुधार, सिंचाई की व्यवस्था भुमिहीन किसानों की सहायता कुटीर उद्योग को बढावा सहकारी समितियों का विकास आदि क्षेत्रों में कार्य करती है।

4. राजनीतिक जीवन में योगदान -

ग्रामीण नेतश्व का विकास गाँवों में शान्ति एवं सुरक्षा, न्याय की व्यवस्था तथा सुयोग्य नागरिक बनने की शिक्षा देने का कार्य करती है।

पंचायती राज व्यवस्था को सफल बनाने हेतु सुझाव

18.7 पंचायती राज व्यवस्था को सफल बनाने हेतु सुझाव

1. जन-प्रतिनिधियों तथा नौकरशाही के बीच परस्पर समन्वय स्थापित किया जाना आवश्यक है।
2. पंचायती राज व्यवस्था की सफलता मजबूत नेतृत्व पर निर्भर करती है। ऐसे नेतश्व की आवश्यकता है जो व्यापक हित में संकीर्ण विचार से अलग रह कर कार्य कर सके तथा सर्वांगीण विकास के लिए सभी वर्गो को साथ लेकर कार्य कर सके।
3. पंचायती राज संस्थाओं को दलगत राजनीति तथा आन्तरिक गुटबाजी से मुक्त होकर विकास पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए।
4. पंचायती राज संस्थाओं को स्वायत्तता का अधिकार सुनिश्चित किया जाना चाहिए।
5. पंचायती राज संस्थाओं के वित्तीय स्त्रोतों को सुनिश्चित करने के लिए स्पष्ट प्रावधान होना चाहिए तथा निर्धारित समय पर वित्तीय सहायता उपलब्ध होनी चाहिए, जिससे विकास के कार्यक्रम बाधित न हो।

18.8 सारांश

1. प्राचीनकाल से ही ग्राम पंचायत ग्रामीण जीवन का एक महत्वपूर्ण आधार रहा है।
2. ग्राम पंचायत अपने सदस्यों में समानता' स्वतंत्रता तथा बंधुत्व का विचार प्रोत्साहित करती है।
3. ग्राम पंचायत लोकतांत्रिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त पर आधारित है।
4. ग्राम पंचायतों की भूमिका के आधार पर प्रत्येक ग्राम को एक लघु गणराज्य माना गया है।
5. अंग्रेजी शासन काल में ग्राम पंचायतों के अधिकार के स्थान पर व्यक्तिगत अधिकारों को महत्व दिया जाने लगा।
6. कुछ समय बाद पुन: पंचायतों के पुनर्गठन के प्रयास किये गये, किन्तु जनता के सहयोग के अभाव में सफल नहीं हुए
7. स्वतंत्रता पश्चात् बलवती राय मेहता समिति की अनुशंसा के आधार पर सन् 1959 में राजस्थान के नागौर जिले में पुन: पंचायती राज व्यवस्था प्रारंभ की गयी।
8. पंचायती राज व्यवस्था को त्रि-स्तरीय व्यवस्था के रूप में जाना जाता है।
9. त्रि-स्तरीय व्यवस्था में समन्वय की कमी पाई गई. जिससे विकास योजनाओं में जनता की सहभागिता घटने लगी।
10. अशोक मेहता समिति ने ग्राम सभा के महत्व को उचित स्थान नहीं दिया जिससे पुन: सक्रिय सहभागिता पर प्रतिकूल प्रभाव पडा।
11. सन् 1992 में 73वें संविधान संशोधन ने पंचायती राज व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन किये। सर्वप्रथम महिलाओं की भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए प्रत्यक्ष चुनाव से चुने जाने वाली सीटों की कुल संख्या का एक तिहाई संख्या आरक्षित कर दिया गया।

18.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. चतुर्वेदी, टी.एन., (सम्पादित), पंचायती राज : सलेक्टिव आर्टिकल्स, इण्डियन इन्स्ट्यूट ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, नई दिल्ली, 1981.
2. भारत सरकार, रियूइंग लोकल सेल्फ गवर्नमेन्ट इन रूरल इण्डिया, ग्राम विकास मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, 1994.
3. गुप्ता, एम.एल. एवं शर्मा डी.डी, भारतीय ग्रामीण समाजशास्त्र, आगरा, 1996.
4. दोषी, एस.एल. एवं जैन, पी.सी., ग्रामीण समाजशास्त्र, जयपुर, 2002.

18.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. पंचायती राज व्यवस्था किन सिद्धान्तों पर आधारित है?
2. अंग्रेजी शासन काल में पंचायती राज व्यवस्था के महल में कमी क्यों आने लगी?
3. बलवंत राय मेहता समिति की प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
4. 73 वाँ संविधान संशोधन की प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
5. पंचायती राज संस्था की सफलता के लिए अपने विचार दीजिए।

इकाई 19

ग्रामीण विकास में गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य

19.1 प्रस्तावना

19.2 विशेषताएँ

19.3 ग्रामीण विकास में गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका

19.4 गैर-सरकारी प्रयास को आगे बढ़ाने में सरकार की भूमिका

19.5 गैर-सरकारी संगठनों की समस्याएँ

19.6 सारांश

19.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

19.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

19.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन पश्चात आप -

- ग्रामीण विकास में गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका के बारे में जान सकेंगे
- गैर-सरकारी प्रयास को आगे बढाने में सरकार की भूमिका के बारे में समझ सकेंगे
- गैर-सरकारी संगठनों की समस्याओं के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे

19.1 प्रस्तावना

अस्सी के दशक में गैर-सरकारी संगठनों अर्थात् एनजीओ. की भूमिका का बढ़ता महत्व एक महत्वपूर्ण घटना है। गैर-सरकारी संगठनों को एक ऐसी विकास संस्थाओं के रूप में मान्यता दी गई है जो सरकारी नियंत्रण से बाहर सरकार के विकासोमुख कार्यक्रमों को आगे बढ़ाती है। गैर-सरकारी संगठन को भारत सरकार ने कुछ विशिष्ट उद्देश्यों की भूमिका के लिए स्वायत्त संगठन के रूप में मान्यता दी थी। इस प्रकार के संगठनों को पंचवर्षीय योजना के विभिन्न कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने के लिए एक महत्वपूर्ण संसाधन माना गया है। ग्रामीण विकास में जनसहभागिता सुनिश्चित करने तथा जनता को विश्वास में लेने में गैर-सरकारी संगठन की जरूरत तथा प्रभाव में निरन्तर वृद्धि हो रही है। जनसहभागिता से यहाँ तात्पर्य है कि जनता स्वयं पहल कर विकास के कार्यक्रम बनाये, उसे लागू करने के फैसले लें, लाभ में बराबर हिस्सा ले, क्रियान्वयन पर नजर रखे तथा पक्षपात रहित मूल्यांकन में पूरी सहभागिता करे। ऐसा माना जाता है कि जो विकास कार्यक्रम जनता के सहयोग से बनाए जाते हैं, वे ज्यादा सफल होते हैं।

गैर-सरकारी संगठनों के कार्यक्रम, लक्ष्य और उद्देश्य बिल्कुल स्पष्ट होते हैं। इस प्रकार के संगठनों को संचालित करने के लिए कानूनी प्रावधान होते हैं। संगठनात्मक स्तर पर यह

सरकार के नियंत्रण से बाहर होते हैं। इस प्रकार के संगठन लाभ कमाने की प्रवृत्ति से काम नहीं करते हैं एवं गैर-धार्मिक तथा गैर-राजनीतिक होते हैं।

19.2 विशेषताएँ

गैर-सरकारी संगठन मुख्य रूप से सामाजिक आर्थिक रूप से पिछड़े वर्गों की स्थिति सुदृढ़ करने तथा उनके विकास के लिए काम करती है। इन संगठनों में काम करने वाले लोगों में सामाजिक आर्थिक विकास के लिए एक प्रकार की प्रतिबद्धता होती है। ज्यादातर गैर-सरकारी संगठनों का कार्य क्षेत्र अधिक व्यापक नहीं होता है। ये संगठन अपने बनाये हुए नियमों से संचालित होते हैं। ये सरकार से अनुदान सहायता ले सकती है। अनुदान सहायता प्राप्त करने की स्थिति में उन्हें अनुदान सहायता से संबंधित नियमों की पूर्ति करनी होती है।

ग्रामीण विकास में गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका चढ़ गयी है। ऐसा माना जाने लगा है कि धरातल स्तर पर गैर-सरकारी संगठनों को जनता की जरूरतों, समस्याओं और संसाधनों की अच्छी सूचना होती है, क्योंकि यह संगठन जनता के साथ मिलकर धरातल स्तर पर कार्य करती है। इन संगठनों का कार्य करने की प्रणाली सरकारी कर्मचारी या अधिकारी से बिल्कुल भिन्न होती है। इस प्रकार के गैर-सरकारी संगठन सीमित संसाधन में अच्छा कार्य कर सकती है, क्योंकि उन्हें निर्णय लेने की स्वतंत्रता होती है तथा लाभ कमाने की प्रवृत्ति से परे होती है।

19.3 ग्रामीण विकास में गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका

सातवीं पंचवर्षीय योजना में योजना आयोग ने यह स्वीकार कर लिया कि सरकार अपने सीमित अधिकारियों और कर्मचारियों द्वारा अकेले ग्रामीण क्षेत्रों का विकास नहीं कर सकती है। इस बात को ध्यान में रखते हुए गैर-सरकारी संगठनों को ग्रामीण विकास से जोडने के लिए एक नीति बनाई गयी। पहली बार ग्रामीण विकास के कार्यक्रम बनाने तथा क्रियान्वयन में गैर-सरकारी संगठनों को एक अल्प भागीदार /हिस्सेदार बनाने पर जोर दिया गया। यह भी माना गया कि गैर-सरकारी संगठनों की हिस्सेदारी से ग्रामीण क्षेत्र के सामाजिक आर्थिक रूपान्तरण में तेजी आएगी। सातवीं योजना में गैर-सरकारी संगठनों की प्रोफेशनल (व्यवसायिक) योग्यता और प्रबन्ध में कुशलता बढाने पर भी ध्यान दिया गया।

सातवीं पंचवर्षीय योजना के पश्चात् सभी पंचवर्षीय योजना में गैर-सरकारी संगठनों को ग्रामीण विकास की प्रक्रिया में एक अहम् भूमिका रही है। दसवीं योजना में भी एक बार पुन: इनकी भूमिका को रेखांकित किया गया है। निम्नलिखित क्षेत्रों में गैर-सरकारी संगठनों से महत्वपूर्ण भूमिका की अपेक्षा की गयी है। ये क्षेत्र है -

1. सरकार द्वारा उपलब्ध कराये गये भौतिक संसाधनों के उपयोग में वृद्धि;
2. विकास का लाभ आर्थिक रूप से पिछडे वर्गों तक पहुँचाने में;
3. सरकारी अधिकारियों एवं जनता के बीच समन्वय स्थापित करने में;
4. ग्रामीण जनता को सरकारी कार्यक्रमों के प्रति जागरूक करना;
5. योजना के क्रियान्वयन में विकल्प का उपयोग करना;

6. विकास संबंधी सूचनाओं का प्रसार करना;
7. कार्यक्रम से संबंधित ग्रामीण कार्यकर्ताओं को अधिक से अधिक योगदान के लिए प्रेरित और प्रशिक्षण देना;
8. उपलब्ध संसाधनों का बेहतर उपयोग करना;
9. सेवाओं में निरन्तर सुधार लाना;
10. यह सुनिश्चित करना की सामाजिक आर्थिक संरचना में परिवर्तन की प्रक्रिया चलती रहे, जिससे ज्यादा से ज्यादा लोगों को लाभ मिल सके।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गैर-सरकारी संगठनों की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि स्थानीय लोगों के साथ मिलकर कार्य करना है। जिस क्षेत्र में गैर-सरकारी संगठनों ने कार्य किया है, वहाँ की जनता को सामूहिक लाभ के लिए संगठित किया है। इन लाभान्वित समूहों में विशेषकर जनजातियाँ, दलित, महिलाएँ, भुमिहीन कृषक, अनुसूचित जाति बंधुआ मजदूर आदि सम्मिलित हैं। यह गैर-सरकारी संगठनों का ही प्रयास है जिससे उपरोक्त समूहों की समस्याओं पर समाज ध्यान आकर्षित हुआ। इनके प्रयास से लोग अपनी समस्याओं के प्रति जागरूक एवं संगठित होने लगे। किसी भी प्रकार की उपेक्षा तथा शोषण के खिलाफ जुबान खोलने लगे। इनके प्रयास से विकास कार्यक्रम का लाभ समाज के सबसे नीचले स्तर तक पहुँचने लगा।

गैर-सरकारी संगठनों ने जल संसाधन को सुरक्षित रखने, पर्यावरण संतुलन की समस्या तथा नौकरशाही तंत्र की सीमाओं आदि अछूते मुद्दों को प्रकाश में लाने का कार्य किया है। इतना ही नहीं सरकारी योजनाओं के क्रियान्वयन में सरकारी नीतियों को जोरदार ढंग से प्रभावित भी किया है। गैर-सरकारी संगठनों के बढ़ते हस्तक्षेप के कारण दसवी योजना में योजना आयोग ने निम्नलिखित क्षेत्रों के कार्यक्रमों में इनकी भूमिका सुनिश्चित की है।

1. बंधुआ मजदूरों की पहचान और उनका पुनर्वास
2. भुमिहीन मजदूरों को न्यूनतम मजदूरी सुनिश्चित कराना;
3. अनुसूचित जनजाति एवं अनुसूचित जाति एवं महिलाओं का विकास संबंधी कार्यक्रम;
4. प्राथमिक शिक्षा तथा स्वास्थ्य संबंधी कार्यक्रम;
5. समन्वित विकास कार्यक्रम;
6. विज्ञान और आधुनिक कृषि तकनीक को बढ़ावा देने से संबंधित कार्यक्रम;
7. पीने के पानी मुहैया कराने का कार्यक्रम;
8. सामाजिक वानिकी और वैकल्पिक ऊर्जा के श्रोतों के विकास से संबंधित कार्यक्रम;
9. छोटे परिवार के महत्व से संबंधित कार्यक्रम;
10. ग्रामीण महिलाओं बच्चे एवं साक्षरता से संबंधित कार्यक्रम;
11. अन्त में, ग्रामीण क्षेत्रों में स्वयं सहायता समूहों का गठन तथा पर्यावरण संबंधी कार्यक्रम।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आज गैर-सरकारी संगठन विकास को लोगों तक पहुँचाने का एक महत्वपूर्ण साधन है। यह जनसहभागिता का पर्याय बन चुका है।

19.4 गैर-सरकारी प्रयास को आगे बढ़ाने में सरकारी भूमिका

सरकार यह मानने लगी है कि आम आदमी की जरूरतों को सरकारी तंत्र अकेले पूरा नहीं कर सकती है। सरकारी कार्यक्रमों की सफलता तभी बढ़ेगी जब आम लोग कार्यक्रम के साथ जुडेगे। इन लक्ष्यों को भी तमी प्राप्त किया जा सकता है, जब गैर-सरकारी संगठन सरकार की पूरक हो। गैर-सरकारी संगठन ग्रामीण समुदाय की क्षमताओं का आकलन और विकास की क्षमता को विकसित करने में अहम् भूमिका निभाती है। इसका कारण है कि ये संगठन स्थानीय स्तर पर समस्याओं का अध्ययन, कार्यक्रमों का मूल्यांकन, क्रियाचयन में कम लागत तथा चुस्त वितरण प्रणाली पर शोध करती है। सरकारी नीतियों में गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका का स्पष्ट उल्लेख इनके महत्व को दर्शाती है। इतना ही नहीं विभिन्न सरकारी मंत्रालयों की नीति निर्धारित करने के लिए गठित आयोग' समिति' अध्ययन दल आदि में गैर-सरकारी प्रतिनिधियों की सहभागिता बढ़ती जा रही है। भारत सरकार ग्रामीण विकास के लिए गैर-सरकारी संगठनों को अनुदान देती है। अनुदान प्राप्त करने के लिए गैर-सरकारी संगठन पंजीकृत होना जरूरी है। उसका आधार गाँवों में होना चाहिए। यह लाभ कमाने वाली संगठन नही होनी चाहिए।

19.5 गैर-सरकारी संगठनों की समस्याएँ

1. समय पर अनुदान न मिलना जिससे उद्देश्यों को प्राप्त करने में समस्या होती है। इससे कार्यक्रम की निरन्तरता पर भी प्रभाव पडता है।
2. गैर-सरकारी संगठनों का नेतृत्व केन्द्रित होता है, इससे क्रियान्वयन में लचीलापन का अभाव पाया जाता है। सदस्यों में नेतृत्व की क्षमता विकसित नहीं हो पाती है।
3. गैर-सरकारी संगठनों से जुडे कार्यकर्ताओं की सेवा संबंधी नियम के अभाव में अक्सर चिन्ता उनके कार्य क्षमता को प्रभावित करती है। वेतन की राशि भी अपेक्षाकृत कम होती है।
4. देश के दूर-दराज इलाकों में इनकी उपस्थिति नगण्य है जिससे सरकार वहाँ विकास कार्यक्रम नहीं पहुँचा पाई है।
5. सभी गैर-सरकारी संगठनों की विश्वसनीयता एक जैसी नहीं है। कुछ संगठन सिर्फ अनुदान के लिए पंजीकृत होती हैं। यह एक चिन्ता का विषय है।

19.6 सारांश

सातवीं पंचवर्षीय योजना में सर्वप्रथम गैर-सरकारी संगठनों की विकास प्रक्रिया में भूमिका सुनिश्चित की गई। गैर-सरकारी संगठनों को एक ऐसे विकास साधन के रूप में मान्यता दी गई है जो विकासोन्मुख कार्यक्रम को आगे बढ़ाती है। गैर-सरकारी संगठनों के पहल से ग्रामीण जनता की भागीदारी बढ़ी है। गैर-सरकारी संगठनों के कार्यक्रम, लक्ष्य और उद्देश्य बिल्कुल स्पष्ट होते हैं। गैर-सरकारी संगठन, गैर-धार्मिक, गैर-राजनीतिक तथा लाभ के प्रवृत्ति से परे होते हैं।

गैर-सरकारी संगठन मुख्य रूप से सामाजिक आर्थिक रूप से पिछडे वर्गो जैसे अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, दलित, महिलाएँ, बच्चों आदि के उत्थान के लिए कार्य करती है।

गैर-सरकारी संगठनों के हस्तक्षेप से उपलब्ध संसाधनों का बेहतर उपयोग सुनिश्चित हो सका है। दसवीं योजना में गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका अधिक व्यापक कर दी गई है।गैर-सरकारी संगठनों की अपनी कुछ समस्याएँ भी हैं, जिससे कार्यक्रम की निरन्तरता पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है।

19.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. भारत सरकार, सातवीं पंचवर्षीय योजना 1985-90, योजना आयोग, नई दिल्ली
2. सरीन, रितु द बिग बिजनेस ऑफ एन.जी.ओ.. द पायनियर, 30 जुलाई, 1995.
3. चौधरी डी. पॉल, सोशल वेलफेयर एडमिनिस्ट्रेशन. आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1979

19.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. गैर-सरकारी संगठनों का महत्व क्यों बढ़ा?
2. गैर-सरकारी संगठनों की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
3. ग्रामीण विकास में गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका का उल्लेख कीजिए।
4. गैर-सरकारी संगठन किन-किन क्षेत्रों में कार्यरत हैं, विवरण दीजिए।
5. गैर-सरकारी संगठनों की समस्याओं की विवेचना कीजिए।

इकाई 20

ग्रामीण विकास में वित्तीय संस्थाओं की भूमिका

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य

20.1 प्रस्तावना

20.2 ग्रामीण विकास में वित्तीय संस्थाओं की भूमिका

20.3 सहकारी समितियाँ

20.4 वाणिज्यिक बैंक

20.5 क्षेत्रीय आँचलिक ग्रामीण बैंक

20.6 राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक (NABARRD) (नाबार्ड)

20.7 भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (आई.डी.बी.आई.)

20.8 राष्ट्रीय अनुसुचित जाति वित्त एवं विकास निगम

20.9 सारांश

20.10 सन्दर्भ ग्रंथ

20.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

20.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप -

- ग्रामीण विकास में वित्तीय संस्थाओं की भूमिका के बारे में जान सकेंगे
- सहकारी समितियाँ के बारे में समझ सकेंगे
- वाणिज्यिक बैंक, क्षेत्रीय आँचलिक ग्रामीण बैंक राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक और भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (आई.डी.बी.आई.) के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे
- राष्ट्रीय अनुसूचित जाति वित्त एवं विकास निगम के बारे में समझ सकेंगे

20.1 प्रस्तावना

ग्रामीण विकास योजनाओं का उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों के सामाजिक एवं आर्थिक रूप से पिछडे वर्गों में गरीबी तथा बेरोजगारी की समस्या का निवारण कर उनके जीवनस्तर को ऊँचा उठाना है। ग्रामीण विकास के लिए यह आवश्यक है कि सामाजिक एवं आर्थिक रूप से पिछडे वर्गों को कार्य दक्षता ऋण और उपयुक्त प्रौद्योगिकी की उपलब्धता के समान अवसर प्राप्त हो। उपरोक्त उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अनेक ग्रामीण वित्तीय संस्थाओं का गठन किया गया है। भारत सरकार इन ग्रामीण वित्तीय संस्थाओं के माध्यम से यह सुनिश्चित करती है कि पूँजी तकनीकी सहायता एबं सलाह द्वारा आर्थिक रूप से पिछडे वर्गो की कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। ग्रामीण विकास योजनाओं का मुख्य उद्देश्य सामाजिक न्याय की व्यवस्था की स्थापना भी है। ये वित्तीय संस्थाएँ उद्यमिता विवेकशीलता सतत

विकास तथा सशक्तिकरण के संदर्भ में योजनाओं को प्रोत्साहित करती है तथा योजनाओं का प्रभाव अध्ययन एवं खर्च का वार्षिक लेखा-जोखा भी प्रस्तुत करती है।

इस इकाई में भारत सरकार की कुछ महत्वपूर्ण ग्रामीण वित्तीय संस्थाओं की ग्रामीण क्षेत्र में निवास करने वाले किसानों एवं उद्यमियों के लिए लागू किये गये कार्यक्रमों की भूमिका की विवेचना करेंगे।

मुख्य रूप से (1) सहकारी समितियाँ 2) वाणिज्यक बैंक, (3) निगम. (4) राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक, (5) भारतीय औद्योगिक विकास बैंक और (6) राष्ट्रीय अनुसूचित जाति वित्त एवं विकास निगम के कार्यक्रमों की चर्चा करेंगे।

20.2 ग्रामीण विकास में वित्तीय संस्थाओं की भूमिका,

भारतीय गाँवों में किसान की आर्थिक निर्धनता, ऋणग्रस्तता, अच्छी फसल के लिए मानसून पर निर्भरता जीवनयापन के लिए कृषि पर निर्भरता तथा कृषि संबंधी कार्यो के लिए ऋण की आवश्यकता पड़ती है। उन्हें प्रत्येक कृषि संबंधी कार्यो के लिए जैसे बीज की खरीद, खाद, मजदूरी भुगतान व लगान आदि को चुकाने के लिए ऋण की आवश्यकता पडती है। इसके अतिरिक्त पारिवारिक खर्च, सामाजिक उत्सवों, पुराने ऋणों के भुगतान के लिए भी ऋण लेना पड़ता है। भूमि विकास, कृषि यंत्रों, कुँआ तथा पम्पसेट आदि के लिए ऋण की आवश्यकता पडती है। उपरोक्त सभी प्रकार के वित्तीय आवश्यकताओं की भूमि वित्तीय संस्थाओं के द्वारा भारत सरकार उचित ब्याज दर पर करने का प्रयास कर रही है।

ये वित्तीय संस्थाएँ कौशल-प्रशिक्षण, उद्यमिता, स्वरोजगार, उन्नत प्रौद्योगिकी की जानकारी, स्वयं सहायता समूह की अवधारणा को ऋण एवं निवेश के माध्यम से व्यक्तियों तथा ग्रामीण समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन कर रही है। इनके द्वारा सेवाओं के स्तर में निरन्तर वृद्धि द्वारा छोटे किसानों की पारिवारिक सुरक्षा तथा सहयोग को बढ़ावा देने की दिशा में प्रयास किये जा रहे है। ग्रामीण विकास में इन वित्तीय संस्थाओं की भूमिका निरन्तर बढ़ रही है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् कृषि क्षेत्र में भूमि की उत्पादकता बढ़ाने तथा आर्थिक रूप से कमजोर किसानों को ऋण के रूप में सहायता प्रदान कर विभिन्न संस्थाओं ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया है। इनमें सहकारी समितियाँ. वाणिज्यिक बैंक एवं निगम जैसे राष्ट्रीय अनुसूचित जाति वित्त एवं विकास निगम प्रमुख हैं। इन संस्थागत वित्तीय संस्थाओं द्वारा ग्रामीण तथा कृषि ऋण की मात्रा में उत्तरोत्तर वृद्धि दर्ज की गई। 1951-52 की अपेक्षा 1971 की अवधि में कुल ग्रामीण ऋण में सरकारी वित्तीय संस्थाओं का योगदान 7.3 प्रतिशत से बढ़कर 31.7% हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि कृषकों को गैर संस्थागत अभिकरणों जैसे साहूकार, व्यापारी एवं आढ़तिया, जमींदार आदि से अधिक ब्याज दर पर ऋण लेने की आवश्यकता में उल्लेखनीय कमी दर्ज की गई।

भारत में दीर्घकाल से ही वित्तीय संस्थाओं के विकास का प्रयास किया जा रहा है, लेकिन ये संस्थाएँ ग्रामीण विकास में कई कारणों से विशेष स्थान नहीं बना पाई है।

20.3 सहकारी समितियाँ

सन् 1904 से कृषि ऋण के क्षेत्र में सहकारी समितियाँ महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। इनकी स्थापना का मुख्य उद्देश्य कृषकों की अल्प, मध्यम एवं दीर्घकालीन ऋण की आवश्यकता की पूर्ति करना तथा इन कृषकों को साहूकारों के अधिक ब्याज दर पर ऋण देने की परम्परा से मुक्ति दिलाना रहा है। ऋण की अवधि के आधार पर सहकारी समितियों का दो भागों में वर्गीकरण किया जा सकता है।

अ) अल्प एवं मध्यम अवधि का ऋण

इन अवधियों के लिए ऋण प्रदान करने वाली समितियों की तीन स्तरीय संरचना होती है -

1. ग्राम स्तर पर - प्राथमिक सहकारी कृषि ऋण समितियाँ।
2. जिला स्तर - जिला सहकारी समितियाँ
3. राज्य स्तर पर - राज्य सहकारी बैंक।

ब) दीर्घकालीन ऋण - इस अवधि के लिए ऋण भूमि विकास बैंक द्वारा प्रदान किया जाता है।

भूमि विकास बैंक दो स्तर पर कार्य करते हैं।

1. प्राथमिक भूमि विकास बैंक
2. केन्द्रीय भूमि विकास बैंक।

सभी राज्यों में इन समितियों की विकास की गति समान नहीं है। इनमें क्षेत्रीय विषमता है। सहकारी ऋण के क्षेत्र में विशेष प्रगति करने वाले महाराष्ट्र, गुजरात एबं पंजाब राज्य हैं। मध्यम प्रगति बाले राज्यों में आज प्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु केरल तथा हरियाणा को सम्मिलित किया जाता है। असम, बिहार, उडीसा, राजस्थान, पश्चिम बंगाल तथा जग एवं कश्मीर सहकारी ऋण के क्षेत्र में पिछडे राज्यों में आते हैं।

समय-समय पर इस समितियों की ऋण नीति एवं कार्य प्रणालियों का मूल्यांकन भी हुआ है तथा इनमें सुधार के सुझाव भी प्रस्तुत किये गये हैं।

भूमि विकास बैंक पहले भूमि बन्धक बैंक के नाम से कार्य करते थे। इनका मुख्य उद्देश्य किसानों को कृषि कार्य जैसे कुओं का निर्माण पम्पिंग सेट, ट्रेक्टर, पावर टिलर्स, थ्रेसर आदि मशीनों के क्रय तथा पुराने ऋण से मुक्ति के लिए भी दीर्घकालीन ऋण की व्यवस्था करना है। खेत के अतिरिक्त अन्य स्थायी चल एवं अचल सम्पत्ति को वंधक रखकर भी ऋण स्वीकृत करते हैं।

भूमि विकास बैंक की संरचना सभी राज्यों में एक जैसी नहीं है तथा कुछ राज्यों में एकात्मक है तो कुछ राज्यों में संघीय है। इन बैंकों के कार्य प्रणाली में समय-समय पर विभिन्न अनुशंसाओं के आधार पर परिवर्तन कर इन्हें विकासोन्मुख बनाने का प्रयास किया गया है।

20.4 वाणिज्यिक बैंक

ग्रामीण वित्तीय संस्थाओं के रूप में वाणिज्यिक बैंको ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इन बैंकों द्वारा प्रदत्त ऋण का अधिकांश भाग चाय, काफी तथा रबर के उत्पादन करने

वाले कृषकों को प्राप्त हुआ है। इन बैंकों द्वारा कृषि क्षेत्र की उपेक्षा किये जाने के कारण भारत सरकार ने सन् 1968 में बैंक सामाजिक नियंत्रण-कानून पारित किया। यह कानून भी उन उद्देश्यों को प्राप्त नहीं कर सका। विवश होकर भारत सरकार ने 19 जुलाई, 1969 को देश के चौदह बैंकों के राष्ट्रीयकरण का निर्णय लिया। इस निर्णय से कृषि लघु एवं कुटीर उद्योगों की ऋण की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति संभव बनाने का प्रयास किया गया। इस नीति द्वारा आर्थिक प्रगति एवं सामाजिक चाय की अवधारणा को स्थापित करने का भी प्रयास किया गया।

राष्ट्रीयकरण के पश्चात् ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकों की शाखाओं में विस्तार तथा कृषि ऋण उपलब्ध कराने की दिशा में तेजी आई। ऋण प्राप्तकर्ता एवं धन जमाकर्ताओं की संख्या में वृद्धि दर्ज की गई। कृषि उत्पादकता को बढावा देने के लिए इन बैंकों ने अनेक नवीन योजनाएँ बनाई हैं, जैसे रियायती ब्याज दर योजना फसल ऋण योजना इत्यादि। राष्ट्रीयकरण की प्रक्रिया के बाद वाणिज्यिक बैंकों ने ग्रामीण क्षेत्रों में अपनी शाखाएँ खोलने तथा कृषकों के लिए नई योजनाएँ की दिशा में प्रगति दर्ज की है, किन्तु आवश्यकता के अनुरूप विकास दर में उल्लेखनीय प्रगति नहीं हुई है।

अतः इन बैंकों को ग्रामीण ऋण के विस्तार में निम्नलिखित समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है।

1. आवश्यक वित्त की कमी एवं माँग अधिक।
2. ऋण-स्वीकृति संबंधी समस्याएँ।
3. योजनाओं की प्राथमिकता प्रदान करने में समस्या।
4. ऋण-स्वीकृति हेतु बैंकों में प्रशिक्षित कार्यकर्ता का अभाव।
5. ऋण-वसूली की समस्याएँ।
6. अन्य वित्तीय संस्थाओं से समन्वय का अभाव।
7. अन्य कारण जैसे कृषकों में अशिक्षा, परम्परागत साहूकास्कृषक संबंध आदि।

अग्रणी बैंक योजना-

राष्ट्रीयकरण के बाद कृषि क्षेत्र में वाणिज्यिक बैंकों की भूमिका का विस्तार करते हुए अग्रणी बैंक योजना शुरु की गई। इस योजना के अन्तर्गत प्रत्येक बैंक को ऋण स्वीकृत करने के लिए राज्यों के जिले निर्धारित किये गये है। इन बेंकों द्वारा कुछ आकर्षक योजनाएँ प्रारंभ की गई जैसे ग्राम अभिग्रहण योजना विभेदक व्याज-दर नीति आदि।

20.5 क्षेत्रीय आँचलिक ग्रामीण बैंक

लघु एवं सीमान्त कृषकों की ऋण आवश्यकताओं तथा पिछडा एवं जनजाति बाहुल्य क्षेत्रों में ऋण की आवयश्कता को ध्यान में रखकर क्षेत्रीय आँचीलक ग्रामीण बैंकों की स्थापना हुई। इन बैंकों की विस्तार की संभावना सीमित है, क्योंकि इनके द्वारा ग्रामीण क्षेत्र में कमजोर वेगों को सस्ती ब्याज-दर पर ऋण उपलब्ध कराये जाते हैं, जिससे इनकी पूँजी निर्माण पर प्रतिकूल असर पडता है।

20.6 राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक (नाबार्ड)

भारत में कृषि तथा ग्रामीण विकास के लिए पहले से कार्यरत अनेक वित्तीय संस्थाओं जैसे सहकारी बैंक, वाणिज्यिक बैंक, क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक तथा भारतीय रिजर्व बैंक का कृषि ऋण विभाग आदि के होते हुए भी भारत सरकार ने 1982 में एक पश्थक राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक की स्थापना की है। सन् 1982 के बाद यह एक महत्वपूर्ण वित्तीय संस्था है, जो भारतीय कृषि व्यवस्था को उन्नत करने के लिए प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप करती है। जैसा कि हम जानते हैं कि भारत की लगभग 70 प्रतिशत जनसंख्या की आजीविका आज भी कृषि पर आधारित है। दूसरी तरफ कृषि उत्पादकता में आशानुकूल प्रगति नहीं होने तथा लघु एवं सीमान्त किसानों की आर्थिक स्थिति दयनीय होने के कारण सरकार हस्तक्षेप करने को बाध्य है। इन स्थितियों में नाबार्ड की स्थापना ग्रामीण क्षेत्रों क लिए समुचित वित्तीय सहायता उपलब्ध करने में सहायक सिद्ध होगा। इसकी स्थापना से राष्ट्रीय स्तर पर शक्तिशाली वित्तीय संस्था की कमी पूरी हो गई।

नाबार्ड के गठन में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का कृषि ऋण विभाग एबं कृषि पुनः वित्त एबं विकास निगम को सम्मिलित कर किया गया है। यह राज्य सहकारिता बैंकों वाणिज्यिक बैंकों क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों तथा राज्य भूमि विकास बैंकों को पुनर्वित्तीय सहायता प्रदान करता है। यह बैंक अन्य बैंकों को भी सरकार-प्रायोजित कार्यक्रम के तहत वित्तीय सहायता के लिए पुनर्वित्त की व्यवस्था करता है। सरकार द्वारा प्रायोजित कार्यक्रम जैसे एकीकृत ग्रामीण विकास योजना, अनुसूचित जाति अथवा जनजाति विकास निगम आदि के लिए भी वित्तीय व्यवस्था करता नाबार्ड कृषि, ग्रामीण क्षेत्रों में लघु उद्योग, कुटीर एबं ग्रामीण उद्योग, हस्तकला इत्यादि के लिए पुन: वित्त सुविधाओं को उपलख कराने हेतु अल्पकालीन, मध्यकालीन, दीर्घकालीन एबं मिश्रित ऋण की सुविधा प्रदान करता है। यह बैंक अपने कर्मचारियों द्वारा ग्रामीण विकास के नये आयाम खोजने हेतु शोध एवं अनुसंधान के कार्य को भी प्रोत्साहित करता है। यह ग्रामीण ऋण के क्षेत्र में कार्यरत अन्य वित्तीय संस्थाओं के साथ समन्वय स्थापित करेगा। नाबार्ड ग्रामीण एबं कृषि विकास से संबंधित समस्याओं का विशेषज्ञों द्वारा अध्ययन करेगा केन्द्र, राज्य सरकारों तथा रिजर्व बैंक को आवश्यक सलाह देगा। एक शिखरस्थ विकास बैंक के रूप में नई-नई नीतियाँ बनाने और कार्य प्रणाली विकीसत करने का भी दायित्व है।

नाबार्ड विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अनेक प्रकार के कोष का संचालन करता है। ऋणों के पुननिर्धारण उतारन ऋण के लिए परिवर्तन ऋण तथा ग्रामीण विकास के लिए अलग-अलग कोषों का प्रयोग करता है। इन सभी कोष का उद्देश्य कृषि क्षेत्र में सरकारी निवेश की कमी को पूरा करना है।

नाबार्ड पहली बार गैर-सरकारी संगठनों के साथ मिलकर पिछडे जिलों एबं राज्यों में लघु-ऋण पहल कर आर्थिक रूप से कमजोर व्यक्तियों को स्वयं सहायता समूह के माध्यम से समयपर ऋण पाने का अवसर प्रदान कर रही है। इस प्रकार नाबार्ड की इस योजना ने ग्रामीण बैंकिंग को एक नई दिशा दी है। इसके साथ-साथ कृषि में उत्पादकता बढ़ाने के लिए उच्च तकनीकी कृषि के महत्व को समझते हुए अपनी परियोजनाओं-में स्थान दिया है। नाबार्ड ने कुछ

महत्वपूर्ण कृषि परियोजनाओं की पहचान कर वित्तीय सहायता प्रदान की है जैसे खाद्य प्रसंस्करण, बीज उत्पादन, बागवानी, जैविक खाद, वर्मीकल्वर इत्यादि।

नाबार्ड के ग्रामीण संरचना विकास परियोजनाएँ ग्रामीण सडक, ग्रामीण हाट, वर्षा जल संचयन, लघु पन बिजली, ग्रामीण पेयजल आपूर्ति, शिशु शिक्षा केन्द्र, एनिकट, सिंचाई टैंकों की मरम्मत, बाढ़ नियंत्रण आदि के नियोजन एबं प्रबंधन पर भी ध्यान देती है। इन सभी परियोजनाओं में लोगों की सहभागिता सुनिश्चित करना नावार्ड की लोकप्रिय कार्य शैली है।

20.7 भारतीय औद्योगिक बिकास बैंक (आई.डी.बी.आई.)

भारतीय उद्योग को बढ़वा देने में यह बैंक भी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन कर रहा है। यह बैंक प्रत्यक्ष एबं अप्रत्यक्ष रूप से अनेक सहयोगी वित्त संस्थाओं का भी गठन किया है। ग्रामीण इलाके में लघु उद्योग को बढ़ावा देने के लिए भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक (सिडबी) का गठन किया है। सिडबी ग्रामीण क्षेत्र में महिला उद्यम प्रोत्साहन योजना, अनुसूचित जाति तथा जनजाति एबं शारीरिक रूप से विकलांग श्रेणी के व्यक्तियों के पुनर्वित्तपोषण की योजना, खादी ग्रामोद्योग संस्थाओं के लिए बिक्री वाहन योजना कार्यशील पूँजी हेतु एकल खिडकी योजना आदि के द्वारा सतत विकास की प्रक्रियामें संलग्न है। इस प्रकार सिडबी का मुख्य उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्र में उद्यमिता विकास, कौशल सुधार, प्रौद्योगिकी उन्नयन, उत्पादकता में वृद्धि तथा लघु वित्त में प्रशिक्षण देने का रहा है। समय-समय पर इन योजनाओं को प्रभावी बनाने के लिए सिडबी द्वारा उपरोक्त योजनाओं के क्रियान्वयन का मूल्यांकन भी किया गया है। सिडबी ने भारत में लघु उद्योग से संबंधित आँकडों का एकत्रीकरण एबं नीति निर्धारण में आँकडों के महत्व को भी प्रकाश में लाया है।

20.8 राष्ट्रीय अनुसुचित जाति वित्त एवं विकास निगम

यह निगम अनुसूचित जनजातियों अल्पसंख्यकों, पिछडे वर्गों सफाई कर्मचारियों आदि निम्न आय वर्ग के व्यक्तियों के लिए प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से लघु ऋण कम ब्याज दर पर उपलब्ध कराता हैं। यह बैंक आर्थिक रूप से कमजोर व्यक्तियों एवं महिलाओं के लिए कौशल उन्नयन के लिए प्रशिक्षण का भी आयोजन करता है। इस बैंक का मुख्य उद्देश्य सामाजिक न्याय को बढ़ावा देना तथा गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन करने वाले व्यक्तियों जो अनुसूचित जनजाति अथवा अनुसूचित जाति के सदस्य हैं, उन्हें विकास के लिए समान अवसर उपलब्ध कराना है। कम आज दर पर ऋण उपलब्ध कराना इसी रणनीति का एक हिस्सा है।

20.9 सारांश

ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि विकास एवं उत्पादकता को सरकारी वित्तीय संस्थाओं के माध्यम से बढ़ावा दिया जा सकता है। ग्रामीण वित्तीय संस्थाओं के माध्यम से सामाजिक एक् आर्थिक रूप से पिछडे व्यक्तियों के जीवनस्तर को ऊँचा किया जा सकता है। ग्रामीण वित्तीय संस्थाओं के माध्यम से ग्रामीण व्यक्तियों में कार्य कौशल, विवेकशीलता सशक्तिकरण एवं उद्यमिता का विकास किया जा सकता है। ग्रामीण वित्तीय संस्थाओं के विभिन्न ऋण योजनाओं द्वारा लघु

एवं सीमान्त किसानों को लाभ मिला है एबं परम्परा से चली आ रही साहूकारों एबं जमींदारों द्वारा उनको शोषण से मुक्ति मिली है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सरकार ने विभिन्न ग्रामीण वित्तीय संस्थाओं जैसे भूमि विकास बैंक, सहकारी समितियाँ, वाणिज्यिक बैंक नाबार्ड. इडबी, सीडबी एवं निगमों का गठन कर ग्रामीण विकास हेतु हस्तक्षेप करने हेतु बाध्य है। वित्तीय संस्थाओं द्वारा चलाये जा रहे विभिन्न योजनाओं की सफलता जनसहभागिता पर निर्भर है। वित्तीय संस्थाओं के कार्यो का मूल्यांकन भावी रणनीति बनाने में सहायक है। ग्रामीण विकास योजनाओं की सफलता वित्तीय संस्थाओं में समन्वय पर भी आधारित है। ग्रामीण वित्तीय संस्थाएँ ग्रामीण क्षेत्र में सरकारी निवेश की कमी को पूरा करने का सार्थक प्रयास कर रही है।

20.10 संदर्भ ग्रन्थ

1. अग्रवाल, एन.एल., भारतीय कृषि का अर्थतंत्र, जयपुर, 1986.
2. Rath, NILkanth, “Institutional Credit for Agriculture in India”, Journal of Indian Political Economy, July- December,1989
3. Doshi, S.L. and Jain, P.C., Rural Sociology, Rawat, Jaipur,2002
4. जैन, पी.सी., भारत की आर्थिक समस्याएँ, इलाहाबाद 1969

20.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. ग्रामीण क्षेत्र के विकास में वित्तीय संस्थाओं की क्या भूमिका है?
2. ग्रामीण वित्तीय संस्थाओं का नाम लिखिये।
3. नाबार्ड किन-किन कार्यो के लिए ऋण देता है?
4. राष्ट्रीय अनुसूचित जाति वित्त एवं विकास निगम किसे ऋण देता है?
5. ग्रामीण वित्तीय संस्थाओं में समन्वय क्यों आवश्यक है?

इकाई 21

हरित क्रान्ति व सामाजिक परिवर्तन

इकाई की रूपरेखा

21.0 उद्देश्य
21.1 प्रस्तावना
21.2 भारत में हरित क्रान्ति और संस्थागत परिवर्तन
21.3 हरित क्रान्ति के दुस्प्रभाव
21.4 हरित क्रान्ति का आलोचनात्मक मूल्यांकन
21.5 हरित क्रान्ति के सफलता सम्बन्धी सुझाव
21.6 हरित क्रान्ति एवं सामाजिक परिवर्तन
21.7 ग्रामीण समाज में सामाजिक परिवर्तन में हरित क्रान्ति का योगदान
21.8 सारांश
21.9 सन्दर्भ ग्रन्थ
20.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

21.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप -

- भारत में हरित क्रान्ति और संस्थागत परिवर्तन व हरति क्रान्ति के दुष्प्रभाव के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे
- हरित क्रान्ति का आलोचनात्मक मूल्यांकन और हरित क्रान्ति के सफलता संबन्धी सुझाव जान सकेंगे
- हरित क्रान्ति एवं सामाजिक परिवर्तन के बारे में समझ सकेंगे
- ग्रामीण समाज में सामाजिक परिवर्तन में हरित क्रान्ति को योगदान के बारे में जानकारी हासिल कर पायेंगे

21.1 प्रस्तावना

भारत एक कृषि प्रधान देश है और कृषि यहाँ के ग्रामीण जीवन का आधार है। गया उसके लिए ग्रामीण अर्थव्यवस्था में अनेक प्रकार के परिवर्तन भी किए गए। पंचवर्षीय योजनाएँ, सामुदायिक विकास योजना प्रजातान्त्रिक विकेन्द्रीकरण आदि कार्यक्रम चलाए गए लेकिन इनसे उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली। फलस्वरूप राष्ट्र को खाद्यान्न में आत्मनिर्भर बनाने के लिए 1966-67 में कृषिगत क्षेत्र में तकनीकी नवाचार प्रारम्भ किया गया जिसे कृषि क्षेत्र में विकास को नई सरचना या हरित क्रान्ति कहा गया। हरित क्रान्ति शब्द खाद्यान्नों में होने वाली वृद्धि के लिए प्रयोग किया जाता है। इसका शुभारम्भ 1966 में खरीफ की फसल से किया गया था। इसका उद्देश्य अधिक पैदावार देने वाले बीजों सिंचाई, कीटनाशक दवाइयों रसायनिक उर्वरकों आदि का प्रयोग कृषि क्षेत्र में करके खाद्य उत्पादन में लगातार वृद्धि करना रहा है लेकिन यह

तभी सम्भव हो सकता है, जबकि देश में पर्याप्त मात्रा में अच्छी किस्म के बीज, खाद, सिंचाई के साधन. कृषि की नवीनतम तकनीक हो। इसी को ध्यान में रखकर ग्रामीण अर्थव्यवस्था में अनेक प्रकार के संस्थागत परिवर्तन किए गए।

21.2 भारत में हरित क्रान्ति और संस्थागत परिवर्तन

तृतीय पंचवर्षीय योजना के मूल्यांकन से यह पूर्णतया स्पष्ट हो गया कि अगर देश को खाद्यान्न में आत्मनिर्भर बनाना है तो उत्पादन की आधुनिक पद्धतियों को अपनाना होगा। कृषकों को परम्परागत विधियों के स्थान पर नवीन एवं वैज्ञानिक विधियों को अपनाना होगा। फलस्वरूप उत्पादन में वृद्धि के उद्देश्य से अधिक अनुकूल क्षेत्रों में अधिकतम उत्पादन करने के लिए एक सुनिश्चित नीति का निर्माण 1966-67 में किया गया जिसे हरित क्रान्ति का नाम दिया गया।

इसके तहत किए गए संस्थागत परिवर्तनों में भूमि सुधार, संस्थागत साख-भूमि, सामुदायिक विकास योजना, कृषि उपज का विपणन आदि शामिल हैं। इन परिवर्तनों का मुख्य उद्देश्य भारतीय कृषक को नई तकनीक व प्रविधियों के बारे में जानकारी व समस्त सुविधाएँ उपलब्ध करना था। इसका परिणाम यह है कि भारतीय कृषक अधिक उपज देने वाले बीजों, उर्वरकों व सिंचाई के साधनो के प्रति न केवल आकर्षित हुए बल्कि उन्होंने आधुनिक विधियों को अपनाया भी। भारत सरकार की पंचवर्षीय योजनाओं में ये सभी तत्व कृषि के प्रमुख अंग रहे हैं लेकिन फिर भी कृषि उत्पादन में कई उतार-चढाव आते रहे व कृषि उत्पादन की वृद्धि दर भी धीमी रही जिसके प्रमुख कारक समय-समय पर उन्नत बीजों व खाद का अभाव, सिंचाई के साधनों की पर्याप्त व्यवस्था न होना तथा जलवायु एवं प्राकृतिक दशाओं का अनुकूल न होना था। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि भारत सरकार द्वारा किए गए प्रयास पूर्णतया निकल रहे। नीचे दिए खाद्यान्नों के उत्पादन की वृद्धि दर से यह अवश्य पता चलता है कि देश में हरित क्रान्ति आ चुकी है तथा भारत आज खाद्यान्नों की दृष्टि से आत्मनिर्भर है।

देश में खाद्यान्नों का उत्पादन (मिलियन टन में)

वर्ष	उत्पादन
1981-1982	141.48
1986-1987	152.00
1991-1992	179.00
1998-1999	203.00
1999-2000	209.80
2000-2001	195.90
2001-2002	209.20

स्रोत :

1. इण्डिया, 2000 bserve Research Foundation, New Delhi
2. आर्थिक समीक्षा 2001-2002

1. भूमि सुधार -

इसके अन्तर्गत जमींदारी और जागीरदारी प्रथा का उन्मूलन किया गया। बीस-सूत्री कार्यक्रम में मध्यस्थों की समाप्ति कर कृषकों और सरकार के बीच सीधे सम्बन्धों की स्थापना की गई। कृषकों को भूमि पर स्थाई adhikar देकर उन्हें भूमि का मालिक बना देने से वे सिंचाई की करने व भूमि की उतपकदता बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित हुए। कृषक के आत्म-विश्वास में वृद्धि से कृषि उत्पादन पर अनुकूल प्रभाव पडा।

2. भूमि की सीमा निर्धारण -

पंचवर्षीय योजनाओं में भूमि को जोत कर सिंचाई की अधिकतम व न्यूनतम सीमा का निर्धारण किया गया। इसका उद्देश्य यह था कि जिन किसानों के पास बहुत अधिक भूमि थी वे उसका सदुपयोग नहीं कर पा रहे थे अत: उनकी भूमि लेकर भुमिहीन कृषकों को दे दी गई जिससे जोत की कोई भी इकाई अनार्थिक व व्यर्थ न रहे। इस प्रकार न्यूनतम सीमा निर्धारण कर कृषि योग्य भूमि का अधिकतम उपयोग किया गया।

3. चकबन्दी -

किसानों की जोत छोटे-छोटे खेतों में बिखरी हुई थी जिसके कारण उसको सिंचाई करने व आधुनिक यंत्रों का प्रयोग करने में दिक्कत आती थी। सरकार ने कृषकों की जोत की चकबन्दी करने के प्रयत्न किए हैं जिससे कृषि उत्पादन पर अनुकूल प्रभाव पडा है।

4. सामुदायिक विकास कार्यक्रम -

2 अक्तूबर 1952 को प्रारम्म किए गए सामुदायिक विकास कार्यक्रम में गाँवों में कृषि के विकास को सबसे अधिक महत्व दिया गया और किसानों को अच्छे बीज, खाद, अच्छे औजार आदि का वितरण तथा सिचाई की सुविधाएँ व ऋण आदि उपलब्ध कराने से कृषि उत्पादन पर अनुकूल प्रभाव पड़ा।

5. वित्त सुविधाएँ -

कृषकों को पर्याप्त मात्रा में साख-सुविधाएँ उपलब्ध कराने से उन्हें ऋण प्राप्त करने में मदद मिली। 1951-51 में व्यापारिक बैंकों से कृषकों को केवल 0.9 प्रतिशत साख मिलती थी जो 1997-98 में 36 प्रतिशत होने लगी।

6. सिंचाई व्यवस्था -

प्रारम्भ में बड़ी सिंचाई योजनाओं के द्वारा वर्षा की अनिश्चितता से मुक्ति पाने के प्रयास किए। हरित क्रान्ति में लघु सिंचाई के कार्यक्रमों को विशिष्ट प्राथमिकता दी गई जिसके अन्तर्गत भूगर्भ जल योजनाओं जैसे पम्पसैट, निजी ट्यूबवैल फिल्टर पाइन्ट आदि का विस्तार किया गया। 19970-71 में इस कार्यक्रम के द्वारा 2 करोड हैक्टेयर में सिंचाई की गई जो आगे चल कर 1995-96 में 5 करोड 64 लाख 30 हजार हैक्टेयर हो गई। इससे स्पष्ट होता है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के वाद देश में सिंचाई व्यवस्था कई गुना बढ़ गई है।

7. गहन कृषि जिला कार्यक्रम -

हरित क्रान्ति के प्रथम चरण में गहन कृषि जिला कार्यक्रम प्रत्येक राज्य के एक जिले में शुरू किया गया। प्रारम्भ में तीन जिलों और बाद में 18 जिलों में इसे फैलाया गया। इस

कार्यक्रम का उद्देश्य जिला स्तर पर सघन कृषि के लिए गति निर्धारण तथा मार्गदर्शन के लिए प्रयोग करना था, जिससे कृषि की नवीन विधियों विचारों तथा कृषि विकास की प्रणाली का निर्माण किया जा सके। इस चरण में उन जिलों को लिया गया था जिनमें विकास की अधिक सम्भावनाएँ थीं सिंचाई की पर्याप्त सुविधा थी, या पर्याप्त मात्रा में वर्षा होती थी, प्रकाशित प्रकोपों की भी कम सम्भावनाएँ थीं। इन चुने हुए जिलों में कृषि की सुधरी हुई विधियों व विभिन्न कृषिगत साधन जैसे- उन्नत खाद बीज, औजार एवं सिंचाई आदि एक साथ प्रयुक्त किए गए जिससे उनका संयुक्त? परिणाम या प्रभाव देखा जा सके। क्योंकि उत्पादन को विभिन्न साधनों को एक साथ चुने हुए क्षेत्रों में प्रयुक्त किया गया था इसलिए इसे पैकेज प्रोग्राम भी कहा गया।

जिला कृषि कार्यक्रम के अनुभव से यह ज्ञात हुआ कि कृषि विकास एक समन्वित प्रक्रिया है इसमें एक भी तथ्य की कमी से कृषि के विकास के क्रम में शिथिलता आ सकती है। जिला गहन कृषि विकास की तकनीक से यह सिद्ध झा कि इस विधि से निम्नांकित दिशाओं का विकास किया जा सकता है :-

(i) कार्यक्रम से कृषि उत्पादन की क्षमता बढ़ने की सम्भावना है।

(ii) कार्यक्रम साधनों तकनीकी मार्गदर्शन एवं प्रबन्ध की योग्यता अथवा कुशलता के आधार पर सफल हो सकता है।

(iii) इस कार्यक्रम को क्रियान्वित सफल बनाने के लिए सरकारी तंत्र के साथ-साथ गैर सरकारी तंत्र को भी तैयार करने की जरूरत है।

इस कार्यक्रम के परिणामस्वरूप भूमि की उत्पादकता में सुधार हुआ है तथा अच्छे बीज एवं खाद के प्रयोग एवं पौध संरक्षण से उत्पादन में वृद्धि हुई है।

8. अधिक पैदावार वाली किस्मों का कार्यक्रम -

सरकार ने देश की कृषि के उत्पादन में वृद्धि करने के लिए अधिक उपज बाले बीजों के प्रयोग पर बहुत अधिक जोर दिया था, वस्तुत: 1965-68 में कृषि उत्पादन में वृद्धि का कारक व उन्नत बीजों की उपयोगिता व प्रयोग ही था। जिसके फलस्वरूप खाद्यानों के प्रति एकड उत्पादन में भी वृद्धि हुई। इस कार्यक्रम को अभी तक पांच फसलों- गेहूँ धान, बाजरा, मक्का तथा जार पर ही लागू किया गया है, इनमें सबसे अधिक गेहूँ के उत्पादन में आशातीत वृद्धि हुई है। राष्ट्रीय व राज्य बीज निगम ने विभिन्न योजनाओं के तहत इन बीजों की आकस्मिक मांग को पूरा करने के लिए इनके सुरक्षित भण्डारण की भी व्यवस्था की है।

9. बहु-फसल कार्यक्रम -

हरित क्रान्ति में सम्मिलित बहु-फसल कार्यक्रम का उद्देश्य कृषि भूमि पर कम समय में पक कर तैयार हो जाने बाली फसलों को बोना है। जिससे एक वर्ष में कई फसलें प्राप्त की जा सकती है। देश में धान, मक्का, जार तथा बाजरा की पक कर तैयार होने वाली किस्मों का विकास किया गया है जिसके कारण फसलों में नए फेर-बदल संभव हो सके।

10. उर्वरकों के प्रयोग में वृद्धि -

हरित क्रान्ति में फसलों के उत्पादन में वृद्धि करने के लिए रासायनिक उर्वरकों के प्रयोग पर विशेष जोर दिया गया। क्योंकि भारत में देशी खाद पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं है तथा भूमि से अधिक उत्पादन प्राप्त करने के लिए उसमें आवश्यक तलों तथा नाइट्रोजन की कमी है। फलस्वरूप सरकार के कृषकों को रासायनिक कृषकों के उपयोग में लेने के लिए प्रोत्साहित किया है लेकिन दाम ऊँचे होने की वजह से अभी इसका उपयोग कुछ कम है। इसके उपयोग में बढ़ाने के लिए इसके प्रयोग का कम होना आवश्यक है।

11. कीटनाशकों पर बल -

फसलों को कीडे मकोंड़ों एवं विभिन्न रोगों से सुखा प्रदान करने के लिए वानस्पतिक (नीम आधारित) तथा जैवीय तथा सुरक्षित कीटनाशकों के प्रयोग पर विशेष बल दिया जाता है।

12. उचित मूल्य की गारण्टी -

हरित क्रान्ति का एक प्रमुख उद्देश्य कृषकों को उचित मूल की गारण्टी प्रदान करना भी रहा है। भारत सरकार कृषकों को उनकी उपज का उचित मूल्य दिलाने के लिए तथा उनको अधिक उत्पादन के लिए प्रोत्साहन देने हेतु वसूली तथा खरीद मूल्य घोषित करती है। ये मूल उत्पादन लागत तथा अन्य बातों को ध्यान में रखकर घोषित किए जाते हैं। यदि बाजारों में कृषि उपज का मूल इन मूल्यों की तुलना में कम रहता है तो सरकार इस उपज को इन मूल्यों पर खरीदती है तथा कृषको को नुकसान से रचाती है।

13. आधुनिक कृषि यंत्रों का प्रयोग -

भारतीय किसान अत्यन्त प्राचीन ढंग के कृषि उपकरणों व यंत्रों का प्रयोग करता है। सरकार ने किसानों कोर आधुनिक यंत्रों का प्रयोग करने के लिए प्रोत्साहित किया है जिससे उत्पादन अधिक हो सके। इसके लिए सरकार कृषकों को ट्रेक्टर व मशीनरी खरीदने के लिए सरकारी रैंक से साख सुविधाएँ भी उपलब्ध कराती है। कृषि सामान की आपूर्ति लिए सरकार ने 17 राज्यों में कृषि उद्योग निगमों की स्थापना भी की है।

14. शुष्क कृषि का विकास -

देश में सिंचाई साधनों की कमी के कारण 300 लाख हैक्टेयर की भूमि पर मात्र वर्षा के ही मौसम में खेती हो पाती है। हरित क्रान्ति के द्वरा 10.2 करोड हैक्टेयर भूमि पर शुष्क कृषि सम्भव की गई जिसमें कम पानी की आवश्यकता वाली फसलों की खेती की जाती है।

15. भू-संरक्षण -

भू-संरक्षण के लिए अब सभी प्रमुख योजनाओं में 'पर्यावरणीय प्रभाव मूल्यांकन' अध्ययन किए जाते हैं और पर्यावरण रक्षा उपायों के कार्यान्वयन का विभिन्न समितियों के माध्यम से नियमित अनुवीक्षण किया जाता है।

16. पौध संरक्षण -

पौध संरक्षण के लिए देश में निदेशालय की स्थापना की गई है जिसके अधीन 17 पौध संरक्षण केंद्र कार्यरत हैं। भारत सरकार ने पौध संरक्षण के लिए तेज गीत से कदम उठाए हैं। राज्यों के कृषि विभागों द्वारा कीटनाशक औषधियों तथा संरक्षण यंत्र दिये जाते हैं।

17. कृषि सेवा केन्द्र -

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में ग्रामीण क्षेत्रों में किसानों को आवश्यक सेवाएँ उपलब्ध करवाने के लिए कार्यक्रम चालू किया गया था। इस योजना के अन्तर्गत राज्यों में प्रशिक्षण केन्द्र भी चालू किए गए हैं।

18. पशुपालन का विकास -

ग्रामीण भारत में कृषि एवं पशुपालन, कुक्कुट पालन, मत्स्य पालन आदि सभी घनिष्ठ रूप से संबन्धित है। इसलिए हरित क्रान्ति में उन्नत नस्ल के पशुओं का विकास, नस्ल सुधार, उनमें रोगों की रोकथाम, दुधारू पशुओं का विकास, मुर्गी पालन, भेड़ पालन, डेयरी विकास आदि पर विशेष ध्यान दिया गया।

उपर्युक्त सभी उपायों के फलस्वरूप ही हरित क्रान्ति आ सकी है। भारतीय कृषि में तकनीकी सुधार संस्थागत परिवर्तन तथा उन्नत बीजों की उपलब्धता ने देश की खाद्य समस्या को हल करने में पूरा योगदान दिया है। प्रो. दातेवाला का कहना है कि कृषि उत्पादन को बढ़ाने वाले तीन मूल तत्व हो सकते हैं :-

1. उन्नत तकनीक, 2 आर्थिक नीति, 3. भूमि सुधार।

भारतीय कृषि में उत्पादन वृद्धि करने के लिए उन्नत किस्म के बीज तो उत्तरदायी हैं ही, साथ ही भारतीय कृषि के परम्परागत रूप को तोड़ने में तकनीकी सुधारों का सर्वाधिक महत्व है।

21.3 हरित क्रान्ति के दुष्प्रभाव

हरित क्रान्ति से ग्रामीण क्षेत्रों के सभी वर्गों को लाभ मिला है तथा इससे वास्तविक मजदूरी एवं रोजगार के क्षेत्र में भी वृद्धि हुई है, परन्तु कुछ मान्यताएँ ये भी हैं कि हरित क्रान्ति से देश के कुछ गिने-चुने बड़े किसानों को ही लाभ हुआ है तथा इससे क्षेत्रीय और वर्गीय असमानताएँ बढ़ी हैं और इस क्रान्ति के अनेक सामाजिक, आर्थिक, वैयक्तिक दुष्प्रभाव भी सामने आए हैं जो इस प्रकार हैं :-

1. बेरोजगारी - उमा श्रीवास्तव, आर. डी. क्राउन, ए.ओ. हेडी ने अपने सर्वेक्षणों के आधार पर मत व्यक्त किया है कि हरित क्रान्ति से भारत जैसे कृषि प्रधान देश में यंत्रीकरण की प्रक्रिया अनुपयुक्त है। इससे ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी में वृद्धि हुई है। प्रणव वर्धन ने पंजाब और हरियाणा के 15 जिलों में कृषि श्रमिकों पर हरित क्रान्ति के प्रभावों का अध्ययन करके बताया कि कृषिगत कार्यों में विभिन्न संसाधनों उन्नत बीजों खाद आदि से प्रारम्म में तो श्रम की मांग में वृद्धि होती है लेकिन आगे चल कर यंत्रीकरण के कारण बेरोजगारी में वृद्धि होने के साथ-साथ कृषि श्रमिकों की मजदूरी में भी कमी आती है।

2. उत्पादन में उतार-चढ़ाव :- हरित क्रान्ति खाद्यान्नों के उत्पादन में स्थायित्व लाने में असफल रही है। कृषि उत्पादन में उतार-चढ़ाव हरित क्रान्ति के साधन अपनाने के बाद भी आते रहे हैं। इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए आवश्यक है कि हरित क्रान्ति के उपायों को प्रभावशाली ढंग से लागू किया जाए।

3. अधिक उत्पादन लागत :- हरित क्रान्ति के कारण कृषि उत्पादन में तो आशातीत वृद्धि हुई लेकिन उत्पादन लागत बड़ गई है। अब किसान द्वारा अधिक पैदावार के लिए कीमती

बीज, उर्वरक, कीटनाशक दवाएँ, कृषि के नवीन उपकरण,सिंचाई के आधुनिक साधनों का उपयोग करने से उत्पादन के खर्चों में वृद्धि हो गई है। दूसरी तरफ उपभोक्ता पर भी भार पडा है क्योंकि इसका मूल्य उसे ही चुकाना पडता है। इस सारी प्रक्रिया में बडे किसान तो फायदे में रहते हैं लेकिन छोटे किसानों को मूल्य वृद्धि के कारण आर्थिक संकट का सामना करना पड़ता है

4. साधनों का असमान वितरण :- हरित क्रान्ति में कृषिगत उत्पादन में वृद्धि करने के लिए विभिन्न साधनों जैसे- बीज, खाद, उपकरण आदि का वितरण किया जाता है परन्तु इनका वितरण उचित समय, मात्रा, स्थान पर समान रूप से नहीं किया जाता। यहाँ भी बडे किसान तो जैसे तैसे व्यवस्था कर लेते हैं परन्तु छोटे किसान इन साधनों को नहीं जुटा पाते। परिणामस्वरूप इस समस्या के कारण हरित क्रान्ति के अपेक्षित परिणाम प्राप्त नहीं हो रहे हैं।

5. भूमि सुधार में असफलता :- हरित क्रान्ति में धनी किसानों को राजनैतिक दृष्टि से भी शक्तिशाली बना दिया है परिणामस्वरूप सरकार भूमि सुधार कानूनों को लागू करने में असफल और असमर्थ रही है। छोटे किसानों को अपने हितों की रक्षा के लिए इन शक्तिशाली बड़े किसानों से संघर्ष करना पड़ रहा है।

6. क्षेत्रीय असमानता में वृद्धि :- हरित क्रान्ति के द्वारा विभिन्न सुविधाओं साधनों एवं उपकरणों को देश के कुछ चुने हुए क्षेत्रों जैसे- पंजाब, हरियाणा उत्तर प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश, महाराष्ट्र एवं तमिलनाडू को ही प्रदान किए गए। शेष बचे क्षेत्रों का, जिन्हें ये सुविधाएँ प्रदान नहीं की गई, विकास नहीं हो सका। परिणामस्वरूप ये क्षेत्र आज भी परम्परागत तरीके से ही कृषि कार्य कर रहे हैं व पिछड़ गए हैं।

7. वैयक्तिक असमानता :- हरित क्रान्ति का लाभ केवल धनी और बडे किसान ही उठा पाए हैं और गरीब व छोटे किसान गरीबी के कारण उन्नत बीजों रासायनिक खाद तथा आधुनिक कृषि उपकरणों का लाभ नहीं उठा सके इसलिए आज भी उनकी स्थिति दयनीय बनी हुई है। भुमिहीन श्रमिकों में बेरोजगारी बढ़ी है। पंजाब में सबसे अधिक असमानता देखी गई है जहाँ 10: बडे कृषकों ने हरित क्रान्ति से सर्वाधिक लाभ उठाया है।

8. वर्गीय असमानताओं में वृद्धि - भारत में हरित क्रान्ति को देखकर देश के सरकारी कर्मचारी, विदेशी विशेषज्ञ तथा कुछ अर्थशास्त्री काफी प्रभावित हुए। लेकिन सच्चाई यह है कि देश के केवल 20: किसान ही इससे लाभान्वित हुए हैं तथा अधिकतम छोटे किसान व भुमिहीन कृषक हरित क्रान्ति में भागीदार नहीं बन पाए।

हरित क्रान्ति की असफलताओं को निम्न बिन्दुओं द्वारा व्यक्त किया जा सकता है -

1. गेहूँ की फसल तक ही सीमित।
2. असन्तुलित कृषि विकास।
3. बड़े किसानों को लाभ।
4. 'कृषि मजदूरों की बेरोजगारी में वृद्धि।
5. जोतों का निरन्तर उपविभाजन अव्यवहारिक।
6. आय की असमानताओं में वृद्धि।

लेकिन फिर भी हरित क्रान्ति के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था में निम्नलिखित लाभ परिलक्षित हो रहे हैं

1. अधिक उत्पादन और खाद्यान्नों में आत्मनिर्भरता।
2. कृषि का व्यवसायीकरण।
3. कृषि क्षेत्र में वृद्धि।
4. भारतीय कृषक के आत्म विश्वास में वृद्धि।
5. खाद्यान्नों के आयात व्यय भार में गिरावट।
6. अतिरिक्त रोजगार के अवसरों में वृद्धि।

21.4 हरित क्रान्ति का आलोचनात्मक मूल्यांकन

भारत में हरित क्रान्ति का शुभारम्भ 1966 में खरीफ की फसल से हुआ था। इसका मूल्यांकन समय-समय पर प्रोग्राम मूल्यांकन संगठन (PEO), पंचवर्षीय योजनाएँ, वार्षिक आर्थिक समीक्षाओं, अर्थशास्त्रियों द्वारा बड़े भू-स्वामियों, लघु किसानों, काश्तकारों एवं सिंचित तथा असिंचित क्षेत्रों के संदर्भ में किया जाता रहा है जिसके निम्न परिणाम सामने आए हैं -

1. हरित क्रान्ति से क्षेत्रीय व वर्गीय समस्याएँ बढ़ी हैं तथा सीमित मात्रा के साधन उपलब्ध होने के कारण सीमित सम्पन्न किसानों और सीमित क्षेत्रों में इसका उपयोग हुआ है।
2. हरित क्रान्ति के अन्तर्गत अधिक फसल देने वाली किस्मों का प्रयोग केवल सिंचित क्षेत्रों में ही किया गया जबकि उन क्षेत्रों में किया जाना चाहिए था जहाँ पर सिंचाई व्यवस्था ठीक नहीं थी।
3. इस क्रान्ति के द्वारा देश खाद्यान्नों में विशेष तौर पर गेहूँ के उत्पादन में ही आत्मनिर्भर हो सका जबकि अन्य फसलों की पैदावार में वृद्धि के मी प्रभाव होने चाहिये थे।
4. हरित क्रान्ति के अन्तर्गत गैर-खाद्यान्नों के उत्पादन दर में गिरावट आई जैसे-1949-65 में गैर-खाद्यान्नों की उत्पादन दर 3.7: थी तो 1967-89 में यह घट कर 2.6: रह गई।
5. इस क्रान्ति की एक उपलब्धि यह रही कि उत्पादन के क्षेत्र में वर्षा की अनिश्चितता के बावजूद न्यूनतम उत्पादन 1972-73 में 97 मिलियन टन था जो 1965-66 के 72 मिलियन टन से अधिक है तथा 1987-88 में अभूतपूर्व अकाल के बाद भी लगभग 140 लाख टन का उत्पादन हुआ था।
6. अर्थशास्त्री सी. एन. हनुमंत राव का कहना है कि हरित क्रान्ति से वास्तविक मजदूरी एवं रोजगार में वृद्धि हुई है और न्यूनाधिक मात्रा में सभी वर्ग आर्थिक रूप से लाभान्वित हुए हैं, विशेष तौर पर पंजाब हरियाणा और उत्तर-प्रदेश में कोई वर्गगत तनाव दिखाई नहीं देता।
7. उनका यह भी सुझाव था कि हरित क्रान्ति की पूर्ण सफलता के लिए जल प्रबन्ध, उचित भूमि- प्रबन्ध तथा वन-प्रबन्ध पर विशेष ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है जिससे वर्षा सम्बन्धी अस्थिरता के कारण के उत्पादन सम्बन्धी उतार-चढाव से मुक्ति मिल सके।
8. हरित क्रान्ति द्वारा प्रदत्त कृषि क्षेत्र के आधुनिकीकरण विशिष्टीकरण (विशेषीकरण) एवं वाणिज्यीकरण के अवसरों के अधिकतम दोहन की भी आवश्यकता है।

निष्कर्षत यह कहा जा सकता है कि हरित क्रान्ति की पूर्ण सफलता के लिए विद्वानों द्वारा दिए गए सुझावों को भी क्रियान्वित करना अनिवार्य है।

21.5 हरित क्रान्ति के सफलता सम्बन्धी सुझाव

हरित क्रान्ति के अन्तर्गत अधिकतम सफलता प्राप्ति के लिए विभिन्न समाज वैज्ञानिकों व प्रीतवेदनों में निम्न सुझाव दिए गए हैं :-

1. हरित क्रान्ति का सन्तुलित क्षेत्रीय विस्तार।
2. सिंचाई के साधनों का पर्याप्त विकास।
3. सभी फसलों को हरित क्रान्ति के अन्तर्गत सम्मिलित करना।
4. भूमि-सुधार कार्यक्रमों को सख्ती से लागू करना।
5. पर्याप्त मात्रा में साख-सुविधाओं की उपलब्धता।
6. सहकारी कृषि को प्रोत्साहित करना।
7. कृषि उपज के विपणन की उचित व्यवस्था।
8. ग्रामीण क्षेत्रों में अतिरिक्त रोजगार के अवसरों का सृजन।
9. सहकारी कृषि को प्रोत्साहन।
10. उर्वरक, खाद एवं कीटनाशक दवाओं का उचित वितरण।
11. कृषकों को उचित प्रशिक्षण।
12. प्रशासनिक व्यवस्था में सुधार।

21.6 हरित क्रान्ति एवं सामाजिक परिवर्तन

पिछले कुछ वर्षो में सामाजिक नियोजन तथा परिवर्तन की प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप ग्रामीण सामाजिक संरचना में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। ग्रामीण भारत में हरित क्रान्ति से होने वाले सामाजिक परिवर्तनों के प्रमुख क्षेत्र निम्नांकित हैं जिनसे हमें भारतीय गाँवों में परिवर्तनशील परिदृश्य का पता चलता है :-

जो लोग गाँवों में सृजनात्मक सामाजिक परिवर्तन की अपेक्षा करते हैं उन्हें यह याद रखना चाहिए कि भारतवर्ष प्रबल रूप से कृषि प्रधान देश है। यहाँ की तीन चौथाई जनता कृषि कार्य में लगी हुई है और यहाँ की कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था जो इस विशाल जन समूह के जीवन का भौतिक आधार है, उनके सामाजिक संगठन को निश्चित करती है तथा उनके मनोवैज्ञानिक व भावनात्मक जीवन का निर्माण करती है। इसके अतिरिक्त, चूंकि ग्रामीण समाज भारतीय समाज का एक बहुत बडा भाग है, इसलिए यह स्मरणीय है कि ग्रामीण समाज के पुनर्गठन के विशेष कार्यक्रम को उच्च आर्थिक तथा सांस्कृतिक आधार पर परिवर्तन की किसी भी योजना में अवश्य ही निर्णयात्मक भूमिका अदा करनी चाहिए। ग्रामीण क्षेत्रों में भूमि उत्पादन का मौलिक साधन है। भूमि प्रकृति का एक भाग है, यद्यपि मानव श्रम के द्वारा ही वह कृषि करने योग्य बनाई जाती है। भूमि से ही ग्रामीण जन अपनी प्रविधि अथवा तकनीक तथा श्रमशक्ति द्वारा विभिन्न प्रकार के कृषि पदार्थ उत्पन्न करते हैं। कृषि सामाजिक संस्थाओं तथा ग्रामीण जनता की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति तथा विचारधारा के निर्माण में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।

इसके अतिरिक्त उत्पादन का स्तर तथा वह ढंग, जिससे उत्पादिक पदार्थो का वितरण समाज की विभिन्न श्रेणियों में होता है, सम्पूर्ण समाज की भौतिक समृद्धि के स्तर को तथा विभिन्न प्रकार के सामाजिक, आर्थिक समूहों को निर्धारित करता है। इसके साथ ही ये चीजें बहुत सीमा तक समाज की सांस्कृतिक संरचना और जनता के सांस्कृतिक जीवन को ढालती हैं। ये अधिकतर उनके रीति-रिवाजों विचारों तथा सामाजिक लोकाचार की रचना भी करते हैं। कृषि की तकनीक से उत्पादन के स्तर को निर्धारित करती है और उसके परिणामस्वरूप कृषि प्रधान समुदाय के धन और जीवनस्तर पर भी प्रभाव पड़ता पडता है। जिस अनुपात में कृषि की तकनीक में उन्नति हुई है उसी अनुपात में कृषक के श्रम की उत्पादकता तथा कृषि पदार्थो के उत्पादन में भी वृद्धि हुई है। इस तरह यह कहा जा सकता है कि ग्रामीण समाज की भौतिक समृद्धि मुख्य रूप से कृषि की तकनीक पर निर्भर है।

21.7 ग्रामीण समाज में सामाजिक परिवर्तन में हरित क्रान्ति का योगदान

ग्रामीण भारत का प्रमुख व्यवसाय कृषि रहा है। यह कृषि भी जीवन-यापन के रूप में की जाती रही है। ग्रामीण क्षेत्रों में सबसे महत्वपूर्ण घटना हरित क्रान्ति की है जिसके कारण नवीन ज्ञान व तकनीक के द्वारा खेती एकं व्यवसाय के रूप में विकसित होने लगी है। उन्नत बीज, उन्नत खाद और सिंचाई के उपलब्ध नए साधनों ने भारतीय ग्रामों में हरित क्रान्ति का श्रीगणेश सन् 1965 के आस-पास हुआ। पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश तमिनलाडू इस दिशा में अग्रणी हैं। इसके कुछ प्रभाव निम्नलिखित है :-

1. कृषि के क्षेत्र में यंत्रीकरण :- वैज्ञानिक दृष्टि से आधुनिक कृषि यंत्रों का प्रयोग किया जाने लगा है और ज्यादातर नकद फसल बोने का प्रयास किया जाता है। आजादी के समय भारत के किसान हल, बैल और कुएँ के अलावा अन्य बातों से सामान्यतया अनभिज्ञ थे। आज किसान और तकनीकी के विकास के कारण किसान निम्न कृषि यंत्रों का प्रयोग करते है जैसे- (1) ट्रेक्टर, (2) कम्बाईण्ड ड्रिल, (3) हार्वेस्टर, (4) प्लानटर, (5) थ्रेशर, (6) क्रेशर एवं (7) पम्पिंग सैट व ट्यूबवैल।
2. किसानों को आवश्यक पूँजी विनियोग के सब साधन, उन्नत किस्म के बीच यंत्र, सिंचाई एवं ऋण की सुविधा सब एक साथ प्राप्त होने लगी। इस प्रकार की कृषि नीति से असाधारण सफलता मिली।
3. नए-नए किस्मों के बीजों के निरन्तर आविष्कार से उत्पादन में आश्चर्यजनक सफलता मिली। इससे किसानों की स्थिति में काफी सुधार हुआ । एम. एस. ए. राव ने बताया है कि, "यादवपुर गाँव में परम्परागत रूप से धान की खेती की जगह साग-सब्जी की खेती की जाने लगी है क्योंकि उसमें शीघ्रतम कई फसलें ले ली जाती है और दिल्ली की बढ़ती हुई माँग वाले मार्केट में उसके ऊँचे दाम भी मिल जाते हैं।"
4. इसी तरह गाँव में दूध अब मटठे या घी के लिए नहीं बल्कि समीप के नगरों में सप्लाई के लिए प्रयोग किया जाता है।

5. किसानों में जागरूकता :- इस हरित क्रान्ति से किसानों की हालत में सुधार हुआ है। कृषि सुधार की आवश्यक एक शर्त आत्मविश्वास एवं मनोवैज्ञानिक भावना भी है। हरित क्रान्ति के क्षेत्रों में यह स्पष्ट देखी जा सकती है। वहाँ पर किसान ग्राम-सेवक या विकास अधिकारी या उनके इश्तहारों का इंतजार नहीं करते। वे विकास कार्यकर्त्ताओं के काम पर कड़ी नजर रखते हैं और थोडी सी भी कमी रहने पर राजनीतिक दलों या संस्थाओं के माध्यम से अच्छा-खासा हल्ला मचा देते हैं। इसका उदाहरण वर्ष 2001 में राजस्थान में बाजरे की सरकारी खरीद के समय देखने को मिला। हरित क्रान्ति के कारण किसानों में अभूतपूर्व जागश्ति आई है। उनकी आकांक्षाएँ जागी है और वे समाज में प्रतिष्ठा' शक्ति व समृद्धि के पदों में हिस्सा पाने के लिए आवाज उठाने लगे हैं। परिणामत: परम्परागत सामाजिक संरचना में तनाव, टूटन और दरार की स्थिति भी पैदा होने लगी है।

6. नए वर्गों का उदय :- परम्परागत दृष्टि से भारतीय गांव में भू-स्वामियो, व्यापारियों कृषकों एवं भुमिहीन कृषि मजदूरों के वर्ग थे। परन्तु उनके बीच सम्बन्ध मालिक और मजदूर के थे। हरित क्रान्ति के अन्तर्गत भूमि सुधार कानूनों से जनहित समूहों का उदय हो रहा है जो वर्ग चेतना के आधार पर क्रियाशील है, जैसे- गाँव में युवा सभाएँ, महिला सभाएँ, कृषक संघ, मजदूर संघ आदि। इस प्रकार रामकृष्ण मुखर्जी ने गाँव में तीन वर्गों की उपस्थिति बताई है :-

1 वे भूस्वामी, जो अपनी देख-रेख में खेती कराते हैं, पर स्वयं खेती नहीं करते।

2 वे आत्मनिर्भर किसान, जो स्वयं खेती करते हैं।

3 साझेदारी या वेतन के आधार पर खेती करने वाले कृषि मजदूर।

इस श्रेणी में अन्य अकुशल सेवा प्रदान करने वालों को भी सम्मिलित किया जा सकता है। यह सभी वर्ग एक नव विकसित वर्ग चेतना के आधार पर आपस में बांधने लगे हैं और परंपरागत सामाजिक संरचना बादल रही है ।

7. आदर्श एवं मूल्य - ग्रामीण संस्कशती भी परिवर्तन के दौर से गुजर रही है। परम्परागत विश्व दृष्टि, जो धर्म पर आधारित थी, अब कुछ लौकिक तल ग्रहण करती जा रही है। भारतीय ग्रामों में जहाँ नियोजन के परिणामस्वरूप कुछ समृद्धि आई है, हरित क्रान्ति घटित हुई है वहाँ भौतिक सुख-सुविधाओं का महत्व बढ़ गया है। पैसे की ताकत दिखावे के उपयोग की ओर ले जा रही है। मद्यपान समृद्ध घरों में शान-शौकत का विषय बन रहा है। गाँव का आम आदमी पहले जैसा भोला गँवार नहीं है। वह अपने हित साधन में चतुर और गुटबाजी में कुशल व्यक्ति बनता जा रहा है।

8. कृषि क्षेत्र में तकनीकी और आर्थिक क्रान्ति - कृषि में नव प्रवर्तनों (Innovation) और सुधारों की गति बहुत तेज हो गई है। जो पंजाब का किसान पहले 16 क्विंटल अनाज पैदा करके 6 क्विंटल अपने घर के लिए रखकर 10 क्विंटल अनाज या गेहूँ बेचता था वह किसान अब 80 क्विंटल अनाज पैदा करके 6 क्विंटल अपने लिए रखकर 74 क्विंटल बाजार में बेच रहा है अर्थात् वह अब कई गुना अधिक उपज बेचने लगा है। इसके फलस्वरूप उर्वरकों कीटनाशकों बीजों व यातायात के साधनों की माँग तो बड़ी ही है, उसके रहन-सहन के स्तर के ऊँचा हो जाने से खान-पान, रहन-सहन तथा शिक्षा एवं स्वास्थ्य सेवाओं और मनोरंजन के क्षेत्र

में भी व्यापक तरक्की हुई है। आज हर किसान के घर में ट्रैक्टर जीप, रंगीन टेलीविजन व अन्य साधन सामग्री का होना साधारण बात

9. कुछ लोगों का कहना है कि हरित क्रान्ति का मुख्य लाभ बड़े-बडे किसानों को ही मिला है तथा छोटे किसानों की हालत बदतर होती जा रही है और ग्रामीण क्षेत्रों में तनाव चढ़ रहे हैं। बडे किसान दूसरों से जमीन छुड़वा रहे है या उन्होंने अपनी भूमि के लगान में असाधारण वृद्धि कर दी है। इससे हालात विस्फोटक हो गए हैं जो बिना शीघ्रता से भूमि सुधारों के दूर नहीं हो सकती। इसके विपरीत दूसरा मत यह है कि यह मात्र एक राजनीतिक स्टंट है। नई कृषि नीति को असफल बताना सर्वथा गलत है। यह कहना भी गलत है कि इससे मजदूर वर्ग को लाभ नहीं हुआ है। अभी तक हरित क्रान्ति में अधिकाधिक श्रम का ही सहारा लिया गया है। उन्नत कृषि क्षेत्रों में मजदूरों को जो मजदूरी मिल रही है उसका संगठित उद्योगों से मुकाबला किया जा सकता है। इसका परिणाम यह हो रहा है कि ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा स्वास्थ्य सेवाओं सडकों और अन्य बुनियादी ढाँचे की माँग बढ़ रही है। जिससे अनेक और पर्याप्त नए काम-धंधे पैदा हो रहे है तथा जिसके कारण कृषि क्षेत्र के अलावा अन्य क्षेत्रों में लोग रोजी-रोटी पा रहे हैं।

10. भूमि सुधार संबंधी उपायों के बारे में विद्वानों का मानना यह है कि भूमि की समस्याएँ भारत में आज भी वैसी की वैसी बनी हुई हैं।

ऐसा कोई उपाय नहीं है जिसके द्वारा काफी बडी मात्रा में रोजगार दिया जा सके और कक्षकों को जमीन देकर उनके जीवन की दशाओं को सुधारा जा सके। जैसा कि D.G. Mandelbaum ने ठीक ही संकेत किया है, 'निम्न कोटि की जातियों को जो मुख्यत: भुमिहीन मजदूर हैं, भूसंचलन योजनाओं तथा भूमि के पुनर्विभाजन से कोई लाभ नहीं पहुँचता है। उनके पास काम आरम्म करने के लिए कोई साधन नहीं होते हैं। इस प्रकार आर्थिक तथा जनतांत्रिक दृष्टि से उनको कोई लाभ नहीं पहुँचता।"

क्योंकि भूसिंचन सुविधाएँ, बीज, खाद और उन्नत औजार मुक्त नहीं दिए जाते अपितु उनके बदले में कुछ लिया जाता है। इन सुविधाओं का फायदा मुख्यत: उन लोगों को मिलता है जिनके पास इनको खरीदने के लिए धन होता है। फलस्वरूप ये लाभ विशेषकर धनवान किसानों को ही प्राप्त होते हैं।

इस सबके बावजूद हरित क्रान्ति ने सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में परिवर्तन कर अपरिमित सम्भावनाएँ पैदा कर दी हैं।

21.8 सारांश

भारत एक कृषि प्रधान देश है और कृषि यहाँ के ग्रामीण जीवन का आधार है। स्वतन्त्रता प्रान्ति के बाद देश के आर्थिक विकास के लिए वृषि के विकास को आवश्यक माना गया उसके लिए ग्रामीण अर्थव्यवस्था में अनेक प्रकार के परिवर्तन भी किए गए।

राष्ट्र को खाद्यान्न में आत्मनिर्भर बनाने के लिए 1966-67 में कृषिगत क्षेत्र में तकनीकी नवाचार प्रारंभ किया गया जिसे कृषि क्षेत्र में विकास को नई व्यूह-रचना या हरित क्रान्ति कहा गया। हरित क्रान्ति शब्द खाद्यान्नों में होने वाली वृद्धि के लिए प्रयोग किया जाता है। इसका शुभारम्भ 1966 में खरीफ की फसल से किया गया था। इसका उद्देश्य अधिक पैदावार

देने वाले बीजों सिंचाई, कीटनाशक दवाइयों रसायनिक उर्वरकों आदि का प्रयोग कृषि क्षेत्र में करके खाद्य उत्पादन में लगातार वृद्धि करना रहा है लेकिन यह तभी संभव हो सकता है, जबकि देश में पर्याप्त मात्रा में अच्छी किस्म के बीज, खाद. सिंचाई के साधन, कृषि की नवीनतम तकनीक का ज्ञान हो। इसी को ध्यान में रखकर ग्रामीण अर्थव्यवस्था में अनेक प्रकार के संस्थागत परिवर्तन किए गए।

21.9 सन्दर्भ ग्रंथ

1. भारतीय ग्रामीण समाजशास्त्र : ए. आर. देसाई
2. ग्रामीण समाजशास्त्र : वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा
3. ग्रामीण समाजशास्त्र : लवानिया एवं जैन
4. ग्रामीण समाजशास्त्र : संजीव महाजन
5. Rural Sociology : Sachdeva and Gupta

21.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. भारत में हरित क्रान्ति पर एक विश्लेषणात्मक लेख लिखिए।
2. हरित क्रान्ति की अवधारणा से आप क्या समझते हे? इसके प्रभावों की विवेचना कीजिए।
3. हरित क्रान्ति के प्रमुख तत्वों की आख्या कीजिए।
4. हरित क्रान्ति के दुष्प्रभावों की विवेचना कीजिए ।

ISBN : 13/978-81-8496-357-1